ॐ

सत्संग-योग

(चारो भाग)

(संशोधित एवं परिवर्द्धित)

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर-३
बिहार (भारत)

प्रकाशक

अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग-प्रकाशन समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट
भागलपुर-३, बिहार (भारत)

[सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन]

ISBN 978-81-926828-1-5

भारतीय कॉपीराईट एक्ट के तहत प्रस्तुत पुस्तक में निहित समस्त प्रकाशित सामग्री के कॉपीराईट **अखिल भरतीय संतमत-सत्संग प्रकाशन** के पास सुरक्षित है, अतः कोई व्यक्ति अथवा कम्पनी इस पुस्तक का नाम, कवर, डिजाईन, प्रकाशित कोई भी सामग्री इत्यादि को किसी भी प्रकार से तोड़-मरोड़कर आंशिक या पूर्णरूप से किसी पुस्तक अथवा किसी सामयिक (न्यूजपेपर, मैगजिन इत्यादि) में प्रकाशक से लिखित अनुमति लिये बिना प्रकाशित करने की चेष्टा न करें, अन्यथा समस्त कानूनी हर्जे-खर्चे के स्वयं जिम्मेवार होंगे। किसी भी प्रकार के मुकदमे के लिए न्याय क्षेत्र भागलपुर रहेगा।

प्रथम संस्करण : सन् १९३९ ई०
चतुर्थ संस्करण : सन् १९६३ ई०
पंचम संस्करण : सन् १९६७ ई०
षष्ठ संस्करण : ३,००० प्रतियाँ, संवत् २०२९ वि० सन् १९७२ ई०
षोडश संस्करण : ५,००० प्रतियाँ, संवत् २०६२ वि० सन् २००५ ई०
सप्तदश संस्करण : ५,००० प्रतियाँ, संवत् २०६७ वि० सन् २०१० ई०
अष्टादश संस्करण : ५,१०० प्रतियाँ, संवत् २०६९ वि० सन् २०१३ ई०
उनविंशति संस्करण : ५,१०० प्रतियाँ, संवत् २०७१ वि० सन् २०१४ ई०

सहयोग राशि : ₹ ६० (साठ रुपये)

मुद्रक :
शान्ति-सन्देश प्रेस
महर्षि मेँहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर-३ (बिहार)

विषय-सूची

सत्संग-योग, प्रथम भाग

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१	वेद-मन्त्र ('वैदिक विहंगम-योग' से संगृहीत)-------	१
२	केनोपनिषद् के मन्त्र ----------	५
३	कठोपनिषद् के मन्त्र ----------	५
४	मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र ----------	८
५	प्रश्नोपनिषद् के मन्त्र ----------	१२
६	ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र ----------	१७
७	छान्दोग्योपनिषद् के मन्त्र ----------	२२
८	मुक्तिकोपनिषद् के मन्त्र ----------	२३
९	ब्रह्मोपनिषद् के मन्त्र ----------	३१
१०	नादविन्दूपनिषद् के मन्त्र ----------	३१
११	ध्यानविन्दूपनिषद् के मन्त्र ----------	३६
१२	शाण्डिल्योपनिषद् के मन्त्र----------	३७
१३	वराहोपनिषद् के मन्त्र ----------	३९
१४	मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के मन्त्र ----------	४०
१५	ब्रह्मविन्दूपनिषद् के मन्त्र ----------	४३
१६	श्वेताश्वतरोपनिषद् के मन्त्र ----------	४३
१७	मैत्रायण्युपनिषद् के मन्त्र ----------	४४
१८	मैत्रेय्युपनिषद् के मन्त्र ----------	४४
१९	क्षुरिकोपनिषद् के मन्त्र ----------४६	
२०	तेजोविन्दूपनिषद् के मन्त्र ----------	४७
२१	योगतत्त्वोपनिषद् के मन्त्र ----------	४७
२२	त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् के मन्त्र ----------४८	

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
२३	महोपनिषद् के मन्त्र ----------	४८
२४	शारीरकोपनिषद् के मन्त्र ----------	४९
२५	योगशिखोपनिषद् के मन्त्र ----------	५०
२६	श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् के मन्त्र ----------	५७
२७	जाबालोपनिषद् के मन्त्र ----------	५८
२८	गर्भोपनिषद् के मन्त्र ----------	५९
२९	लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महाशय कृत श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य अथवा कर्मयोग से उद्धृत-श्रीमद्भगवद्गीता के चुने हुए श्लोकों के केवल अर्थ----------	५९
३०	श्रीमद्भागवत ----------	७०
३१	अध्यात्म-रामायण (पं० रामेश्वर भट्ट-कृत टीका)--	७३
३२	शिव-संहिता ----------	७५
३३	ज्ञान-संकलिनी तन्त्र ----------	७६
३४	बृहत्तन्त्रसार ----------	७९
३५	बह्माण्डपुराणोत्तर गीता ----------	८०
३६	उत्तर गीता ----------	८१
३७	दुर्गा सप्तशती ----------	८३
३८	महाभारत ----------	८४
३९	संक्षिप्त पद्मपुराणांक (कल्याण)----------	९७
४०	स्कन्दपुराण ----------	९८
४१	मनुस्मृति ----------	९९

सत्संग-योग, द्वितीय भाग

१	भगवान् महावीर की वाणी ----------	१०२
२	भगवान् बुद्ध के सदुपदेश ----------	१०३
३	भगवान् शंकराचार्यजी महाराज की वाणी ------	१०४

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
४	महायोगी गोरखनाथजी महाराज के पद्य --------	१०४
५	स्वात्मारामजी महाराज के वचन ----------	१०५
६	प्रभु ईसा मसीह के सदुपदेश ----------	१०६
७	संत कबीर साहब की साखी और शब्द आदि ---	१०६
८	संत रैदासजी की वाणी ----------	१२८
९	संत कमाल साहब की वाणी ----------	१२९
१०	धर्मदासजी का शब्द ----------	१३०
११	गुरु नानक साहब की वाणी ----------	१३१
१२	ॐ मात्रा बाबा श्रीचन्दजी की ----------	१५७
१३	सन्त दादू दयाल साहब की वाणी ----------	१५८
१४	सन्त चरणदासजी को वाणी ----------	१६४
१५	सहजोबाई की वाणी ----------	१६८
१६	सन्त दरिया साहब (बिहारी) की वाणी ------	१७१
१७	सन्त दरिया साहब (मारवाड़ी) की वाणी -----	१७८
१८	सन्त केशव दासजी की अमीघूँट ----------	१७९
१९	बाबा धरनीदासजी की वाणी ----------	१८१
२०	सन्त जगजीवन साहब की वाणी ----------	१८३
२१	सन्त पलटू साहब की वाणी ----------	१८४
२२	सन्त गरीबदासजी की वाणी ----------	१९२
२३	सन्त यारी साहिब की वाणी ----------	१९५
२४	सन्त दूलनदासजी की वाणी ----------	१९५
२५	सन्त बुल्ला साहिब की वाणी ----------	१९६
२६	सन्त गुलाल साहिब की वाणी ----------	१९७
२७	सन्त सुन्दरदासजी की वाणी ----------	१९७
२८	परमहंस लक्ष्मीपतिजी महाराज के दोहे --------	२०२
२९	शिवनारायण स्वामीजी के वचन ----------	२०२
३०	गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की वाणी ------	२०७
३१	भक्तप्रवर सूरदासजी महाराज के वचन --------	२१२

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
३२	श्रीदेवतीर्थ स्वामी (श्रीकाष्ठ-जिह्वा स्वामी) जी के वचन-	२१६
३३	श्रीइन्द्रनारायण दासजी का लिखाया रामरक्षास्तोत्रम्--	२१७
३४	श्रीसुतीक्ष्ण दास रामानन्दी साधु से लिखाया शब्द -	२१९
३५	कविरंजन रामप्रसाद सेनजी के बंगला पद्य ----	२२१
३६	सन्त तुलसी साहब (हाथरसवाले) की वाणी---	२२२
३७	सन्त तुलसी साहब के शिष्य सूर स्वामीजी के शब्द --	२३३
३८	राधास्वामी साहब की वाणी ----------	२३४
३९	रायबहादुर शालिग्राम साहब के वचन --------	२३६
४०	लोकमान्य बालगंगाधर तिलक कृत श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य के कुछ वचन---------	२३६
४१	परम भक्तिन मीराबाई की वाणी----------	२४९
४२	साधु मानपुरीजी का शब्द ----------	२५१
४३	राजयोगी श्रीटीकारामनाथजी महाराज का वचन --	२५१
४४	जैनयोगी आनन्दघनजी का शब्द ----------	२५१
४५	बाबा कीनारामजी का भजन ----------	२५२
४६	स्वामी ब्रह्मानन्दजी के वचन ----------	२५२
४७	सद्गुरु बाबा देवी साहब के वचन ----------	२५३
४८	श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवजी के वचन ----------	२६२
४९	स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के वचन -------	२६५
५०	बाबा देवी साहब का पत्रांश (श्रीधीरजलालजी के नाम से) -	२७०
५१	श्रीधीरजलाल साहब के पद्य ----------	२७०
५२	परमहंस ध्यानानन्द साहब के शब्द ----------	२७१
५३	श्रीतेतरदासजी सत्संगी के पद्य ----------	२७३

सत्संग-योग, तृतीय भाग

१	उड़िया स्वामीजी महाराज के विचार --------	२७४
२	अष्टांग योग (लेखक–श्रीरामचन्द्र रघुवंश 'अखण्डानन्द')	-२७४
३	योग का विषय-परिचय (ले०-महामहोपाध्याय	

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
	श्रीगोपीनाथजी-कविराज, एम० ए०) ---------	२७४
४	उपनिषदों में योग ले०–(स्वामी श्रीरघुवराचार्य जी महाराज) ----------	२७५
५	श्रीयोगवाशिष्ठ में योग (ले०–प्रो० डॉ० श्री भीखनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०) --	२७७
६	आत्मज्ञान प्राप्त करने का सरल उपाय–योग (ले०-ब्रह्मचारी श्रीगोपाल चैतन्यदेवजी महाराज)-	२७८
७	नादानुसन्धान (ले०-स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज) ----------	२८०
८	जपयोग (ले०–योगी श्रीबाल स्वामीजी महाराज) --	२८१
९	योग क्या है (ले०–योगी श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल) -	२८३
१०	प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव (ले०-स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी) ----------	२८५
११	हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग (ले०- एक दीन) ----------	२८५
१२	वेदान्त का महान् वैलक्षण– (ले०–स्वामी अभेदानन्दजी, पी-एच० डी०) ----	२८६
१३	वेदान्त का अर्थ और उसकी लोकमान्यता (ले०–श्री पी० के० आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, आई० ई० एस०) --	२८७
१४	शब्दाद्वैतवाद (ले०–श्री बी० कुटुम्ब शास्त्री) ---	२८८
१५	वेदान्त-शिक्षा की कुछ बातें (ले०–डॉ० एम० एच० सैयद, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०) ---	२८९
१६	अवतार-तत्त्व (लेखक का नाम नहीं दिया गया है)--	२८९
१७	नाद-ब्रह्म–मोहन की मुरली (लेखक का नाम नहीं दिया गया है) ----------	२८९
१८	वेदान्त-दर्पण (ले०–बालकरामजी विनायक) ----	२९०
१९	कबीर साहब और वेदान्त (ले०–महन्त श्रीरामस्वरूप दासजी) ----------	२९३

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
२०	वेद में संत (ले०–वेददर्शनाचार्य श्री गंगेश्वरानंदजी महाराज) ----------	२९४
२१	संत चर्चा (ले०–पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्त-विद्यार्णव) --	२९५
२२	संत-तत्त्व (ले०–स्वामी श्रीशुद्धानंदजी भारती)----	२९५
२३	ईसाई संत (ले०–श्रीसम्पूर्णानदजी) ---------	२९६
२४	कल्याण, संतांक, पृष्ठ ४५४ से उद्धृत --------	२९६
२५	श्रीरामचरितमानस का दार्शनिक सिद्धांत (ले०–स्वामी एकरसानंदजी) ----------	२९७
२६	स्वामी श्रीभूमानंदजी के वचन ----------	२९७
२७	देव तथा ईश्वर (ले०–पं० कृष्णदत्तजी भारद्वाज शास्त्री, बी० ए०) ----------	२९८
२८	महात्मा मोहनदास करमचंद गाँधीजी के विचार ---	२९९
२९	स्वामी श्रीदयानंद सरस्वतीजी की वाणी ------	३०२

सत्संग-योग, चतुर्थ भाग

१	सन्तमत किसे कहते हैं? सन्तमत की मूल भित्ति उपनिषद् के वाक्य ही हैं..... ----------	३०३
२	सुरत-शब्द-योग ही सन्तमत की विशेषता है। नाम-भजन तथा ध्वन्यात्मक सारशब्द का भजन एक ही है.... ----------	३०४
३	सारे सान्तों के पार में एक अनन्त अवश्य ही है। यह एक और अनादि है, यह जड़ातीत, चैतन्यातीत अचिन्त्यस्वरूप है, मायिक विस्तृतत्व-विहीन है, यही सन्तमत का परम अध्यात्म-पद है। अपरा और परा प्रकृतियाँ..... ----------	३०४-३०५
४	अंशी और अंश, आत्म-अनात्म तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार..... ----------	३०५-३०६

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
५	कारण-महाकारण के विचार, परम प्रभु की प्राप्ति के बिना कल्याण नहीं... ----------	३०६
६	क्षर-अक्षर का विचार, परम प्रभु में मौज हुए बिना सृष्टि नहीं होती। मौज कम्पमय है- आदिशब्द सृष्टि का साराधार है.... ----------	३०७
७	अनादिनाद का ही नाम रामनाम, सत्यनाम, ॐकार है, शब्द का गुण, सृष्टि के दो बड़े मंडल, अपरा प्रकृति के चार मण्डल, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के मण्डलों का सम्बन्ध, भिन्न-भिन्न मण्डलों के केन्द्र, अनन्त, अनाम, पिण्ड-ब्रह्माण्ड का सांकेतिक चित्र... ---	३०७-३०९
८	केन्द्रीय शब्दों का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर है, सूक्ष्म शब्द स्थूल में व्यापक तथा विशेष शक्तिशाली होता है, केन्द्रीय शब्दों को पकड़कर सर्वेश्वर तक पहुँच सकते हैं...---	३०९-३१०
९	प्रकृति अनाद्या कैसे है ? कैवल्य शरीर चेतन है..-	३१०
१०	अनन्त से बढ़कर कोई सूक्ष्म और विस्तृत नहीं हो सकता, अपरिमित परिमित पर शासन करता है... ----------	३१०-३११
११	अन्तर में चलना परम प्रभु सर्वेश्वर की भक्ति है—यही आन्तरिक सत्संग है, मन की एकाग्रता एकविन्दुता है..... ----------	३११-३१२
१२	दूध में घी की तरह मन में सुरत है, सृष्टि के जिस मण्डल में जो रहता है, वह वहीं का अवलम्ब लेता है... ----------	३१२-३१३
१३	दृष्टि-योग क्या है? दिव्य दृष्टि कैसे खुलती है...-	३१४

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१४	शब्द-साधन का मन पर प्रभाव, पंच महापाप, निम्न देशों के शब्द पकड़कर ऊँचे लोकों के शब्द पकड़ सकते हैं .... ----------	३१४
१५	सगुण-निर्गुण-उपासना के भेद, उपनिषदों के शब्दातीत पद और श्रीमद्भगवद्गीता के क्षेत्रज्ञ तत्त्व के परे कोई अन्य तत्त्व नहीं है...-----	३१५-३१६
१६	सारशब्द के अतिरिक्त मायिक शब्दों का भी ध्यान आवश्यक है। दृष्टियोग से शब्दयोग आसान है ---	३१६
१७	जड़ात्मक प्रकृति मण्डल में सारशब्द की प्राप्ति युक्ति-युक्त नहीं, शब्द-ध्यान भी ज्योति-मण्डल में पहुँचा देता है... ----------	३१६-३१७
१८	सारशब्द अलौकिक है । इसकी नकल लौकिक शब्दों में नहीं हो सकती-किसी वर्णात्मक शब्द को सारशब्द की नकल कहना अयुक्त है ---------	३१७-३१८
१९	जो सब मायिक शब्द नीचे के दर्जे में भी सुने जा सकते हैं, वे ही ऊपर दर्जे में भी सुनाई पड़ सकते हैं; इनका अभ्यास भी उचित ही है... --------	३१८-३१९
२०	सूक्ष्म मण्डल के शब्द स्थूल मण्डल के शब्द से विशेष सुरीले और मधुर होते हैं, कैवल्य पद में शब्द की विविधता नहीं है, गुरु-भक्ति बिना परम कल्याण नहीं... -	३२१
२१	सद्गुरु की पहचान, उनकी श्रेष्ठता, गुरु के आचरण का शिष्य के ऊपर प्रभाव ----------	३२१-३२२
२२	गुरु की आवश्यकता, गुरु का सहारा ...---	३२२-३२३
२३	गुरु की कृपा का वर्णन, गुरु-भक्ति .... --	३२३-३२५
२४	सन्तमत की उपयोगिता, भिन्न-भिन्न इष्टों की आत्मा अभिन्न है... ----------	३२५-३२६
२५	नादानुसन्धान की विधि, यम-नियम के भेद -----	३२६
२६	तीन बन्द, ध्यानाभ्यास से प्राण-स्पन्दन का बंद होना...-	३२७

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
२७	मन पर दृष्टि का प्रभाव श्वास के प्रभाव से अधिक है, साधक का स्वावलम्बी होना आवश्यक है ----------	३२७-३२९
२८	मांस-मछली और मादक द्रव्यों का परित्याग आवश्यक है ----------	३२९
२९	शुद्ध आत्म-स्वरूप अनन्त है, इसका कहीं से आना-जाना नहीं माना जा सकता -----	३२९-३३०
३०	जीवता का उदय और अन्त, मोक्ष-साधन में लगे हुए अभ्यासी की गति, परम प्रभु की सृष्टि-मौज का केन्द्र में लौटना असम्भव-	३३०-३३१
३१	ईश्वर की भक्ति का साधन और मुक्ति का साधन एक ही है ----------	३३१
३२	परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने का साधन ----------	३३१-३३४
३३	ॐकार-वर्णन ----------	३३५
३४	सगुण-निर्गुण और सगुण-अगुण पर अनाम की उपासनाओं का विवेचन ----------	३३५-३३९

पद्य

१	सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर	३३९
२	सर्वेश्वर सत्य शान्ति स्वरूपं.....	३४०
३	नमामी अमित ज्ञान, रूपं कृपालं.....	३४१
४	सद्गुरु नमो सत्य ज्ञानं स्वरूपं	३४२
५	सत्य ज्ञान दायक गुरु पूरा.....	३४३
६	सम दम और नियम यम दस दस	३४३
७	मंगल मूरति सतगुरू, मिलवैं सर्वाधार.....	३४४
८	जय जय परम प्रचण्ड तेज.....	३४५
९	सतगुरु सत परमारथ रूपा.....	३४५
१०	जय जयति सद्गुरु जयति जय जय.....	३४६
११	नहीं थल नहीं जल नहीं वायु अग्नी.....	३४६
१२	है जिसका नहीं रंग नहिं रूप रेखा.....	३४९
१३.	सृष्टि के पाँच केन्द्र सज्जन.....	३५०

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१४	पाँच नौबत बिरतन्त कहौं सुनि लीजिये.....	३५१
१५	खोजो पंथी पंथ तेरे घट भीतरे.....	३५१
१६	सतगुरु सुख के सागर शुभ गुण आगर	३५२
१७	प्रभु अकथ अनाम अनामय स्वामी.....	३५२
१८	नित प्रति सत्संग कर ले प्यारा.....	३५२
१९	यहि मानुष देह समैया में करु.....	३५३
२०	अद्भुत अन्तर की डगरिया जा पर.....	३५३
२१	प्रभु मिलने जो पथ धरि जाते, घट में	३५३
२२	सुष्मनियाँ में नजरिया थिर होइ.....	३५३
२३	जीवो ! परम पिता निज चीन्हो.....	३५४
२४	सूरति दरस करन को जाती	३५४
२५	भाई योग-हृदय वृत-केन्द्र विन्दु.....	३५४
२६	मन तुम बसो तीसरो नैना महँ.....	३५४
२७	जहाँ सूक्ष्म नाद ध्वनि आज्ञा.....	३५५
२८	सुनिये सकल जगत के वासी.....	३५५
२९	सन्तमते की बात कहुँ साधक हित लागी.....	३५७
३०	मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त.....	३५८
३१	सत्य सोहाता वचन कहिये, चोरी तज दीजै.....	३५८
३२	योग हृदय वृत केन्द्र-विन्दु सुख-सिन्धु.....	३६०
३३	योग-हृदय में वास ना तन-वास.....	३६१
३४	एक विन्दुता दुर्बीन हो दुर्बीन क्या करे.....	३६१
३५	योग-हृदय केन्द्र बिन्दु में युग दृष्टियों को.....	३६१
३६	गुरु हरि चरण में प्रीति हो युग.....	३६१

आरती

३७	अज अद्वैत पूरण ब्रह्म पर की.....	३६२
३८	आरति परम पुरुष की कीजै.....	३६३
३९	आरति अगम अपार पुरुष की	३६३

❐❐❐

सांकेतिक चिह्नों के विवरण

गीता प्रे० गो०, भा० अ०–गीता प्रेस गोरखपुर, भारती अनुवाद ।

शां० भा०–शांकर भाष्य । गो०–गोस्वामी ।

भूमिका

सत्पुरुषों-सज्जन पुरुषों-साधु-सन्तों के संग का नाम 'सत्संग' है। इनके संग में इनकी वाणियों की ही मुख्यता होती है। 'सत्संग-योग' के तीन भागों में इन्हीं वाणियों का समागम है। अनेक सत्पुरुषों और सन्तों के संग का प्रतिनिधि-स्वरूप यह 'सत्संग-योग' है। यह चार भागों में लिखा गया है। वेदों, उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, अध्यात्म-रामायण, शिव-संहिता, ज्ञान-संकलिनी तन्त्र, बृहत्तन्त्रसार, ब्रह्माण्ड पुराणोत्तर गीता, महाभारत और दुर्गा सप्तशती इत्यादि के मोक्ष-संबंधी सदुपदेशों का लाभ प्रथम भाग से प्राप्त होता है। दूसरे भाग में भगवान महावीर, भगवान बुद्ध, भगवान शंकराचार्य, महायोगी गोरखनाथजी महाराज, संत कबीर साहब, संत रैदास, सन्त कमाल साहब, गुरु नानक साहब, दादू दयाल साहब, पलटू साहब, सुन्दरदासजी महाराज, गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज, भक्तप्रवर सूरदासजी महाराज, हाथरस निवासी तुलसी साहब*, राधास्वामी साहब, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्दजी महाराज, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, बाबा देवी साहब इत्यादि बावन सन्तों, महात्माओं और भक्तों के सदुपदेश हैं।

तीसरे भाग में वर्तमान विद्वानों और महात्माओं के उत्तमोत्तम वचन हैं, जो 'कल्याण' पत्र तथा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत हैं। इन तीनों

*इनकी वाणी में 'घटरामायण' ग्रन्थ के भी उद्धरण सम्मिलित हैं; परन्तु घटरामायण में वर्णन है कि "यह ग्रन्थ सात काण्ड रामायण (रामचरितमानस) के कर्त्ता गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज का बनाया हुआ है और उन्होंने इसे सात काण्ड रामायण बनाने के पहले ही बनाया।" परन्तु इस ग्रन्थ का प्रचार तुलसी साहब के मन्दिर (शहर हाथरस, जिला अलीगढ़) से ही हुआ है, इसलिए इसके कर्ता, तुलसी साहब को ही लोग जानते हैं। मेरे विचार में यह ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदासजी कृत और 'रामचरितमानस' के पहले का बना प्रतीत नहीं होता। इसके अन्दर की युक्तियुक्त,

के अध्ययन और मनन से ब्रह्म, ईश्वर और परमात्मा का, ईश्वर-भक्ति का, बन्धन तथा मोक्ष का उत्तम ज्ञान होता है। ईश्वर-भक्ति का और मोक्ष का, इनमें एक ही साधन-ज्ञान तथा योगयुक्त भक्ति है। इन तीनों भागों का उत्तम मनन करने पर वेद-वेदान्त में और सन्तों के मत में मोक्षधर्म-सम्बन्धी विचारों का तथा साधन-मार्ग की पूर्ण एकता का उत्तम निर्णय हो जाता है। और, 'श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य' में प्रकाण्ड विद्वान लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदयजी लिखित यह वाक्य—'सारे मोक्षधर्म के मूलभूत अध्यात्मज्ञान की परम्परा हमारे यहाँ उपनिषदों से लगाकर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधु-पुरुषों तक अव्याहत चली आ रही है।' (गीता-रहस्य, पृष्ठ २५०) पूर्ण रूप से चरितार्थ हो जाता है।

इन भागों में भक्ति और मुक्ति के साधन में सत्संग, गुरु-सेवा, परम प्रभु परमात्मा में अत्यन्त प्रेम, सदाचार, हृदय की शुद्धि, जप और ध्यान—इन सातों का ही साधन मुख्य करके कहा गया है। ध्यान-साधन में स्थूल ध्यान और सूक्ष्म ध्यान—दोनों का वर्णन है। सूक्ष्म ध्यान में विन्दु-ध्यान—ज्योतिर्ध्यान—दृष्टियोग का तथा नादानुसन्धान वा नाद-ध्यान वा सुरत-शब्द-योग का वर्णन पाया जाता है।

सत्संग-द्वारा श्रवण-मनन से मोक्षधर्म-सम्बन्धी मेरी जानकारी जैसी है, उसका ही वर्णन चौथे भाग में मैंने किया है। परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, माया, बन्ध-मोक्षधर्म वा सन्तमत की उपयोगिता, परमात्म-भक्ति और अन्तर-साधन का सारांश साफ-साफ समझ में आ जाय—इस भाग के लिखने का हेतु यही है। इसके

सत्य प्रतीत होनेयोग्य बातें सन्त तुलसी साहब की हैं—विश्वास करनेयोग्य है; क्योंकि तुलसी साहब के ऐसे सच्चे सन्त के सत्य, युक्तियुक्त बातें ही कही जानेयोग्य हो सकती हैं। इसीलिए मैंने 'घटरामायण' के उद्धरणों को सन्त तुलसी साहब की वाणी के अन्दर रखा है।

अतिरिक्त इस भाग के अन्त में मेरे कुछ पद्य भी छापे गए हैं। इनमें पाठकों को जो त्रुटियाँ ज्ञात हों, उनके लिए वे मुझे अज्ञ जानकर क्षमा करें और जिन बातों में उन्हें त्रुटि नहीं ज्ञात हो, हो सके तो उनसे वे लाभ उठावें।

'सत्संग-योग' के पढ़ने से इस बात का यथार्थतः निर्णय हो जाता है कि वेद-वेदान्त और सन्तों के मत में यह बात विशेषकर कही गई है कि भक्त अन्तर्मार्गी बने। अन्तर्मार्गी बनने से वह इन्द्रिय-ग्राम से-जग-आवरणों से छूटकर कैवल्य दशा में प्राप्त होकर ही अपने इष्ट के स्वरूप को जीते-जी प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। मरने के बाद की परमात्म-प्राप्ति और मुक्ति सन्तवाणी को मान्य नहीं है।

अन्त में उन सत्संगी महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है, जिनके परिश्रम से छपाई के कार्य में सहायता मिली।

सत्संग-सेवक

मेँहीँ

❑❑❑

प्रकाशकीय

'सत्संग-योग' चारो भाग प्रातः स्मरणीय अनन्त श्रीविभूषित परम पूज्य सद्गुरु महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के द्वारा संपादित एवं लिखित आध्यात्मिक जगत् का एक अनुपम सद्ग्रन्थ है। इसका उनविंशति संस्करण धर्मप्रेमी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करके अपार हर्ष हो रहा है। प्राचीनकाल के ऋषियों से लेकर आधुनिक संतों, साधकों तथा अध्यात्म-विद्वानों के विशेष उपादेय वचनों को तीन भागों में संकलित करते हुए चौथे भाग में संतमत का सार अपने अनुभूत वचनों में प्रस्तुत करके पूज्यपाद सद्गुरु महाराज ने मानव समाज का बहुत बड़ा कल्याण किया है। इस अनमोल ग्रन्थ का एकाग्र मन से आद्योपान्त मनन कर लेने पर अध्यात्म के मूल विषयों की पूरी जानकारी अवश्य हो जाती है। ऐसा दुर्लभ सद्ग्रन्थ सर्वसाधारण को सुलभ हो, इसीलिए इसका कम-से-कम मूल्य रखने का प्रयास सदैव से किया गया है। इधर कागज एवं छपाई आदि के साधनों के मूल्य में विशेष वृद्धि होने के कारण विवश होकर इसका मूल्य ६० (साठ) रुपये करना पड़ा है।

अतः आशा है कि सभी अध्यात्म-ज्ञान के पिपासु एवं धर्मावलम्बी सज्जनवृन्द इसे अपनाकर अवश्य लाभ उठाएँगे।

प्रकाशक
अखिल भारतीय संतमत-सत्संग
प्रकाशन-समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर–३ (बिहार)

गुरु-पूर्णिमा
दिनांक १२.०७.२०१४ ई०

सत्संग-योग

भाग १

वेदमंत्र, भारती अनुवाद-सहित

(पं० वैदेहीशरण दूबे लिखित 'वैदिक विहंगम-योग' से संगृहीत)

मंत्र—ओ३म् युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्।।

— य० अ० ११, मं० १

सविता	जगत्-प्रसवकर्त्ता ईश्वर का
तत्त्वाय	तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए
प्रथमम्	पहले
धियम्	बुद्धि और
मनः	मनस् वा मानस (तथा)
अग्नेः	अग्नि की
ज्योतिः	ज्योतियों के
युञ्जानः	योग कर (इस)
निचाय्य	निश्चय वा दृढ़
पृथिव्याः	भूमि अर्थात् योग-भूमि को अपने अन्दर
अधि	पर अथवा में
आभरत्	अच्छी प्रकार धारण करें।

सारांश— वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! जगत्-प्रसवकर्त्ता ईश्वर का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले बुद्धियोग और मानसयोग तथा अग्नि की ज्योतियों का योग कर, योग की इस दृढ़ भूमि को अपने अन्दर अच्छी प्रकार धारण करें।

बुद्धियोग = सत्संग। मानसयोग = मानस जप तथा मानस ध्यान। ज्योतियोग = दृष्टियोग।

मंत्र—ओ३म् युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्।।

— य० अ० ११, मं० ३

सविता	हे जगत्-प्रसवकर्त्ता ईश्वर ! आप
तान्	ऐसे
देवान्	विद्वानों को
प्रसुवाति	उत्पन्न करें
यतः	जिनके
धिया	बुद्धियोग अर्थात् जिसके ज्ञान-उपदेश के द्वारा हम
स्वः	सुख-स्वरूप सविता जगत्-प्रसवकर्त्ता ईश्वर को प्राप्त करने के निमित्त युक्त्वाय योगाभ्यास करके (अपने अन्तर की वे)
बृहत्	महान्
ज्योतिः	ज्योतियाँ (और वह)
दिवम्	दिव्य गुणयुक्त अनाहत नाद
करिष्यतः	दोनों को प्राप्त करें।

सारांश— इस मन्त्र के द्वारा वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि योगाभ्यास सीखनेवाले मनुष्य सच्चे सद्गुरु के द्वारा ही योग का भेद जानकर अभ्यास-द्वारा अपने अन्तर की महान् ज्योतियाँ और दिव्य गुणयुक्त अनाहत नाद; दोनों प्राप्त करें। और वह सद्गुरु, जिनसे योग का भेद जानना है, उनको प्राप्त करने के निमित्त ईश्वर से इस प्रकार की स्तुति करें।

हे जगत्-प्रसवकर्त्ता ईश्वर ! आप ऐसे विद्वानों को उत्पन्न करें कि जिनसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर आप सुखस्वरूप परमात्मा में योग करने के लिए अपने अन्तर की ज्योतियों और दिव्य गुणयुक्त अनाहत नाद, दोनों को हम प्राप्त करें।

मंत्र—ओ३म् प्र हंसासस्तृपला वग्नुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः।
अंगोषिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्र वदन्ति साकम्।।

— सा० उ० अ० ८, मं० २

अंगोषिणं	इस देह में वसनेवाले कान्तिस्वरूप
वाणम्	भोक्ता आत्मा को
प्रवदन्ति	उपदेश करते हैं कि

वृषगणा	उत्तम धर्म-मेघ समाधि के साधक
तृपलाः	सत्त्व, रज और तम; तीनों को पार करके जानेवाले या काम-क्रोधादि पर प्रहार करनेवाले या उनको वश में करनेवाले
हंसासः	नीर-क्षीर के विवेक करनेवाले या सत्यासत्य के विवेक करनेवाले परमहंस।
दुर्मर्षम्	न सहन करने योग्य असह्य तेज से युक्त
साकम्	एक साथ वा एकरस से सबमें
पवमानं	व्यापक
वग्नुं	रमणीय अनाहत नाद को
अच्छा	लक्ष्य करके
अमात्	अव्यक्त से
अस्तं	शरण-योग्य सोम को
सखायः	वे समान आख्यानवाले आत्मस्वरूप से युक्त होकर
प्र अयासुः	प्राप्त होवे।

सारांश—इस मन्त्र के द्वारा वेद भगवान् इस देह में वसनेवाले कान्तिस्वरूप आत्मा को उपदेश करते हैं कि हे जीवात्माओ ! जो उत्तम और अचल समाधि के साधक त्रिगुणादिकों को पार करके दूध में मिले हुए जल को हंस के पृथक्-पृथक् करने की सामर्थ्य की तरह सत्यासत्य निर्णय करने में समर्थ परमहंस योगी हों, वह अत्यन्त तेज से युक्त, जो सब देहों में एक समान ईश्वर का व्यापक और रमणीय अनाहत नाद है, उसको प्रत्यक्ष करने का लक्ष्य करके, अपने अन्तर में अप्रकट रूप से स्थित सोमरस को योगाभ्यास-द्वारा प्राप्त करते हैं। आप सब भी उनका अनुकरण करें।

मंत्र—ओ३म् स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमिते न गावः।
परीणसं कृणुते तिग्म शृंगो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः॥

—सा० उ० अ० ८, मं० ३

ओ३म्	परमात्मा प्राप्त करने में

गावः	इन्द्रियाँ
वृथा	व्यर्थ ही
क्रीडन्तम्	नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हैं; क्योंकि वे परमात्मा को
न	नहीं
मिमिते	ज्ञान कर सकतीं
सः	वह पूर्व मंत्रोक्त
उरुगायस्य	विशाल गुण-गरिमावाले स्तुति अर्थात् अनाहत नाद से सम्पन्न परमात्मा को, जिसकी
जूतिं	ज्योति जो
परीणसं	नाना प्रकार के तेज प्रकट
कृणुते	करती है, उसको वह
योजते	समाधि-द्वारा साक्षात् करता है। और
स हरिः	वह हरि सब दुःखों के हरनेवाले सोम
तिग्मशृंगः	तीक्ष्ण तेज और
ऋज्रः	विस्पष्ट प्रकाश से युक्त होकर
दिवा	दिन और
नक्तं	रात
ददृशे	प्रकाशित होता है।

सारांश—इस मंत्र के द्वारा वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! हाथ, पैर, गुदा, लिंग, रसना, कान, त्वचा, आँखें, नाक और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करना, झूठ ही एक खेल करना है; क्योंकि इनसे वह नहीं जाना जा सकता। वह तो इन्द्रियातीत है। हाँ, वह पूर्व मंत्रोक्त परमहंस योगी, उस अनाहत नाद से सम्पन्न परमात्मा को, जिसकी ज्योति शरीर के बाहर और भीतर चन्द्र-सूर्यादि अनेकों लोक-लोकान्तरों में तेज और नाना प्रकार की ज्योतियाँ प्रकट करती है, और उस सोम को, जो विस्पष्ट प्रकाश से युक्त होकर दिन और रात प्रकाशित होता है, प्राप्त करते हैं।

केनोपनिषद्, खण्ड १

(सामवेद का)

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो मन से मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (देशकालाविच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है॥ ५॥

खण्ड २

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ ५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्म में न जाना, तब तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान लोग उसे समस्त प्राणियों में उपलब्ध करके इस लोक से जाकर (मरकर) अमर हो जाते हैं॥ ५।

कठोपनिषद्, अध्याय १, द्वितीय वल्ली

(कृष्ण यजुर्वेद का)

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो शरीरों में शरीर-रहित तथा अनित्यों में नित्यस्वरूप है, उस महान् और सर्वव्यापक आत्मा को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता॥२२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥२३॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—यह आत्मा वेदाध्ययन-द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति अथवा अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह (साधक) जिस (आत्मा) का वरण करता है, उस (आत्मा) से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है॥२३॥

शां० भा०—नायमात्मा प्रवचनेनानेक वेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थ धारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः। कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूँ स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः॥ २३॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—यह आत्मा प्रवचन द्वारा अर्थात् अनेकों वेदों को स्वीकार करने से प्राप्त यानी विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा यानी ग्रन्थ-धारण की शक्ति से ही जाना जा सकता है और न केवल बहुत-सा श्रवण करने से ही। तो फिर किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस पर कहते हैं—

यह साधक जिस आत्मा का वरण—प्रार्थना करता है, उस वरण करनेवाले आत्मा-द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह कि केवल आत्म-लाभ के लिए ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है। किस प्रकार उपलब्ध होता है, इस पर कहते हैं—उस आत्मकामी के प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्य को विवृत—प्रकाशित कर देता है॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान-द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है॥२४॥

अध्याय १, वल्ली ३

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ १४॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–(अरे अविद्याग्रस्त लोगो!) उठो, (अज्ञान-निद्रा से) जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार क्षुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं॥१४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥१५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्ध-रहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से भी पर और ध्रुव (निश्चल) है, उस आत्मतत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है॥१५॥

अध्याय २, वल्ली १

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥१॥

अर्थात्–स्वयंभू–परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसलिए वे बाहर ही देखती हैं; अन्तरात्मा को नहीं। तब कोई-कोई धीर अमृतत्व की इच्छा करते हुए आवृत्तचक्षु होकर अर्थात् ढँके हुए नेत्र–बन्द नेत्रवाला होकर–दृष्टिशक्ति को अन्तर्मुख फेरकर आत्मा का दर्शन करते हैं॥१॥

अध्याय २, वल्ली २

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है॥१०॥

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–वहाँ (उस आत्मलोक में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह

विद्युत् ही चमचमाती है, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है॥१५॥

अध्याय २, वल्ली ३

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्त्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ ४॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–यदि इस देह में इसके पतन से पूर्व ही (ब्रह्म को) जान सका तो बन्धन से मुक्त होता है, यदि नहीं जान पाया तो इन जन्म-मरणशील लोकों में वह शरीर-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है॥४॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ ७॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–इन्द्रियों से मन पर (उत्कृष्ट) है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है; बुद्धि से महत्तत्त्व बढ़कर है तथा महत्तत्त्व से अव्यक्त उत्तम है॥७॥

शां० भा०–सत्त्व शब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते।

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–'सत्त्व' शब्द से यहाँ बुद्धि कही गयी है॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिंग है, जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है॥८॥

शां० भा०–लिंग्यते गम्यते येन तल्लिंगं बुद्ध्यादि।

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–जिसके द्वारा कोई वस्तु जानी जाती है, वह बुद्धि आदि लिंग कहलाते हैं॥८॥

मुण्डकोपनिषद्

(अथर्ववेद का) मुण्डक २, खण्ड १

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–(वह अक्षर ब्रह्म) निश्चय ही दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं कार्यवर्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है॥२॥

शां० भा०–दिव्यो द्योतनवान्स्वयंज्योतिष्ट्वात्। दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा। हि यस्मादमूर्तः सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा, दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति। अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्य जन्मनिमित्तस्य चाभावात्; यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादि, यथा नभः सुषिरभेदानां घटादि। सर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात् तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति। सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः।

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–(वह अक्षर ब्रह्म) स्वयंप्रकाश होने के कारण दिव्य–प्रकाशित होनेवाला है, अथवा दिवि–अपने स्वरूप में ही स्थित या अलौकिक है; क्योंकि वह अमूर्त्त–सब प्रकार के आकार से रहित, पुरुष–पूर्ण अथवा शरीर-रूप पुर में शयन करनेवाला, सबाह्याभ्यन्तर–बाहर और भीतर के सहित सर्वत्र वर्त्तमान और अज–जो किसी से उत्पन्न न हो, ऐसा है; क्योंकि अपने से भिन्न कोई उसके जन्म का निमित्त है ही नहीं, जिस प्रकार कि जल से उत्पन्न होनेवाले बुद्बुदों का कारण वायु आदि है तथा घटाकाशादि भेदों का हेतु घट आदि पदार्थ हैं (उसी प्रकार उस अजन्मा के जन्म का कोई भी कारण नहीं है)। वस्तु के सारे विकारों का मूल जन्म ही है, अतः उस (जन्म) का प्रतिषेध कर दिये जाने पर वे सभी प्रतिषिद्ध हो जाते हैं; क्योंकि वह परमात्मा सबाह्याभ्यन्तर अज है, इसलिए वह अजर, अमर, अक्षर, ध्रुव और भयशून्य है–यह इसका तात्पर्य है।

शां० भा०– यद्यपि देहाद्युपाधि भेददृष्टीनामविद्यावशाद्देहभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते

तलमलादिमदिव आकाशं तथापि तु स्वतः परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राणः। तथामना अनेकज्ञानशक्ति भेदवत्संकल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयम् अमनाः। अप्राणो ह्यमनाश्चेति प्राणादि वायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा च बुद्धि मनसीबुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः। तथा श्रुत्यन्तरे–''ध्यायतीव लेलायतीव'' (बृ० उ० ४।३॥७) इति।

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–जिस प्रकार (दृष्टिदोष से) आकाश तल-मलादि-युक्त भासता है, उसी प्रकार देहादि-उपाधि-भेद में दृष्टि रखनेवालों को यद्यपि विभिन्न देहों में (वह अक्षर ब्रह्म) प्राण, मन, इन्द्रिय एवं विषय से युक्त-सा भासता है, तो भी परमार्थ-स्वरूप-दर्शियों को तो वह अप्राण–जिसमें क्रिया-शक्ति भेदवाला चलनात्मक वायु न रहता हो तथा अमनाः–जिसमें ज्ञान-शक्ति के अनेकों भेदवाला संकल्पा-दिरूप मन भी न हो (इस प्रकार प्राण और मन से रहित ही भासता है)। 'अप्राणः' और 'अमनाः' इन दोनों विशेषणों से प्राणादि वायुभेद, कर्मेन्द्रियाँ और उनके विषय तथा बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय प्रतिषिद्ध हुए समझने चाहिए; जैसा कि एक दूसरी श्रुति उसे ''मानो ध्यान करता हुआ-सा, मानो चेष्टा करता हुआ-सा''–ऐसा बतलाती है।

शां० भा०–यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयः तस्माच्छुभ्रः शुद्धः। अतोऽक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपात्सर्वकार्यकरणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारेभ्यः तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः।

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–इस प्रकार क्योंकि वह (प्राण और मन) इन दोनों उपाधियों से रहित है, इसलिए शुभ्र–शुद्ध है। अतः नाम-रूप की बीज-भूत उपाधि से जिसका स्वरूप लक्षित होता है, उस अक्षर से–सम्पूर्ण कार्य-करण के बीज-रूप से उपलक्षित होने के कारण उन उपाधियोंवाला अव्याकृत संज्ञक वह अक्षर अपने

सम्पूर्ण विकार से श्रेष्ठ है; उस सर्वोत्कृष्ट अक्षर से भी वह निरुपाधिक पुरुष उत्कृष्ट है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

शां० भा०—यस्मिंस्तदाकाशाख्यमक्षरं संव्यवहारविषयमोतं प्रोतं च कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते। यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनात्मना सन्ति तदा, अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः; यथानुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो देवदत्तः॥ २॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—किन्तु जिसमें सम्पूर्ण व्यवहार का विषय-भूत वह आकाश-संज्ञक अक्षरतत्त्व ओत-प्रोत है, वह प्राणादि से रहित कैसे हो सकता है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—यदि प्राणादि अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी पुरुष के समान स्व-स्वरूप से विद्यमान रहते तो उन विद्यमान प्राणादि के कारण पुरुष का प्राणादि-युक्त होना माना जा सकता था, किन्तु उस समय वे अपनी उत्पत्ति से पूर्व पुरुष के समान स्वरूपतः हैं नहीं, इसलिए जिस प्रकार पुत्र उत्पन्न न होने तक देवदत्त पुत्रहीन कहा जाता है, उसी प्रकार परम पुरुष भी अप्राणादिमान है॥२॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—इस (अक्षर पुरुष) से ही प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसार को धारण करनेवाली पृथ्वी (उत्पन्न होती है)॥३॥

मुण्डक २, खण्ड २

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ ९॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—वह निर्मल और कलाहीन ब्रह्म हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोश में विद्यमान है। वह शुद्ध और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थों की ज्योति है और वह है, जिसे कि

आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं॥९॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ ११॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है॥११॥

मुण्डक ३, खण्ड १

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—(यह आत्मा) न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्धचित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करने पर उस निष्कल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है॥८॥

मुण्डक ३, खण्ड २

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

गी० प्र० गो०, भा० अ०—जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्यागकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है॥८॥

प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ३

(अथर्ववेद का)

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे॥ ३॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मनुष्य-शरीर से यह छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस आत्मा में प्राण व्याप्त—समर्पित है तथा यह मनोकृत संकल्पादि से इस शरीर में आ जाता है॥३॥

शां० भा०–आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेश उक्तः प्राणो जायते। कथमित्यत्र दृष्टान्तः। यथा लोक एषा पुरुषे शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत् प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुष आततं समर्पितम् इत्येतत्। छायेव देहे मनोकृतेन मनःसंकल्पेच्छादि निष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतत्–वक्ष्यति हि 'पुण्येन पुण्यम्' (प्र० उ० ३। ७) इत्यादि; तदेव 'सक्तः सह कर्मणा' (बृ० उ० ४ । ४ । ६) इति च श्रुत्यन्तरात्–आयाति आगच्छत्यस्मिञ्शरीरे॥ ३॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–यह उपर्युक्त प्राण आत्मा–परम पुरुष–अक्षर यानी सत्य से उत्पन्न होता है। किस प्रकार उत्पन्न होता है ? इसमें यह दृष्टान्त देते हैं–जिस प्रकार लोक में शिर तथा हाथ-पाँववाले पुरुष-रूप निमित्त के रहते हुए ही उससे होनेवाली छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस ब्रह्म यानी सत्य पुरुष में यह छायास्थानीय मिथ्या तत्त्व व्याप्त–समर्पित है। देह में छाया के समान यह मन के कार्य से यानी मन के संकल्प और इच्छादि से होनेवाले कर्म से इस शरीर में आता है। जैसा कि आगे 'पुण्य से पुण्यलोक को ले जाता है' आदि श्रुति से कहेंगे। 'कर्मफल में आसक्त हुआ पुरुष अपने कर्म के सहित (उसी को प्राप्त होता है)।' इस अन्य श्रुति से भी यही बात कही गयी है॥३॥

प्रश्न ५

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–(सत्यकाम को पिप्पलाद का उत्तर) हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है, वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान इसी के आश्रय से उनमें से किसी एक (ब्रह्म) को प्राप्त हो जाता है॥२॥

शां० भा०–इति पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः – एतद्वै सत्यकाम ! एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं

पुरुषाख्यमपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोंकार एवोंकारात्मकमोंकार प्रतीकत्वात्। परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यम् अतीन्द्रिय गोचरत्वात्केवलेन मनसावगाहितुम्। ओंकारे तु विष्णवादि प्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदति इत्येतदवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात् तथापरं च ब्रह्म। तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार इत्युपचर्यते। तस्मादेवं विद्वानेतेनैवात्मप्राप्ति साधनेनैवोंकाराभि ध्यानेन एकतरं परमपरं वान्वेति ब्रह्मानुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनम् ओंकारो ब्रह्मणः॥ २॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–इस प्रकार पूछनेवाले सत्यकाम से पिप्पलाद ने कहा–हे सत्यकाम ! यह पर और अपर ब्रह्म, पर अर्थात् सत्य अक्षर अथवा पुरुषसंज्ञक ब्रह्म तथा जो प्रथम विकार-रूप प्राण नामक अपर ब्रह्म है, वह ओंकार ही है, अर्थात् ओंकार-रूप प्रतीकवाला होने से ओंकार-स्वरूप ही है। परब्रह्म शब्दादि से उपलक्षित होने के अयोग्य और सब प्रकार के विशेष धर्मों से रहित है, अतः इन्द्रियगोचरता से अतीत होने के कारण केवल मन से उसका अवगाहन नहीं किया जा सकता; किन्तु विष्णु आदि की प्रतिमा स्थानीय ओंकार में, जिसमें कि भक्ति के द्वारा ब्रह्मभाव की स्थापना की गयी है, ध्यान करनेवालों के प्रति प्रसन्न होता है–यह बात शास्त्र प्रमाण से जानी जाती है। इसी प्रकार अपर ब्रह्म भी (ॐकार में ध्यान करनेवालों के प्रति प्रसन्न होता है)। अतः पर और अपर ब्रह्म ओंकार ही है, ऐसा उपचार से कहा जाता है। सुतरां, विद्वान आत्मप्राप्ति के इस ओंकार-चिन्तन-रूप साधन से ही पर या अपर किसी एक ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि ओंकार ही ब्रह्म का सबसे अधिक समीपवर्त्ती आलम्बन है ॥२॥

प्रश्न ६

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च॥ ४॥

१

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–उस पुरुष ने प्राण को रचा, फिर प्राण से
२ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न को
११ १२ १३ १४ १५ १६
तथा अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोकों को एवं लोकों में नाम को उत्पन्न किया ॥४॥

शां० भा०–स पुरुष उक्त प्रकारेणेक्षित्वा प्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान्। अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभ कर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम्। ततः कर्मफलोपभोगसानाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत्।

खं शब्दगुणम्, वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम्। तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं शब्दस्पर्शाभ्याम्। तथापो रसेन गुणेना साधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च चतुर्गुणाः। तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पंचगुणा पृथिवी। तथा तैरेव भूतैरारब्धामिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्याकम्। तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसंकल्पलक्षणं मनः। एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं ब्रीहियवादिलक्षणमन्नम्। ततश्चन्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम्।

तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं संकीर्यमाणानाम्। मन्त्रास्तपो विशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वांगिरसः। ततः कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। ततो लोकाः कर्मणां फलम्। तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि।

एवमेताः कला प्राणिनाम् अविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टाः तैमिरिक दृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादि विभागम्॥ ४॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–उस पुरुष ने उपर्युक्त प्रकार से

ईक्षण कर हिरण्यगर्भ-संज्ञक समष्टि प्राण को अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों की इन्द्रियों के आधारस्वरूप अन्तरात्मा को रचा। उस प्राण से समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति की हेतुभूता श्रद्धा की रचना की और उससे कमर्फलोपभोग के साधन (शरीर) के अधिष्ठान अर्थात् कारणस्वरूप महाभूतों की सृष्टि की। सबसे पहले शब्द गुण-विशिष्ट आकाश को रचा, फिर निज गुण स्पर्श और शब्द गुण से युक्त होने के कारण दो गुणोंवाले वायु को, तदनन्तर स्वकीय गुण रूप और पहले दो गुण शब्द-स्पर्श से युक्त तीन गुणोंवाले तेज को तथा अपने असाधारण गुण रस के सहित पूर्वगुणों के अनुप्रवेश से चार गुणोंवाले जल को और गन्ध गुण के सहित पूर्व गुणों के अनुप्रवेश से पाँच गुणोंवाली पृथ्वी को रचा। इसी प्रकार विषयों के ज्ञान और कर्म के लिए उन भूतों से ही आरब्ध दश संख्यावाले दो प्रकार के इन्द्रियग्राम की तथा उसके स्वामी संकल्प-विकल्पादिरूप अन्तःस्थित मन की रचना की।

इस प्रकार प्राणियों के कार्य (विषय) और करणों (इन्द्रियों) की रचना कर उनकी स्थिति के लिए उसने अन्न उत्पन्न किया, फिर उस खाये हुए अन्न से सब प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति का साधनभूत वीर्य–सामर्थ्य यानी बल उत्पन्न किया। तदनन्तर वर्णसंकरता को प्राप्त होते हुए उन वीर्यवान प्राणियों की शुद्धि के साधनभूत तप की रचना की। फिर जिनके बाह्य और अन्तःकरणों की तप से शुद्धि हो गयी है, उन प्राणियों के लिए कर्म के साधनभूत ऋक्, यजुः, साम और अथर्वांगिरस मन्त्रों की रचना की और तत्पश्चात् अग्निहोत्रादि कर्म तथा कर्मों के फलस्वरूप लोक-निर्माण किये। फिर इस प्रकार रचे हुए उन लोकों में प्राणियों के देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम बनाए।

इस प्रकार तिमिर-रोगी की दृष्टि से रचे हुए द्विचन्द्र, मशक (मच्छर) और मक्षिका आदि तथा स्वप्नद्रष्टा के बनाए हुए सब पदार्थों के समान, प्राणियों के अविद्या आदि दोष-रूप बीज की अपेक्षा से रची हुई ये कलाएँ अपने नाम-रूप आदि विभाग को त्यागकर उस पुरुष में ही लीन हो जाती हैं॥४॥

ईशावास्योपनिषद्

(शुक्ल यजुर्वेद का)

ॐ ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है (अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए)। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर; किसी के धन की इच्छा न कर॥१॥

शां० भा०–ईशा ईष्ट इतीट् तेनेषा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्।

किम्? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थ सत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेन आच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन। तद्वदेव हि स्वात्मनि अध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्याम्, जगत्यामिति उपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थ-सत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्।

आत्मनिष्ठस्य त्याग एवम् अधिकारः

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येष-णात्रय संन्यास एवाधिकारो न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः। न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति अतस्त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः–भुंजीथाः पालयेथाः।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधाः गृधिमाकांक्षां मा कार्षीर्धन-विषयाम्। कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः।

अथवा मा गृधाः। कस्मात्? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत्। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः॥ १॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०–जो ईशन (शासन) करे, उसे ईट् कहते हैं, उसका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। सबका ईशन करनेवाला परमेश्वर परमात्मा है। वही सब जीवों का आत्मा होकर अन्तर्यामिरूप से सबका ईशन करता है। उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईश से सब वास्य–आच्छादन करने योग्य है।

क्या (आच्छादन करने योग्य है)? यह सब जो कुछ जगती अर्थात् पृथ्वी में जगत् (स्थावर-जंगम प्राणिवर्ग) है, वह सब अपने आत्मा–ईश्वर से, अन्तर्यामिरूप से 'यह सब कुछ मैं ही हूँ'–ऐसा जानकर अपने परमार्थ सत्य-स्वरूप परमात्मा से यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करने योग्य है।

जिस प्रकार चन्दन और अगरु आदि की, जल आदि के सम्बन्ध से गीलेपन आदि के कारण उत्पन्न हुई औपाधिक दुर्गन्धि उन (चन्दनादि) के स्वरूप को घिसने से उनके पारमार्थिक गन्ध से आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार अपने आत्मा में आरोपित स्वाभाविक कर्तृत्व–भोक्तृत्व आदि लक्षणोंवाला द्वैत-रूप जगत्–जगती में यानी पृथ्वी में–'जगत्याम्' यह शब्द (स्थावर-जंगम सभी का) उपलक्षण करनेवाला होने से–इस परमार्थ सत्य-स्वरूप आत्मा की भावना से नाम-रूप और कर्ममय सारा ही विकारजात परित्यक्त हो जाता है।

इस प्रकार जो, ईश्वर ही चराचर जगत् का आत्मा है–ऐसी भावना से युक्त है, उसका पुत्रादि तीनों एषणाओं के त्याग में ही अधिकार है–कर्म में नहीं। उसके त्यक्त अर्थात् त्याग से (आत्मा का पालन कर)। त्यागा हुआ अथवा मरा हुआ पुत्र या सेवक, अपने संबंध का अभाव हो जाने के कारण अपना पालन नहीं करता, अतः त्याग से–यही इस श्रुति का अर्थ है–भोग यानी पालन कर।

इस प्रकार एषणाओं से रहित होकर तू गर्द्ध अर्थात् धन-विषयक आकांक्षा न कर। किसी के धन की अर्थात् अपने या पराये किसी के भी धन की इच्छा न कर। यहाँ 'स्वित्' यह अर्थ-रहित निपात है।

अथवा आकांक्षा न कर; क्योंकि धन भला किसका है ? इस प्रकार इसका आक्षेप-सूचक अर्थ भी हो सकता है अर्थात् धन किसी का भी नहीं है, जो उसकी इच्छा की जाय। यह सब आत्मा ही है—इस प्रकार ईश्वर-भावना से यह सभी परित्यक्त हो जाता है। अतः यह सब आत्मा से उत्पन्न हुआ तथा सब कुछ आत्मरूप ही होने के कारण मिथ्या पदार्थ-विषयक आकांक्षा न कर—ऐसा इसका तात्पर्य है॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले तेरे लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे कर्म का लेप न हो॥२॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है ॥ ५॥

(कबीर साहब के शब्द से भी ऐसा ही भाव प्रकट होता है—

'है सब में सब ही तें न्यारा।
जीव जन्तु जल थल सब ही में, सबद वियापत बोलनहारा।
सब के निकट दूर सब ही तें, जिन जैसा मन कीन्ह विचारा॥')

शां० भा०—तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः। किञ्चतद्दूरे वर्ष कोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद् दूर इव। तद् उ अन्तिके इतिच्छेदः। तद्वन्तिकेसमीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। 'य आत्मा

सर्वान्तरः' (बृ० उ० ३।४।१) इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः। 'प्रज्ञानघन एव' (बृ० उ० ४।५।१३) इति च शासनान्निरन्तरं च॥ ५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जिसका प्रकरण है, वह आत्मतत्त्व एजन करता—चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता अर्थात् स्वयं अचल रहकर चलता हुआ-सा जान पड़ता है। यही नहीं, वह दूर भी है, अज्ञानियों को सैकड़ों-करोड़ों वर्षों में भी अप्राप्य होने के कारण दूर-जैसा है। ('तद्वन्तिके' का) तद् उ अन्तिके—ऐसा पदच्छेद करना चाहिए। वह अन्तिक—अत्यन्त समीप भी है। अर्थात् केवल दूर ही नहीं, विद्वानों का आत्मा होने के कारण समीप भी है। वह इस सबके अन्तर यानी भीतर भी है, जैसा कि 'जो आत्मा सर्वान्तर है' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। आकाश के समान व्यापक होने के कारण वह इस नाम-रूप और क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत् के बाहर तथा सूक्ष्म रूप होने से इसके भीतर भी है। और श्रुति के 'प्रज्ञानघन ही है' इस कथन के अनुसार वह निरन्तर (बाहर-भीतर के भेद को त्यागकर सर्वत्र) ही है॥५॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः॥ ९॥

(यह मन्त्र बृहदारण्यकोपनिषद् में भी है।)

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे (अविद्या रूप) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अन्ध कार में प्रवेश करते हैं ॥९॥

शां० भा०—तत्र अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के ? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रदिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्ध ात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति, के ?

कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रताः अभिरताः॥ ९॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—उनमें वे तो अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं। कौन ? जो अविद्या-विद्या से अन्य विद्या अर्थात् कर्म यानी केवल अग्निहोत्रादिरूप अविद्या ही की उपासना करते हैं, अर्थात् तत्पर होकर कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं; क्योंकि कर्म, विद्या (आत्मज्ञान) के विरोधी हैं (इसलिए उन्हें अविद्या कहा गया है) तथा उस अन्धकार से भी कहीं अधिक अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, कौन ? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या यानी देवता-ज्ञान में ही रत-अनुरक्त हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ं रताः॥ १२॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (कार्यब्रह्म) में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं॥१२॥

शां० भा०—अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या तामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणिहिरण्यगर्भाख्ये रताः॥ १२॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है। वह जिस कार्य का धर्म है, उसे 'सम्भूति' कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति—प्रकृति—कारण अथवा अव्याकृत नाम की अविद्या है। उस असम्भूति यानी अव्याकृत नामवाली प्रकृति—कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्या की, जो कि कामना और कर्म की

बीज है, जो लोग उपासना करते हैं, वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। तथा जो सम्भूति यानी हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म में रत हैं, वे तो उससे भी गहरे—मानो अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं॥१२॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

(यह मंत्र बृहदारण्यकोपनिषद् में भी है।)

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—आदित्य-मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे॥१५॥

शां० भा०—हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्। तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्यैवादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम्। तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यस्य उपासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठान्ने दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये॥ १५॥

गी० प्रे० गो०, भा० अ०—जो सोने का-सा हो, उसे 'हिरण्मय' कहते हैं, अर्थात् जो ज्योतिर्मय है, उस ढकने-रूप पात्र से ही आदित्यमण्डल में स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्म का मुख-द्वार छिपा हुआ है। हे पूषन् ! सत्य की उपासना करने के कारण जिसका सत्य ही धर्म है, ऐसा मैं सत्यधर्मा हूँ, उस मेरे प्रति अथवा यथार्थ धर्म का अनुष्ठान करनेवाले मेरे प्रति दृष्टि अर्थात् अपने सत्य-स्वरूप की उपलब्धि के लिए तू उसे उघाड़ दे—(उस पात्र को) सामने से हटा दे॥१५॥

छान्दोग्योपनिषद्

(सामवेद का)

अध्याय ३, खण्ड १३

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः॥ ७॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सँ् स्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८॥

अर्थ–जो कि इससे परे स्वर्ग अथवा आकाश में ज्योति चमकती है, एवं विश्व की पीठ पर, सबकी पीठ पर तथा उत्तम और अनुत्तम सब लोकों में चमकती है, यह वही है जो अन्तःपुरुष में ज्योति है, उसी की यह दृष्टि है, जो कि इस शरीर में छूने से गर्मी का ज्ञान करते हैं, उसी की यह श्रुति है, जो कि यह कानों को बन्द करके रथ के घोष अथवा बैल के डकारने की ध्वनि के समान और जलती हुई आग के गर्जन के समान सुनते हैं। तो इस तरह उसे देखा भी और सुना भी, अतः चक्षुस्य और श्रुत, दोनों से उसकी उपासना करनी चाहिए; जो इसे जानता है॥७-८॥

अध्याय ४, खण्ड १५

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतम-भयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिंचति वर्त्मनी एव गच्छति॥ १॥

अर्थ–जो यह पुरुष नेत्र विषे दीख पड़ता है, यही आत्मा प्राणियों का है। यही अविनाशी है, भय-रहित ब्रह्म है। जिस काल में पुरुष के नेत्र में घी या जल डाला जाता है, वह घी या जल नेत्रों की पलकों से नीचे गिर जाता है; उन नेत्रों को हरज नहीं पहुँचा सकता है, तब कैसे कोई नेत्र विषे स्थित पुरुष को क्लेश दे सकता है ? ॥१॥

मुक्तिकोपनिषद्

(शुक्ल यजुर्वेद का)

अध्याय १

मूल–चतुर्विधा तु या मुक्तिर्मदुपासनया भवेत्॥ २५॥
इयं कैवल्यमुक्तिस्तु केनोपायेन सिध्यति।
माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये॥ २६॥

अर्थ–(सालोक्य =उपास्य देव के लोक की प्राप्ति;

सामीप्य = उपास्य देव की समीपता प्राप्त करनी; सारूप्य = उपास्य देव के शरीर-सदृश रूप प्राप्त करना; सायुज्य = उपास्य देव के साथ युक्त होना अर्थात् उपास्य देव के शरीर से भिन्न अपना दूसरा शरीर नहीं रखना।) इन चार प्रकार की मुक्तियों का वर्णन हुआ, ये मेरी उपासना से होती हैं॥२५॥ कैवल्य मुक्ति जिस उपाय से सिद्ध होती है, उसका वर्णन होता है। मुमुक्षुगण को कैवल्य मुक्ति प्रदान करने में केवल माण्डूक्योपनिषद् ही समर्थ है॥२६॥

मूल–तथाप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ॥ २६$\frac{1}{2}$॥
तथापि दृढता नो चेद्विज्ञानस्यांजनासुत।
द्वात्रिंशाख्योपनिषदं समभ्यस्य निवर्तय॥ २८$\frac{1}{2}$॥
विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ॥ २८$\frac{1}{2}$॥

अर्थ–माण्डूक्योपनिषद् पाठ करके यदि ज्ञान का विकास नहीं हो तो दश उपनिषद् पढ़ो॥२६$\frac{1}{2}$॥ हे अंजनातनय ! दश उपनिषद् पाठ करके भी यदि ज्ञान-विकास न हो, तब बत्तीस उपनिषदों को पढ़कर संसार से निवृत्त हो सकोगे॥२८॥ यदि तुम विदेह-मुक्ति लाभ करना चाहो, तो १०८ उपनिषदों को पढ़ो॥२८$\frac{1}{2}$॥

मूल–स होवाच श्रीरामः। ऐतरेयकौषीतकीनादविन्द्वात्मप्रबोध निर्वाणमुद्गलाक्षमालिकात्रिपुरा सौभाग्यबह्वृचनामृग्वेदगतानां दशसंख्याकानामुपनिषदां॥

अर्थ–श्रीराम ने कहा– ऐतरेय (१), कौषीतकी (२), नादविन्दु (३), आत्मप्रबोध (४), निर्वाण (५), मुद्गल (६०), अक्षमालिका (७), त्रिपुरा (८), सौभाग्य (९), बह्वृच (१०); ये दश उपनिषद् ऋग्वेद के अन्तर्गत हैं।

मूल–ईशावास्य बृहदारण्यक जाबाल हंस परमहंस सुबाल मन्त्रिका निरालम्ब त्रिशिखीब्राह्मण मण्डलब्राह्मणाद्वयतारक पैंगल भिक्षु तुरीयातीताध्यात्म तारसार याज्ञवल्क्य शाठ्यायनी मुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदगतानामेकोनविंशतिसंख्याकानामु-पनिषदां।

अर्थ–ईशावास्य (१), बृहदाण्यक (२), जाबाल (३), हंस

(४), परमहंस (५), सुबाल (६), मन्त्रिका (७), निरालम्ब (८), त्रिशिखी ब्राह्मण (९), मण्डल ब्राह्मण (१०), अद्वयतारक (११), पैंगल (१२), भिक्षु (१३), तुरीयातीत (१४), अध्यात्म (१५), तारसार (१६), याज्ञवल्क्य (१७), शाट्यायनी (१८) और मुक्तिक (१९); ये उन्नीस उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत हैं।

मूल—कठवल्ली तैत्तिरीयक ब्रह्म कैवल्य श्वेताश्वतर गर्भ नारायणामृतविन्दुमृतनाद कालाग्निरुद्र क्षुरिका सर्वसार शुकरहस्य तेजोविन्दु ध्यानविन्दु ब्रह्मविद्या योगतत्त्व दक्षिणामूर्त्ति स्कन्द शारीरक योगशिखैकाक्षराक्ष्यवधूत कठरुद्र हृदय योगकुण्डलिनी पंचब्रह्म प्राणाग्निहोत्र वराह कलिसंतरण सरस्वतीरहस्यानां कृष्ण यजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानामु-पनिषदां।

अर्थ—कठवल्ली (१), तैत्तिरीयक (२), ब्रह्म (३), कैवल्य (४), श्वेताश्वतर (५), गर्भ (६), नारायण (७), अमृतविन्दु (८), अमृतनाद (९), कालाग्निरुद्र (१०), क्षुरिका (११), सर्वसार (१२), शुकरहस्य (१३), तेजोविन्दु (१४), ध्यानविन्दु (१५), ब्रह्मविद्या (१६), योगतत्त्व (१७), दक्षिणामूर्ति (१८), स्कन्द (१९), शारीरक (२०), योगशिखा (२१), एकाक्षर (२२), अक्षी (२३), अवधूत (२४), कठरुद्र (२५), हृदय (२६), योगकुण्डलिनी (२७), पंचब्रह्म (२८), प्राणाग्निहोत्र (२९) वराह (३०), कलिसंतरण (३१) और सरस्वतीरहस्य (३२); ये बत्तीस उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत हैं।

मूल—केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणि मैत्रेयी वज्रसूचिका योगचूडामणि वासुदेव महत्संन्यासाव्यक्तकुण्डिका सावित्री रुद्राक्ष जाबालदर्शनजाबालीनासामवेदगतानां षोडशसंख्याकानामुपनिषदाम्॥ ४॥

अर्थ—केन (१), छान्दोग्य (२), आरुणि (३), मैत्रायणि (४), मैत्रेयी (५), वज्रसूचिका (६), योगचूड़ामणि (७), वासुदेव (८), महत्संन्यास (९), अव्यक्त (१०), कुण्डिका (११), सावित्री (१२), रुद्राक्ष (१३), जाबाल (१४), दर्शन (१५), तथा जाबाली

(१६); ये सोलह उपनिषद् सामवेद के अन्तर्गत हैं॥४॥

मूल—प्रश्न मुण्डक माण्डूक्याथर्वशिरोऽथर्वशिखाबृहज्जाबाल नृसिंहतापनी नारदपरिव्राजक सीता शरभ महानारायण रामरहस्य रामतापनी शाण्डिल्य परमहंसपरिव्राजकान्नपूर्णा सूर्यात्मपाशुपत परब्रह्मत्रिपुरातपन देवीभावना भस्मजाबाल गणपति महावाक्य गोपालतपन कृष्ण हयग्रीव दत्तात्रेय गारुडानामथर्ववेदगता-नामेकत्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदाम्॥ ५॥

अर्थ—प्रश्न (१), मुण्डक (२), माण्डूक्य (३), अथर्वशिर (४), अथर्वशिखा (५), बृहज्जाबाल (६), नृसिंहतापनी (७), नारदपरिव्राजक (८), सीता (९), शरभ (१०), महानारायण (११), रामरहस्य (१२), रामतापनी (१३), शाण्डिल्य (१४), परमहंसपरिव्राजक (१५), अन्नपूर्णा (१६), सूर्य (१७), आत्म (१८), पाशुपत (१९), परब्रह्म (२०), त्रिपुरातपन (२१), देवी (२२), भावना (२३), भस्मजाबाल (२४), गणपति (२५), महावाक्य (२६), गोपालतपन (२७), कृष्ण (२८), हयग्रीव (२९), दत्तात्रेय (३०) तथा गारुड़ (३१); ये इकतीस उपनिषद् अथर्ववेद के अन्तर्गत हैं॥५॥

[ऋग्वेदीय १० + सामवेदीय १६ + शुक्ल यजुर्वेदीय १९ + कृष्ण यजुर्वेदीय ३२ + अथर्ववेदीय ३१ = १०८ उपनिषद्]।

मूल—श्रीराम उवाच। ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वारः ईरिताः। तेषां शाखा ह्येनकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥ ११॥ ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः। नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥ १२॥ सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप। अथर्वणस्य शाखाः स्युः पंचाशद्भेदतो हरे॥ १३॥ एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता॥ १३½॥

अर्थ—श्रीराम ने कहा—ऋग्वेदादि चार वेद हैं। इनकी शाखाएँ अनेक हैं। ऐसे ही उपनिषद् भी (अनेक) हैं। ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं। हे पवनसुत (हनुमान)! यजुर्वेद की १०९ शाखाएँ हैं। हे शत्रु-संतापकारी! सामवेद की १,००० शाखाएँ हैं। हे कपि! अथर्ववेद

की ५० शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषद् है। (२१ + १०९ + १,००० + ५० = ११८० चारो वेदों की शाखाएँ हैं और प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषद् होने के कारण उपनिषद् भी ११८० ही हैं।) ॥१३½॥

मूल—सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्॥ ४३½॥

अर्थ—सब उपनिषदों में १०८ उपनिषद् ही सार हैं॥४३½॥

मूल—दयासमुद्रं सद्गुरुं विधिवदुपसंगम्योपहार-पाणयोऽष्टोत्तरशतोपनिषदं विधिवदधीत्य श्रवणमननिदिध्यासनानि नैरन्तर्येण कृत्वा प्रारब्ध क्षयाद्देहत्रयभंगं प्राप्योपाधिविनिर्मुक्तघटाकाश-वत्परिपूर्णता विदेहमुक्तिः सैव कैवल्यमुक्तिरिति। अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता । न कर्मसांख्ययोगोपासनादिभिरित्यु-पनिषत्।

भावार्थ—दयासमुद्र सद्गुरु के समीप यथाविधि गमन करके १०८ उपनिषदों (जिनके नाम लिखे जा चुके हैं) को पढ़कर निरन्तर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार के अनुष्ठान से प्रारब्ध कर्म नष्ट होकर तीनों देह नष्ट हो जाती हैं। तब उपाधियों से मुक्त घटाकाश की तरह परिपूर्णतारूप विदेह-मुक्ति हो जाती है, इसी को कैवल्य मुक्ति कहते हैं। इसलिए जाना जाता है कि सबको ही कैवल्य मात्र के ज्ञान से ही कैवल्य मुक्ति साधित होती है, कर्मयोग, सांख्ययोग और उपासना से नहीं।

(श्रवण = सुनना; मनन = विचारना; निदिध्यासन = मनन किये हुए विषय का ध्यान करना।)

अध्याय २

मूल—स होवाच श्रीरामः। पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुख-दुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति। तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः। उपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्प्रारब्धक्षयाद्विदेह मुक्तिः । जीवन्मुक्तिविदेहमुक्त्योरष्टोत्तरशतोपनिषदः प्रमाणम्। कर्तृत्वादि-दुःखनिवृत्तिद्वारा नित्यानन्दावाप्तिः प्रयोजनं भवति। तत्पुरुष- प्रयत्नसाध्यं भवति। यथा पुत्रकामेष्टिना पुत्रं वाणिज्यादिना वित्तं ज्योतिष्टोमेन

स्वर्गं तथापुरुषप्रयत्नसाध्यवेदान्तश्रवणादि- जनितसमाधिना जीवन्मुक्त्यादि लाभो भवति.....॥ १॥

भावार्थ—श्रीराम कहने लगे—मैं कर्त्ता, भोक्ता, सुखी तथा दुःखी हूँ; इत्यादि वृत्ति ही चित्त का धर्म है। इस तरह की वृत्ति ही पुरुष को क्लेश देनेवाली और बन्धन का कारण है। इन वृत्तियों के निरोध को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। और जब उपाधिमुक्त घटाकाश की तरह प्रारब्ध कर्म क्षय होकर देह नष्ट हो जाती है, उसी अवस्था को विदेहमुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति के संबंध में १०८ उपनिषद् ही प्रमाण हैं। जब कर्तृत्वादि दुःख निवृत्त हो जाता है, तब पुरुष को नित्यानन्द प्राप्त होता है। इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए मुक्ति का प्रयोजन है। यह मुक्ति मनुष्य के प्रयत्न से साधित होती है। जैसे पुत्रकामी व्यक्ति पुत्रेष्टि यज्ञ-द्वारा पुत्र, धनार्थी व्यक्ति वाणिज्यादि द्वारा धन तथा स्वर्गकामी मनुष्य ज्योतिष्टोम यज्ञ-द्वारा स्वर्गलाभ करते हैं; वैसे ही पुरुष के प्रयत्न से साधन-द्वारा वेदान्त-श्रवणादि-जनित समाधि से जीवन्मुक्त्यादि लाभ होते हैं॥१॥

मूल—द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥ २७॥

भावार्थ—चित्त-रूप वृक्ष के दो बीज हैं—प्राणस्पन्दन और वासना। इन दोनों में से एक के क्षीण हो जाने से दोनों ही नाश को प्राप्त होते हैं॥२७॥

मूल—अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा॥ २९॥

भावार्थ—मन जब वासना-विहीन होकर विषय को ग्रहण नहीं करता है, तब मन का अस्तित्व नष्ट हो जाता है और परम शान्ति का उदय होता है॥२९॥

मूल—एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥ ४०॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः॥ ४१॥

भावार्थ—जबतक मन नहीं जीता गया हो, तबतक एक तत्त्व

के दृढ़ अभ्यास से चित्त एवं अहंकार को पूर्ण रूप से नष्ट करके इन्द्रिय शत्रु को निग्रह करना। ऐसा होने से हेमन्तकाल के कमल-सदृश भोग-वासना का नाश हो जायगा॥४०-४१॥

मूल—उपविश्योपविश्यैकां चिन्तकेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥ ४३॥

भावार्थ—पुनः पुनः एकान्त में बैठने पर भी बिना सत् युक्ति के कोई भी मनोजय करने में समर्थ नहीं होता है॥४३॥

मूल—अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतंगजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च॥ ४४॥
वासना संपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥ ४५॥

भावार्थ—जैसे बिना अंकुश के दुष्ट मस्त हाथी वश नहीं होता, वैसे ही अध्यात्म-विद्या की शिक्षा, साधु-संग, वासना-परित्याग तथा प्राणस्पन्दन-निरोध के बिना चित्त नहीं जीता जाता। ये सब चित्त के जय करने के प्रधान उपाय हैं॥४४-४५॥

मूल—सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतसो दीपमुत्सृज्य विचिन्वन्ति तमोऽञ्जनैः॥ ४६॥

भावार्थ—इन सब सत् युक्तियों के मौजूद रहने पर भी जो लोग चित्त पर हठात् (दुराग्रह से) काबू करना चाहते हैं, वे लोग दीपक (प्रकाश) त्यागकर अन्धकार में ढूँढ़ते हैं॥४६॥

मूल—विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः॥ ४७॥

भावार्थ—जो मूढ़ व्यक्तिगण हठात् (दुराग्रह से) चित्त जीतने को उद्यत होते हैं, वे मदमस्त गजराज को कमल-नाल के तन्तु में बाँधते हैं। (अर्थात् जैसे कमल-नाल के तन्तु में मदमस्त गजराज बाँधा नहीं जा सकता, वैसे ही हठात् चित्त जीता नहीं जा सकता)॥४७॥

मूल—चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते।
तत्साधनमथो ध्यानं यथावदुपदिश्यते॥ ४९॥

भावार्थ—ध्यान का कारण, जिससे ज्ञान तथा मुक्ति उपजती है, मन की एकविन्दुता (चित्त की एकाग्रता) है, अब तुमको जना दिया गया॥४९॥

मूल—ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥ ५३॥

भावार्थ—जब अहंकार-वृत्ति निरुद्ध होकर केवल ब्रह्माकार में चित्त की वृत्ति होकर रहती है, इसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं, यह अतिशय ध्यानाभ्यास से होती है॥५३॥

मूल—प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददायकम्।
असंप्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः॥ ५४॥

भावार्थ—जब चित्त की सब वृत्तियाँ प्रशान्त हो जायँगी, उसी अवस्था का नाम असंप्रज्ञात समाधि है। वह योगियों को प्रिय है॥५४॥

मूल—प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम्।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनि भावितः॥ ५५॥

भावार्थ—ज्योति, मन तथा बुद्धि-रहित होकर केवल चैतन्य आत्मा ही रहे, यह अतद्व्यावृत्ति (जिसको किसी दूसरे की आवश्यकता न हो) समाधिस्थ मुनियों से अभिलषित है॥५५॥

मूल—ऊर्ध्वपूर्णमधः पूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मकम्।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः॥ ५६॥

भावार्थ—(इस समाधि में) ऊपर, नीचे और मध्य; सर्वत्र कल्याणकारी ब्रह्म की परिपूर्णता की अनुभूति होती है, विधि-मुख (कथित) यह पारमार्थिक समाधि है॥५६॥

मूल—बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन मारुते ज्योतिरान्तरम्॥ ६३॥

भावार्थ—बहुत-से शास्त्रों की कथाओं को मथने से क्या फल? हे वायुसुत! अत्यन्त यत्नवान होकर केवल अन्तर की ज्योति की खोज करो॥६३॥

मूल—दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
य आस्ते कपिशार्दूल ब्रह्म स ब्रह्मवित्स्वयम्॥ ६४॥

भावार्थ–हे कपिशार्दूल ! दृश्य और अदृश्य को त्यागकर (पुरुष) कैवल्य-स्वरूप हो जाता है। वह केवल ब्रह्मज्ञानी नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्म ही है॥६४॥

मूल–अधीत्य चतुरो वेदान्सर्वशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥ ६५॥

भावार्थ–वह, जिसने चारो वेदों और सब शास्त्रों को पढ़ा हो, पर ब्रह्म-तत्त्व न जाना हो, पाक (पके हुए भोजन) के स्वाद को न जाननेवाले कलछुल के तुल्य है॥६५॥

मूल–बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनां संपरित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज॥ ६८॥

भावार्थ–वासना का बन्धन ही बन्धन है और वासना का नाश ही मोक्ष है। सब वासनाओं को त्यागकर मोक्ष की इच्छा भी त्याग दो॥६८॥

मूल–अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनामगोत्रं मम रूपमीदृशं भजस्व नित्यं पवनात्मजार्त्तिहन्॥ ७२॥

भावार्थ– हे पवनतनय ! अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अविनाशी, अस्वाद, अगन्ध, अनाम और गोत्रहीन, दुःखहरण करनेवाले मेरे इस तरह के रूप का तुम नित्य भजन करो॥७२॥

ब्रह्मोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का)

जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः।
नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥

भावार्थ–जीव जाग्रत् और स्वप्न में पुनः पुनः आता-जाता रहता है। जीव का वासा जाग्रत् में नेत्र में, स्वप्न में कण्ठ में, सुषुप्ति में हृदय में और तुरीयावस्था में मस्तक में होता है।

नादविन्दूपनिषद्

(ऋग्वेद का)

ब्रह्मप्रणव संधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥ ३०॥

अर्थ–प्रणव-ब्रह्म के योग (नादानुसन्धान-योग) से वह नाद प्रकट होता है, जो ज्योतिर्मय और कल्याणकारी है; और वह बादल के छिन्न-भिन्न हो जाने पर जैसे सूर्य चमकता है, वैसे ही आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है॥३०॥

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥ ३१॥

अर्थ–सिद्धासन में स्थित होकर वैष्णवी मुद्रा का अभ्यास करते हुए योगी दाहिने कान से अन्तरी नाद सर्वदा सुने॥३१॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्॥ ३२॥

अर्थ–नाद का अभ्यास इस प्रकार करने से बाहरी शब्द के लिए वह बहरा बना देता है। सभी बाधाओं को जय कर लेने पर पन्द्रह दिन के भीतर तुरीय अवस्था में प्रवेश करता है॥३२॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाऽभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥ ३३॥

अर्थ–अभ्यास के आरम्भ में भारी-भारी ध्वनियों को सुनता है। अभ्यास के बढ़ने पर ये ध्वनियाँ क्रमशः अधिकाधिक बारीक सुनाई पड़ती हैं॥३३॥

आदौ जलधि जीमूत भेरी निर्झर संभवः।
मध्ये मर्दल शब्दाभो घण्टा काहलजस्तथा॥ ३४॥

अर्थ–आरम्भ में नाद समुद्र, बादल, दुन्दुभि, जलप्रपात से निकले हुए जैसे मालूम होते हैं और मध्य में मर्दल, घंटा और सिंघा जैसे॥३४॥

अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥ ३५॥

अर्थ–अन्तिम अवस्था में किंकिणी (मजीरा), मुरली, वीणा और मधुमक्खियों की भनभनाहट-जैसे। इस प्रकार वह अनेक बारीक-से-बारीक नादों को सुनता है॥३५॥

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्॥ ३६॥

अर्थ–जब वह उस पद पर जाता है, जहाँ बड़ी दुन्दुभि का नाद सुनता है, उस समय उसे केवल बारीक (सूक्ष्म-से-सूक्ष्म) नादों को परखने का प्रयत्न करना चाहिए॥३६॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत्॥ ३७॥

अर्थ–भारी नाद से बारीक या बारीक से भारी नाद की ओर अपने ध्यान को बदल सकता है, परन्तु वह अपने ध्यान को दूसरी ओर न ले जाय॥३७॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते॥ ३८॥

अर्थ–किसी नाद पर अपने मन को स्थिर कर लेने से वह उस पर स्थित हो जाता है और उसी में तल्लीन हो जाता है॥३८॥

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते॥ ३९॥

अर्थ–बाहरी भावों से विस्मृत होकर दूध एवं जल की नाईं वह उसमें मिल जाता है और शीघ्र ही चिदाकाश में लय हो जाता है॥३९॥

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाऽभ्यासेन संयमी।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत्॥ ४०॥

अर्थ–सभी विषयों से उदासीन होकर योगी अपने मनोविकारों को नियंत्रित करके नाद पर अपने ध्यान को निरन्तर अभ्यास-द्वारा स्थिर करे, जिससे उन्मनी प्राप्त होती है॥४०॥

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टा विवर्जितः।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते॥ ४१॥

अर्थ–सब चिन्ताओं और सब चेष्टाओं को त्यागकर योगी नाद का ही ध्यान करता हुआ नाद में चित्त को लय करे॥४१॥

मकरन्दं पिबन्भृंगो गन्धान्नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति।
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः॥ ४२॥

अर्थ–जिस प्रकार भौंरा फूल के केसर वा रस का पान करता

हुआ उसकी सुगन्ध की चिन्ता नहीं करता है, उसी प्रकार चित्त जो नाद में सर्वदा लीन रहता है, विषय-चाहना नहीं करता है; क्योंकि वह नाद की मिठास में वशीभूत है तथा अपनी चंचल प्रकृति को त्याग चुका है॥४२॥

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरंग भुजंगमः।
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति॥ ४३॥

अर्थ–नागरूप चित्त नाद का अभ्यास करते-करते पूर्ण रूप से उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयों को भूलकर नाद में अपने को एकाग्र करता है॥४३॥

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः॥ ४४॥

अर्थ–नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्त को, जो विषयों की आनन्द-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है॥४४॥

नादोऽन्तरंग सारंग बन्धने वागुरायते।
अन्तरंगसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा॥ ४५॥

अर्थ–मृग-रूपी चित्त को बाँधने के लिए यह (नाद) जाल का काम करता है। समुद्र-तरंग-रूपी चित्त के लिए यह (नाद) तट का काम करता है॥४५॥

ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ४६॥

अर्थ–प्रणव से उत्थित नाद, जो ब्रह्म है, चेतन-स्वरूप (अर्थात् ज्योतिर्मय) है, मन उसमें लीन हो जाता है और वही विष्णु का परम पद है॥४६॥

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते॥ ४७॥

अर्थ–जबतक आकाश-संकल्प है, तबतक नाद की स्थिति रहती है, उसके परे अशब्द परब्रह्म परमात्मा है॥४७॥

नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी।

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥ ४८॥

अर्थ–जबतक नाद की स्थिति रहती है, तबतक मन रहता है। नाद के विलीन होने पर मन उन्मनी को प्राप्त होता है (अर्थात् मन संकल्प-विकल्प त्यागकर लय हो जाता है)। नाद अक्षर (अनाश ब्रह्म) में विलीन हो जाता है और अशब्द परमपद है॥४८॥

सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना तु या।
निरंजने विलीयते मनोवायू न संशयः॥ ४९॥

अर्थ–नाद के सतत अभ्यास से वासना क्षीण हो जाती है और मन तथा प्राणवायु निरंजन (निर्माया) में लय हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है॥४९॥

नादकोटिसहस्राणि विन्दुकोटिशतानि च।
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्म प्रणवनादके॥ ५०॥

अर्थ–असंख्य नाद तथा करोड़ों विन्दु ब्रह्म के प्रणव-नाद में विलीन हो जाते हैं॥५०॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः॥ ५१॥

अर्थ–सभी अवस्थाओं और सभी चिन्ताओं से छूटकर मृतक के समान योगी रहता है। वह मुक्त है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है॥५१॥

शंखदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्ज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्॥ ५२॥

अर्थ–इसके पश्चात् किसी समय भी शंख या दुन्दुभि के नाद को वह (अभ्यासी) नहीं सुनता है। निश्चय ही उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर उसकी देह काष्ठवत् हो जाती है॥५२॥

न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा।
न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना॥ ५३॥
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा।
जाग्रन्निद्रा विनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थितामियात्॥ ५४॥

अर्थ–ठण्ढ, गर्मी और सुख-दुःख को वह कुछ नहीं जानता है।

योगी का चित्त सदा मान और अपमान को त्यागकर समाधि से तीनों अवस्थाओं को पार करता है। जाग्रत् और निद्रावस्था से छूटकर वह आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है॥५३-५४॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः॥ ५५॥

अर्थ–जिसकी दृष्टि बिना किसी दृश्य आधार के स्थिर हो जाती है, जिसका प्राणवायु बिना किसी प्रयत्न के अचल हो जाता है, जिसका चित्त बिना किसी अवलम्ब के स्थिर हो जाता है, वह तार ब्रह्म (प्रणव ब्रह्म) के आन्तरिक नाद का स्वरूप ही हो जाता है॥५५॥

ध्यानविन्दूपनिषद्

(सामवेद का)

मूल–यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥ १॥

अर्थ–कई योजन तक फैला हुआ पहाड़ के समान यदि पाप हो तो वह ध्यानयोग से नष्ट हो जाता है; इसके समान पापों का नष्ट करनेवाला कभी कुछ नहीं हुआ है॥१॥

मूल–बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥ २॥

अर्थ–परम विन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है॥२॥

मूल–अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥ ३॥

अर्थ–अनाहत के बाद जो निःशब्द परम पद है, योगी उसे सबसे बढ़कर समझते हैं, जहाँ सब संशय दूर हो जाते हैं॥३॥

मूल–बालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरंजनम्॥ ४॥

अर्थ–यदि केश की नोक को सौ हजार भाग करें, तो उसका फिर भाग करने पर जो आधा भाग होगा, वह नाद का स्वरूप होगा

और जब यह नाद भी लय हो जाता है, तब योगी निरंजन ब्रह्म को प्राप्त करता है॥४॥

मूल–अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः॥ १२॥
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्ण तामसः॥ १२½॥

अर्थ–अ = रजोगुण = पीतवर्ण; उ = सत्त्वगुण = शुक्लवर्ण; म = तमोगुण = कृष्णवर्ण।

मूल– तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टा निनादवत्।
विन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित्॥ ३७॥

अर्थ–अटूट तेल-धारा तथा घण्टे के दीर्घ नादवत्, विन्दु, नाद तथा कला के परे जो जानता है, वह वेदज्ञ है॥३७॥

मूल–स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम्।
रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु विन्दुमाहेश्वरं पदम्।
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुत इत्युपनिषत्॥ १०५॥

अर्थ–मनुष्यों को अपनी आत्मा की ओर देखना चाहिए, जहाँ जाकर मन लय हो जाता है। जो रत्नों को, चन्द्र-ज्योति को, नाद को, विन्दु को और महेश्वर के परमपद को जानता है, वह कैवल्य पद पाता है। यही उपनिषद् है॥१०५॥

शाण्डिल्योपनिषद्
(अथर्ववेद का) अध्याय १

मूल–विद्वान्समग्रीवशिरो नासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्विम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत्॥ १६॥

अर्थ–विद्वान गला और सिर को सीधा करके नासिका के आगे दृष्टि रखते हुए, भ्रुवों के बीच में चन्द्रमा के बिम्ब को देखते हुए नेत्रों से अमृत का पान करें॥१६॥

मूल–यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥ २३॥

अर्थ–जैसे सिंह, हाथी और बाघ धीरे-धीरे काबू में आते हैं, इसी तरह प्राणायाम (अर्थात् वायु का अभ्यास कर वश में करना) भी किया जाता है, प्रकारान्तर होने से वह अभ्यासी को मार

डालता है॥२३॥

मूल–द्वादशांगुल पर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३२॥

अर्थ–जब ज्ञानदृष्टि (सुरत, चेतन-वृत्ति) नासाग्र से बारह अंगुल पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो, तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है॥३२॥

मूल–भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३३॥

अर्थ–जब चेतन अथवा सुरत भौंओं के बीच के तारक-लोक (तारा-मंडल) में पहुँचकर स्थिर होती है, तो प्राण की गति बन्द हो जाती है॥३३॥

मूल–चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३५॥

अर्थ–हृदयाकाश में संकल्प-विकल्प और वासनाहीन मन से बहुत दिनों तक ध्यान करने से प्राण की गति रुक जाती है॥३५॥

मूल–तारसंयमात्सकलविषयज्ञानं भवति।

अर्थ–तारा (प्रणव-विन्दु) में संयम करने से सब विषयों का ज्ञान होता है। (संयम की पूर्णता समाधि में है।)

मूल–कायाकाशसंयमादाकाशगमनम्।

अर्थ–शरीर के आकाश में संयम करने पर आकाश में गमन होता है।

अध्याय २

मूल–अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षुवेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति। स होवाचाऽथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। तदपाणिपादमचक्षुः श्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्। यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।

अर्थ–चारो वेदों में-से ब्रह्म-विद्या नहीं प्राप्त कर ब्रह्म-ऋषि शाण्डिल्य ने भगवान अथर्वण ऋषि के पास जाकर कहा–'हे भगवन्! ब्रह्मविद्या का मुझे उपदेश कीजिए, जिससे मेरा कल्याण हो।' अथर्वण ऋषि ने कहा–'हे शाण्डिल्य! ब्रह्म सत्य, विज्ञान और अनन्त है, जिसमें यह संसार ओतप्रोत है। (ओत=बुना हुआ। प्रोत=गुँथा हुआ) जिसमें यह सारा ब्रह्माण्ड (विश्व) स्थिर है और जिसको जान लेने से इस संसार का भी सार जाना जाता है। वह ब्रह्म बिना हाथ, पैर, नेत्र, कान, जिह्वा तथा शरीर का है। जो ग्रहण करने योग्य तथा वर्णन करने (वा देखने) योग्य नहीं है, वाक्य और मन जहाँ से लौट आते हैं; क्योंकि इनको (अर्थात् मन-वाणी को) वह अप्राप्य (नहीं प्राप्त होने योग्य) है।'

वराहोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का) **अध्याय २**

मूल–दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ ७६॥

अर्थ–बिना सद्गुरु की कृपा के विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्व (ब्रह्मतत्त्व)-दर्शन दुर्लभ है और सहज समाधि की अवस्था भी दुर्लभ है॥७६॥

मूल–इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथस्तन्नाथं लयमाश्रय॥ ८०॥
पुंखानुपुंखविषयेक्षण तत्परोऽपि ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
संगीततालललयवाद्यवशं गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव॥ ८२॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥ ८३॥

अर्थ–इन्द्रियों का नाथ मन है, मन का वायु है और वायु का नाथ लय है; इसलिए लय का अवलम्बन करना चाहिए (अर्थात् लययोग का अभ्यास करना चाहिए)॥८०॥ जो योगी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों को देखने में समर्थ है, उसकी बुद्धि ब्रह्म के देखने से कभी विचलित नहीं होती है, वैसे ही, जैसे कि कोई नटी सिर पर घड़ा

रखकर हर तरह से नाचती, गाती और बजाती है; पर घड़ा उसके सिर से नहीं गिरता॥८२॥ योग-साम्राज्य की इच्छा करनेवाले मनुष्यों को सब चिन्ता त्यागकर सावधान होकर नाद की ही खोज करनी चाहिए॥८३॥

अध्याय ४

मूल–शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते।
शुको विहंगमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका॥ ३६॥

अर्थ–देवताओं ने शुक और वामदेव नामक दो मार्गों को बनाया है। शुक-मार्ग विहंगम-मार्ग के नाम से विख्यात है और वामदेव-मार्ग पिपीलिका-मार्ग के नाम से ॥३६॥

लययोग = विहंगम-मार्ग = शुक (मुनि) का मार्ग।
हठयोग = पिपीलिका-मार्ग = वामदेव (मुनि) का मार्ग।

अध्याय ५

मूल– ...पंचभूतात्मको देहः पंचमण्डलपूरितः...॥ १॥

अर्थ–यह शरीर पंचभूतों से बना हुआ है और इसमें पाँच मंडल हैं॥१॥

मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

(शुक्ल यजुर्वेद का)

ब्राह्मणं १

मूल– ....निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरंग तृष्णावर्त दारपंकं संसारवार्धितर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत्। भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं तारकं ब्रह्म....॥ २॥

अर्थ–निद्रा, भय आदि जहाँ जीव-जन्तु हैं, हिंसा आदि तरंगवाले, तृष्णा-रूपी भँवरवाले, स्त्री-रूपी पंकवाले, संसार-रूपी समुद्र को तरने के लिए सूक्ष्ममार्ग का अवलम्बन करके, सत्त्वादि गुणों को पार करके, दोनों भौंओं के बीच में सत्-चित्-आनन्द-तेजपुंज तारक-ब्रह्म का अवलोकन करें॥२॥

ब्राह्मणं २

मूल–....तन्मध्येजगल्लीनम्। तन्नादविन्दुकलातीतमखण्ड-

मण्डलम्। तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम्। तद्वेत्ता विमुक्तः। आदावग्नि-मण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम्। तन्मध्ये-ऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्। तदेव शाम्भवीलक्षणम्। तद्दर्शने तिस्त्रो मूर्तयः अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति। निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। ···तल्लक्ष्यं नासाग्रम्···। तदभ्यासान्मनः स्थैर्यम्। ततोवायु स्थैर्यम्। तच्चिह्नानि आदौ तारकवद्दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत उपरिपूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्नप्रभा-मण्डलम्। ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद्दृश्यते॥ १॥ तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधू म्रविन्दुनादकलानक्षत्रखद्योत-दीपनेत्रसुवर्णनवरत्नादि प्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम्॥ २॥

अर्थ—उस (ब्रह्म) के अन्दर संसार लीन (डूबा हुआ) है। वह (ब्रह्म) नाद, विन्दु और कला के परे, सगुण, निर्गुण तथा अखण्डमण्डल-स्वरूप है; इसका जाननेवाला विमुक्त होता है।

पहले अग्निमण्डल है, इसके ऊपर सूर्यमण्डल है, उसके बीच में सुधामय चन्द्रमण्डल है और उसके मध्य में अखण्ड ब्रह्मतेजमण्डल है, वह शुक्ल बिजली की धार के समान चमकीला है। केवल यही शाम्भवी का लक्षण है। उसे देखने के लिए तीन दृष्टियाँ होती हैं; अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा। आँख बन्द कर देखना अमादृष्टि है, आधी आँख खोलकर देखना प्रतिपदा और पूरी आँख खोलकर देखना पूर्णिमा है। उसका लक्ष्य नासाग्र होना चाहिए।

उसके अभ्यास से मन की स्थिरता आती है। इससे वायु स्थिर होता है। उसके ये चिह्न हैं—आरम्भ में तारा-सा दीखता है। तब हीरा के ऐना की तरह दीखता है। उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल दिखलाई देता है। उसके बाद नौ रत्नों का प्रभामण्डल दिखाई देता है। उसके बाद दोपहर का सूर्यमण्डल दिखाई देता है। उसके बाद अग्निशिखामण्डल दिखाई देता है। ये सब क्रम से दिखाई देते हैं॥१॥ तब पश्चिम की ओर प्रकाश दिखाई देता है। स्फटिक, धूम्र

(धुआँ), विन्दु, नाद, कला, तारा, जुगनू, दीपक, नेत्र, सोना और नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती है। केवल यही प्रणव का स्वरूप है···॥२॥

मूल—पंचावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः···॥ ४॥

अर्थ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत; ये पाँच अवस्थाएँ हैं॥४॥

मूल—सर्व परिपूर्ण तुरीयातीत ब्रह्मभूतो योगी भवति॥ ५॥

अर्थ—पूर्ण योगी तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त कर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥५॥

ब्राह्मणं ४

···आकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पंच भवन्ति। बाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम्। सबाह्यस्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम्॥ १॥

अर्थ—पाँच आकाश हैं—आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश। बाहर और अन्दर जो अन्धकारमय हो, वह आकाश है। बाहर और अन्दर जो कालाग्नि के समान हो, उसे पराकाश कहते हैं। बाहर और अन्दर अपरिमित तेज के समान तत्त्व को महाकाश कहते हैं। अन्दर और बाहर सूर्य के समान चमक जिसमें है, उसे सूर्याकाश कहते हैं। अकथनीय सर्वव्यापक सर्वोत्तम आनन्दज्योति को परमाकाश कहते हैं॥१॥

ब्राह्मणं ५

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

अर्थ—अनाहत शब्द का जो शब्द है, उसकी जो ध्वनि है, उस ध्वनि के अन्दर ज्योति (चेतन) है और ज्योति के अन्दर मन (लय को प्राप्त होता) है।

ब्रह्मविन्दूपनिषद्

मूल–शब्दाक्षरं परं ब्रह्म यस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः॥ १६॥

अर्थ–शब्द और अक्षर परब्रह्म हैं, एक के क्षीण हो जाने पर अन्य अक्षर रहता है। उसको जाननेवाला अक्षर का ध्यान करे, यदि वह अपनी आत्मा की शान्ति चाहता हो॥१६॥

मूल–द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ १७॥

अर्थ–दो विद्याएँ समझनी चाहिए, एक तो शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है॥१७॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का)

अध्याय १

मूल–उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥ ७॥

अर्थ–(उद्गीथ) उद्गीत (अर्थात् ॐ) परम ब्रह्म है। उसमें तीन सुप्रतिष्ठित अक्षर (अ, उ, म्) हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग भीतरी हालत (रहस्य=गुप्त भेद) जानकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। (अर्थात् ॐ = उद्गीत में लीन हो जाते हैं) ॥७॥

[टिप्पणी–छान्दोग्योपनिषद् के एक सुप्रतिष्ठित टीकाकार रायबहादुर बाबू जालिम सिंह, निवासी ग्राम अकबरपुर, जिला फैजाबाद ने लिखा है–'सृष्टि रचने के पहले सृष्टि-उत्पत्ति-निमित्त जब ईश्वर में इच्छा उठती है, तब एक बड़ा घोर शब्द (ध्वन्यात्मक) अर्थ-रहित गूँज के साथ निकलता है, उस शब्द को सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे ॐ–अ, उ, म् में आरोप कर लेते हैं।' सन् १९१७ ई० में मुद्रित (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ), भाषा-टीका-सहित छान्दोग्योपनिषद् देखिए।]

मैत्रायण्युपनिषद्

(सामवेद का) पंचम प्रपाठक

मूल–द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म·····॥ ३॥

अर्थ–ब्रह्म के दो रूप होते हैं, एक मूर्त्त और दूसरा अमूर्त्त; जो मूर्त्त है, वह असत्य है; जो अमूर्त्त है, वह सत्य ब्रह्म है॥३॥

मैत्रेय्युपनिषद्

(सामवेद का) अध्याय २

मूल–मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे॥ १३॥

अर्थ–मोहमयी माता मर गई, बोधमय पुत्र का जन्म हुआ। इन दो सूतकों के हो जाने पर अब संध्या कैसे करूँ ? ॥१३॥

मूल–हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे॥ १४॥

अर्थ–हृदय-आकाश में चैतन्य-रूप सूर्य बराबर उगा रहता है, न कभी अस्त होता है और न कभी उदय लेता है; संध्या कैसे करूँ ? ॥१४॥

मूल–एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम्।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम्॥ १५॥

अर्थ–एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं, जब ऐसा ज्ञान गुरु से प्राप्त हो गया, तब यही एकान्त स्थान है, मठ और वन नहीं॥१५॥

मूल–असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्ट चेतसाम्।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात्॥ १६॥

अर्थ–असंशयवालों को ही मुक्ति मिलती है, संशयवालों को कई जन्मों में भी मुक्ति नहीं प्राप्त होती, अतः विश्वास प्राप्त करना चाहिए॥१६॥

मूल–कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु।
संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः॥ १७॥

अर्थ–कर्म का त्याग संन्यास (त्याग) नहीं कहलाता है और न संन्यास के दीक्षा-मंत्र के उच्चारण से ही (त्याग होता है)। संध्याओं में जीव (आत्मा) और (परम) आत्मा की एकता होनी असली संन्यास कहलाता है॥१७॥

मूल–वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः॥ १८॥

अर्थ–सब प्रकार की कामना को वमन के समान जो विचारता है और जिसने देहाभिमान छोड़ दिया है, उसी का संन्यास में अधिकार है॥१८॥

मूल–यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत्॥ १९॥

अर्थ–सब विषयों से मन में जभी वैराग्य उत्पन्न हो, उसी समय विद्वान संन्यास धारण करे। प्रकारान्तर से (संन्यास ग्रहण करने पर) उसका पतन हो जाएगा॥१९॥

मूल–द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा।
संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति॥ २०॥

अर्थ–जो द्रव्य के लिए, अन्न-वस्त्र के लिए या प्रतिष्ठा के लिए संन्यास करे, तो वह उभय (संसार और परमार्थ से) भ्रष्ट होकर मुक्ति नहीं पा सकता है॥२०॥

मूल–उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम्।
अधमा मंत्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा॥ २१॥

अर्थ–तत्त्व (सार वस्तु) की चिन्ता (ध्यान) उत्तम है। शास्त्र-चिन्ता मध्यम है। मन्त्र-चिन्तन (मंत्र-जप) अधम है और तीर्थ-भ्रमण अधमाधम है॥२१॥

मूल–पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय॥ २६॥

अर्थ–पत्थर, लोहा, मणि और मिट्टी की मूर्ति की पूजा करने से मोक्षार्थी को पुनः भोग-जन्म आदि प्राप्त होते हैं, अतः यति को चाहिए कि अपने हृदय का पूजन करे (अर्थात् अपने अन्तर में

ही पूजन करे; सारांश अन्तर्मार्गी बने)। पुनर्जन्म आदि के लिए बाहरी पूजन न करे॥२६॥

अध्याय ३

मूल–द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि…॥ ४॥
अर्थ–मैं द्वैत-अद्वैत से रहित हूँ॥४॥
मूल–…भावाभावविहीनोऽस्मि …॥ ५॥
अर्थ–मैं भाव-अभाव से रहित हूँ॥५॥
मूल–…देहादिरहितोऽस्म्यहम्॥ ८॥
अर्थ–मैं देहादि से रहित हूँ॥८॥
मूल–…चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः …॥ १०॥
अर्थ–मैं चित्तादि से रहित हूँ, पर से भी परम परे हूँ॥१०॥
मूल–…सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि …॥ १२॥
अर्थ–मैं सर्वतीर्थ स्वरूप हूँ॥१२॥
मूल–…अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम्॥ १८॥
अर्थ–मैं अन्तर से भी अन्तर हूँ॥१८॥
मूल–…देशकालविमुक्तोऽस्मि …॥ १९॥

अर्थ–मैं देश (स्थान), काल (समय) से विमुक्त (विशेष कर छूटा हुआ) हूँ॥१९॥

मूल–सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि …। गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः॥ २३॥

अर्थ–मैं सत्य और असत्यादि से हीन हूँ। मुझे चलने के लिए स्थान नहीं है। मुझे चलना इत्यादि नहीं है॥२३॥

क्षुरिकोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का)

मूल–इडा तिष्ठति वामेन पिंगला दक्षिणेन च॥ १६॥
तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्॥ १६$^{१}/_{२}$॥

अर्थ–इड़ा बाईं ओर रहती है, पिंगला दक्षिण (दाहिने) में है। उन दोनों के बीच में श्रेष्ठ स्थान है, जो उसे जानता है, वही वेदज्ञ है॥१६-१६$^{१}/_{२}$॥

तेजोविन्दूपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का) **अध्याय १**

मूल–तेजो विन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्॥ १॥

अर्थ–हृदय-स्थित विश्वात्म-तेजस्-स्वरूप विन्दु का ध्यान परम ध्यान है॥१॥

अध्याय ४

मूल–नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः।
तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः॥ ४९॥

अर्थ–आत्मा नाम और रूप से विहीन, परज्ञान-स्वरूप, सुखमय, तुरीय से भी अतीत, शुभ और अशुभ से विवर्जित है॥४९॥

योगतत्त्वोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का)

मूल–नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः॥ ६॥

अर्थ–कैवल्य परम पद, नाना मार्गों से दुष्प्राप्य है। नाना शास्त्रों के जाल में पड़े लोग उनकी (शास्त्रों की) बुद्धि से मोहित हो रहे हैं॥६॥

मूल–अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते॥ ७॥

अर्थ–वह अनिर्वचनीय (अवर्णनीय) पद ऐसा है कि देवता भी उसके संबंध में नहीं कह सकते हैं। वह स्वयंप्रकाश-स्वरूप क्या शास्त्र-द्वारा प्रकाशित हो सकता है? (अर्थात् वह पद शास्त्र-द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता है)॥७॥

मूल–योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्॥ १४॥

अर्थ–योगहीन ज्ञान कैसे मोक्षप्रद हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता है।) यह निश्चित है॥१४॥

मूल–योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥ १५॥

अर्थ–ज्ञानहीन योग भी मोक्ष-कार्य में समर्थ नहीं हो सकता।

अतः मुमुक्षु को चाहिए कि दृढ़ता के साथ ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास करे॥१५॥

मूल–प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्॥ ४७½॥

अर्थ–प्रातःस्नान, उपवास आदि शारीरिक क्लेशों को छोड़ दे॥४७½॥

मूल–न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्यकस्यापि योगिराट्॥ ७६॥

अर्थ–योगिराट (श्रेष्ठ योगी) को चाहिए कि जिसी किसी को अपनी सामर्थ्य (सिद्धि-शक्ति) न दिखलावे॥७६॥

मूल–सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्॥ १०५॥

अर्थ–सगुण का ध्यान अणिमा आदि गुणों को देनेवाला है। निर्गुण ध्यान से युक्त को समाधि होती है॥१०५॥

त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्

मूल–शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत्प्रणम्य प्रांजलिर्भूत्वा विनयेनोपसंगम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति।

अर्थ–शान्त, दमनशील, अति विरक्त, अति शुद्ध, गुरुभक्त, तपोनिष्ठ शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर नम्रता के साथ कहे–'हे भगवन् मेरे गुरु! परम तत्त्व-रहस्य विवेचन के साथ मुझे बतलाइये॥'

मूल–अमित वेदान्तवेद्यं ब्रह्म।

अर्थ–अमित वेदान्त से ही ब्रह्म जाना जाता है।

महोपनिषद्, अध्याय ३

मूल–भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥ १५॥

अर्थ–अविवेकी के लिए शास्त्र भार है, रागी के लिए ज्ञान भार है, अशान्त मनुष्य के लिए मन भार है और जो आत्मज्ञानी नहीं है, उसको शरीर भार है॥१५॥

अध्याय ४

मूल–मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः॥ २॥

अर्थ–मोक्ष के द्वार पर चार द्वारपाल रहते हैं–शम, विचार, सन्तोष और साधुसंग॥२॥

मूल–दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ ७७॥

अर्थ–सद्गुरु की दया के बिना विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्व-दर्शन दुर्लभ है और सहजावस्था दुर्लभ है॥७७॥

मूल–भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८२॥

अर्थ–परे से परे को (परमात्मा को) देखने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं॥८२॥

अध्याय ५

मूल–शास्त्रसज्जनसंपर्क वैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ २८॥

अर्थ–शास्त्र एवं सज्जन-संसर्ग, वैराग्य और अभ्यासपूर्वक सदाचार की ओर प्रवृत्ति करने को विचारना कहते हैं॥२८॥

मूल–भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते॥ ९६½॥

अर्थ–भोग की इच्छा रखना बन्ध और उसका त्याग मोक्ष कहलाता है॥९६½॥

अध्याय ६

मूल–सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥ ५॥

अर्थ–सब कुछ छोड़कर, मन को पीकर, जो तुम हो, वही हो, उसी पर स्थिर हो जाओ॥५॥

शारीरकोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का)

…ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं

जाग्रत्। अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः। चित्तैककरणा सुषुप्तिः। केवलजीवयुक्तमेव तुरीयमिति॥ ५॥

अर्थ–पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, चार अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त)–इन्हें मिलाकर १४ इन्द्रियों से युक्त जाग्रत् अवस्था है। चारो अन्तःकरणों से युक्त स्वप्न अवस्था है। केवल चित्त से युक्त सुषुप्ति अवस्था है और केवल जीव-युक्त तुरीयावस्था है॥५॥

योगशिखोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का) अध्याय १

मूल–योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥ १३॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥ १३½॥

अर्थ–योगहीन ज्ञान मोक्षप्रद भला कैसे हो सकता है ? उसी तरह ज्ञान-रहित योग भी मोक्ष-कार्य में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और योग; दोनों का अभ्यास दृढ़ता के साथ मुमुक्षु को करना चाहिए॥१३-१३½॥

मूल–देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत्।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येव जन्मकारणम्॥ ३१॥

अर्थ–देह-त्याग के समय चित्त में जो-जो भावनाएँ जीव करता है, वही-वही वह होता है, यही जन्म का कारण है॥३१॥

मूल–पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु मन्यते।
देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा॥ १६३॥
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते॥ १६३½॥

अर्थ–मरने पर जो मुक्ति होती है, वह मुक्ति नहीं है। मुक्ति वह है, जबकि जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है; जैसे नमक समुद्र में घुलकर एक हो जाता है। इस तरह जब जीव उससे अन्य नहीं रह जाता, तब मुक्ति होती है॥१६३-१६३½॥

मूल–विन्दुनाद महालिंगं शिवशक्तिनिकेतनम्॥ १६७॥
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥ १६७½॥

अर्थ–विन्दुनाद महालिंग है और शिव-शक्ति का घर है॥१६७॥ इस देह को शिवालय कहते हैं। सभी प्राणियों को इसमें सिद्धि मिलती है॥१६७½॥

मूल–…नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः॥ १७८॥

अर्थ–नाद-रूप मन का मण्डल भौंओं के बीच में है, यह ज्ञानियों ने कहा है॥१७८॥

अध्याय २

मूल–एतत्पीठमिति प्रोक्तं नादलिंगं चिदात्मकम्।
तस्य विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेज्जनः॥ ६॥

अर्थ–यह नादलिंग चिदात्मक पीठ (चैतन्यमय चौकी) कहा गया है, इसके ज्ञानमात्र से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है॥६॥

मूल–आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते।
सूक्ष्माभा विन्दुरूपेण पीठरूपेण वर्तते॥ १२॥

अर्थ–आधार शक्ति अव्यक्त है, उससे यह विश्व बनता है। वह सूक्ष्म आभावाली विन्दु-रूप पीठ (वेदी वा चौकी) रूप से विद्यमान है॥१२॥

मूल–विन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिंगमुपस्थितम्॥ १२½॥

अर्थ–विन्दुपीठ का भेदन करके नादलिंग उपस्थित होता है॥१२½॥

मूल–गुरूपदेशमार्गेण सहसैव प्रकाशते।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः॥ १४॥
पंचब्रह्ममयं रूपं स्थूलं वैराजमुच्यते।
हिरण्यगर्भं सूक्ष्मं तु नादं बीजत्रयात्मकम्॥ १५॥
परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अप्रमेयमनिर्देश्यमवाङ्मनसगोचरम्॥ १६॥
शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरंजनम्।
अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम्॥ १७॥
आत्ममन्त्रसदाभ्यासात्परतत्त्वं प्रकाशते।
तदभिव्यक्तिचिह्नानि सिद्धिद्वाराणि मे शृणु॥ १८॥

दीपज्वालेन्दुखद्योतविद्युन्नक्षत्रभास्वराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः॥ १९॥

अर्थ–(वह नादलिंग) गुरु-उपदेश-मार्ग से शीघ्र प्रकाशित होता है। ब्रह्म के तीन प्रकार के शरीर हैं–स्थूल, सूक्ष्म और पर (अर्थात् कारण)। पंच ब्रह्ममय जो रूप है, वही स्थूल और वैराज कहा जाता है। हिरण्यगर्भ सूक्ष्म है। वही तो नाद है, (जो) त्रयात्मक (मूल प्रकृति) का बीज है। पर जो ब्रह्म का शरीर है, वही सच्चिदानन्द लक्षण-रूप है। वही सत्य है, वही ब्रह्म है। वह (ब्रह्म) अप्रमेय (अचिन्त्यप्रभाव) और अनिर्देश्य (जो शब्दों के द्वारा प्रकाशित न किया जा सके), वाणी तथा मन से अगोचर है। शुद्ध, सूक्ष्म, निराकार, निर्विकार, निरंजन (माया-रहित), अनन्त, अपरिच्छेद्य (असीम = सीमा-रहित), उपमा-रहित और अनामय (रोग-रहित) है। आत्म-मंत्र (आत्मा–ब्रह्म-प्राप्ति की युक्ति का विचार) के अभ्यास से परतत्त्व का प्रकाश होता है। उसके जो प्रकाश-चिह्न हैं, वे ही सिद्धि के द्वार हैं, सुनो। योगयुक्त योगी को सूक्ष्म रूप से दीप, ज्वाला, चन्द्रमा, जुगनू, बिजली, तारा तथा सूर्य देखने में आते हैं॥१४-१९॥

मूल–नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः॥ २०॥
नानुसंधेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम्॥ २०½॥

अर्थ–नाद से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है, अपनी आत्मा से बढ़कर कोई देवता नहीं है, (नाद वा ब्रह्म की) अनुसन्धि (अन्वेषण वा खोज) से बढ़कर कोई पूजा नहीं है तथा तृप्ति से बढ़कर कोई सुख नहीं है॥२०-२०½॥

मूल–यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ॥ २१½॥

अर्थ–जिसकी देव में अत्यन्त भक्ति है, (उसकी गुरु में भी वैसी ही भक्ति होनी चाहिए), गुरु और देव समान हैं॥२१½॥

अध्याय ३

मूल–अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते…॥ २॥

अर्थ–अक्षर (अनाश) परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं…॥२॥

मूल–…अशब्दमस्पर्शमरूपमचक्षुःश्रोत्रनामकम्॥ १९॥

अर्थ–वह (ब्रह्म) अशब्द, स्पर्शहीन, रूप-रहित एवं चक्षु, कान और नाम-रहित है॥१९॥

मूल–ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमः पारे प्रतिष्ठितम्॥ २१$^{१}/_{२}$॥

अर्थ–(ब्रह्म) ज्योति से भी (बढ़कर) ज्योति है और अन्धकार के पार में विद्यमान है॥२१$^{१}/_{२}$॥

अध्याय ५

मूल–विन्दुनाद महालिंगं विष्णुलक्ष्मीनिकेतनम्।
देहं विष्णवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥ ४॥

अर्थ–विन्दुनाद-रूप जो महालिंग है, वही विष्णु और लक्ष्मी का घर है। इस देह को विष्णु-मंदिर (ठाकुरवाड़ी) कहते हैं। सभी प्राणियों को इसमें सिद्धि मिलती है॥४॥

मूल–भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ४५॥

अर्थ–उस परे-से-परे (ब्रह्म) को देख लेने पर हृदय की ग्रन्थि (गाँठ–गिरह) टूट जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं॥४५॥

मूल–नादे मनोलयं ब्रह्मन्दूरश्रवणकारणम्।
विन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात्॥ ४७॥

अर्थ–नाद में मन को लय करना, दूर सुनने में कारण है (अर्थात् नाद में मन को लय करने से दूर का सुनना हो सकता है)। विन्दु में मन को लय करके दूर-दर्शन प्राप्त करते हैं॥४७॥

मूल–गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चिन्त्रिषु लोकेषु विद्यते॥ ५६॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्॥ ५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथ गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥ ५८॥

अर्थ–गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव हैं। तीनों लोकों में गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। दिव्य ज्ञान के उपदेश देनेवाले

उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वर की भक्ति के साथ उपासना करे, तब वह (शिष्य) ज्ञान का फल प्राप्त करेगा। जैसे गुरु हैं, वैसे ही ईश हैं; जैसे ईश हैं, वैसे ही गुरु हैं; इन दोनों में भेद नहीं है; इस भावना से पूजा करे॥५६-५८॥

अध्याय ६

मूल–एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता।
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी॥ ५॥

अर्थ–एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें (सुषुम्ना) श्रेष्ठ है। सुषुम्ना पर में विद्यमान है, वह रजस्-रहित (सत्त्व-प्रधान) है, वह ब्रह्मस्वरूपिणी है॥५॥

मूल–इडा तिष्ठति वामेन पिंगला दक्षिणेन तु।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित्॥ ६॥

अर्थ–इड़ा बाईं ओर रहती है और पिंगला दाहिनी ओर। उन दोनों के बीच में जो स्थान है (सुषुम्ना), उसको जो जानता है, वही वेद जानता है॥६॥

मूल–अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः…॥ २१॥

अर्थ–अनाहत शब्द होता है, उस शब्द से ध्वनि निकलती है, उस ध्वनि में ज्योति विराजती है, उस ज्योति के भीतर मन को लीन किया जाता है॥२१॥

मूल– केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती॥ २१$^{१}/_{२}$॥

अर्थ–कोई-कोई आधार को सुषुम्ना और सरस्वती कहते हैं॥२१$^{१}/_{२}$॥

मूल–आधारचक्रमहसा विद्युत्पुंजसमप्रभा।
तदा मुक्तिर्न संदेहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः॥ २६॥

अर्थ–बिजली-पुंज के समान प्रभा (प्रकाश) वाले आधारचक्र के ज्ञान-प्रकाश से मुक्ति हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं, जबकि गुरु प्रसन्न रहें॥२६॥

मूल–वामदक्षे निरुन्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया।

ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यान्तस्ते यान्ति परमां गतिम्॥ ३४॥

अर्थ–(जो) बाएँ और दाहिने को रोककर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं, वे ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं॥३४॥

मूल–सुषुम्नायां प्रवेशेन चन्द्रसूर्यौ लयं गतौ॥ ३६॥

अर्थ–सुषुम्ना में प्रवेश करने से चन्द्र-सूर्य लय होते हैं॥३६॥

मूल– सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमपि तिष्ठति॥ ३८॥
सुषुम्नायां यदा योगी सुलग्नो लवणाम्बुवत्।
सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत्॥ ३९॥
भिद्यते च तदा ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम्॥ ४०॥

अर्थ–सुषुम्ना में जब योगी एक क्षण भी ठहरता है, सुषुम्ना में जब योगी आधा क्षण भी ठहरता है, सुषुम्ना में जब योगी पानी और नमक के समान मिल जाता है और सुषुम्ना में जब योगी दूध और पानी के समान मिल जाता है, तब (उसकी) ग्रन्थि (गिरह–गाँठ) टूट जाती है, (उसके) सम्पूर्ण संशयों का नाश हो जाता है और वह परमाकाश में विलाकर परम गति को प्राप्त होता है॥३८-४०॥

मूल–गंगायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम्।
मध्यनाडीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ४१॥

अर्थ–गंगासागर में स्नान कर मणिकर्णिका को प्रणाम करना (इसका जो फल होता है, वह) मध्य नाड़ी (सुषुम्ना) के विचार के (फल के) सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं है॥४१॥

मूल–अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
सुषुम्ना ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ४३॥

अर्थ–हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ सुषुम्ना-ध्यान-योग का सोलहवाँ भाग भी नहीं है॥४३॥

मूल–सुषुम्नायां सदा गोष्ठीं यः कश्चित्कुरुते नरः।
स मुक्तेः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥ ४४॥

अर्थ–जो नर सुषुम्ना में सदा सभा करता है, वह सब पापों से

मुक्त होकर सच्चा कल्याण पाता है॥४४॥

मूल–सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः॥ ४५॥

अर्थ–सुषुम्ना ही प्रधान तीर्थ है, सुषुम्ना ही प्रधान जप है, सुषुम्ना ही प्रधान ध्यान है और सुषुम्ना ही परा (ऊँची) गति है॥४५॥

मूल–अनेक यज्ञदानानि व्रतानि नियमास्तथा।
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ ४६॥

अर्थ–अनेक यज्ञ, दान, व्रत और नियम; स्वल्पमात्र सुषुम्ना-ध्यान के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है॥४६॥

मूल–मायाशक्तिर्ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा।
नादरूपा परा शक्तिर्ललाटस्य तु मध्यमे॥ ४८॥

अर्थ–आकाश-रूपी कमल में और ललाट के अग्रभाग (ऊपर भाग) में माया-शक्ति विराजमान है। ललाट के मध्य भाग में नादरूपा पराशक्ति विराजमान है॥४८॥

मूल–भागे विन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्यापरांशके।
विन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते॥ ४९॥

अर्थ–ललाट के दूसरे भाग (नीचे भाग) में विन्दुमयी शक्ति विराजमान है और विन्दु के बीच में जीवात्मा सूक्ष्म रूप से विराजमान है॥४९॥

मूल–सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना भवेत्।
निरंजने विलीयेत मरुन्मनसि पद्मज॥ ७१॥

अर्थ–नादानुसन्धान (सुरत-शब्दयोग-अभ्यास) सदा करने से वासना का नाश होता है। हे ब्रह्मा ! तब वायु (प्राणवायु) निरंजन मन में लीन हो जाता है॥७१॥

मूल–कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववदृढम्।
अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्॥ ७९॥

अर्थ–गुरु को कर्णधार (मल्लाह) पाकर और उनके वाक्य को दृढ़ नौका पाकर अभ्यास (करने की) वासना की शक्ति से

भवसागर को लोग पार करते हैं॥७९॥

श्रीजाबालदर्शनोपनिषद्

(सामवेद का)

खण्ड १

मूल–ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः।
स मूढः कांचनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत॥ २२॥

अर्थ–ज्ञान-शौच को छोड़कर जो बाहरी शौच में लगा रहता है, वह मूढ़ सोने को छोड़कर मिट्टी का ढेला लेता है॥२२॥

खण्ड २

मूल–तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ १॥

अर्थ–तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, लज्जा, विचार और जप; ये ही व्रत हैं ॥१॥

खण्ड ४

मूल–चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥ ५४॥

अर्थ–भीतर में रहनेवाला दूषित चित्त तीर्थस्नान से शुद्ध नहीं होता, जिस प्रकार सैकड़ों बार जल से धोने पर भी मदिरा का पात्र शुद्ध नहीं हो सकता ॥५४॥

मूल–तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते॥ ५७॥

अर्थ–वह शिव तो शरीर में विद्यमान है, पर मूर्ख लोग तीर्थ में, दान में, जप में, यज्ञ में, काष्ठ में और पाषाण में शिव देखते हैं॥५७॥

खण्ड ५

मूल– पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा।
मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः॥ ४॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा।
समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः॥ ५॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे विन्दुमध्ये तुरीयकम्।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः॥ ६॥

अर्थ–पर्वत के आगे, नदी के किनारे, बिल्व (बेल, श्रीफल) वृक्ष की जड़ में अथवा वन में–सुन्दर और पवित्र स्थान में मठ बनाकर स्थिर हो जावे। आसन आरम्भ करके पूर्व या उत्तर मुख होकर पीछे गला, सिर और शरीर को सीधा करके, मुख बन्द करके अच्छी तरह निश्चल होवे। नाक के आगे चन्द्र-बिम्ब-विन्दु के मध्य में, उस तुरीय और चूते हुए अमृत को अच्छी तरह समाधिस्थ होकर आँखों से देखे॥४-६॥

मूल–नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम्॥ ११½॥

अर्थ–नाद की अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकट होना, उसकी (ब्रह्म प्राप्ति की) सिद्धि का सूचक चिह्न है ॥११½॥

जाबालोपनिषद्, द्वितीय अध्याय

मूल–अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं।
य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयाम् इति॥
स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो।
य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति॥
सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति।
वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति॥
का वै वरणा का च नाशीति।
सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति॥
सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति।
कतमं चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः
सन्धिः स एष द्योर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति॥
एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति ···॥ २॥

अर्थ–अत्रि ऋषि ने इसके बाद याज्ञवल्क्य से पूछा–'जो ऐसा अनन्त, अव्यक्त आत्मा है, उसको हम कैसे जानें ?'

याज्ञवल्क्य ने कहा–''वह अविमुक्त आत्मा ही उपासना-योग्य है। वह अनन्त, अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। वह अविमुक्त कहाँ प्रतिष्ठित है ? वह वरणा और नाशी के बीच में प्रतिष्ठित है। वरणा और नाशी क्या है ? सब इन्द्रिय-कृत दोषों को दूर करता है,

वही वरणा है और जो सब इन्द्रिय-कृत पापों को नाश करता है, वही नाशी कहलाता है। कहाँ वह स्थान है ? दोनों भौंओं का और नासिका का जो मिलन-स्थान है (वही वह स्थान है)। वह द्युलोक और परलोक का भी मिलन-स्थान है। इस संधि-स्थान में ब्रह्मज्ञानी अपनी सन्ध्या की उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ पर ध्यान करके ब्रह्म-साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं॥२॥''

गर्भोपनिषद्

(कृष्ण यजुर्वेद का)

मूल—अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसंपूर्णो भवति॥
पूर्वजातिं स्मरति। शुभाशुभं च कर्म विन्दति॥ ३॥

अर्थ—नौवें मास में (गर्भस्थ सन्तान) सर्व लक्षण और सर्व ज्ञान-इन्द्रिय सम्पन्न होती है। वह पूर्व जन्मों को याद करती है और शुभाशुभ कर्मों को जानती है॥३॥

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महाशयकृत 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' अथवा 'कर्मयोग' से उद्धृत श्रीमद्भगवद्गीता के चुने हुए श्लोकों के केवल अर्थ—

अध्याय २

(४२) हे पार्थ ! (कर्मकाण्डात्मक) वेदों के (फलश्रुतियुक्त) वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ाकर कहा करते हैं, कि—(४३) 'अनेक प्रकार के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है,' स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य-बुद्धिवाले (लोग), (४४) उल्लिखित भाषण की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य में ही गर्क रहते हैं, इस कारण उनकी व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थित नहीं रह सकती। (४५) हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की बातों से

भरे पड़े हैं, इसलिए तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो, एवं योगक्षेम आदि स्वार्थों में न पड़कर आत्मनिष्ठ हो। (४६) चारों ओर पानी की बाढ़ आ जाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता), उतना ही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मण को सब (कर्मकाण्डात्मक) वेद का रहता है अर्थात् सिर्फ काम्यकर्मरूपी वैदिक कर्मकाण्ड की उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती। (४७) कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है, फल (मिलना या न मिलना) कभी भी तेरे अधिकार अर्थात् ताबे में नहीं, (इसलिए मेरे कर्म का) अमुक फल मिले, यह हेतु (मन में) रखकर काम करनेवाला न हो, और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर। (४८) हे धनंजय ! आसक्ति छोड़कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनों को समान ही मानकर, 'योगस्थ' होकर के कर्म कर। (कर्म के सिद्ध होने या निष्फल होने में रहनेवाली) समता की (मनो-) वृत्ति को ही (कर्म-) योग कहते हैं। (५०) जो (साम्य-) बुद्धि से युक्त हो जाय, वह इस लोक में पाप और पुण्य; दोनों से अलिप्त रहता है, अतएव योग का आश्रय कर। (पाप-पुण्य से बचकर) कर्म करने की चतुराई (कुशलता या युक्ति) को ही (कर्म-) योग कहते हैं। (५३) (नाना प्रकार के) वेद-वाक्यों से घबराई हुई तेरी बुद्धि जब समाधि-वृत्ति में स्थिर और निश्चल होगी, तब (यह साम्यबुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा। (५५) हे पार्थ ! जब (कोई मनुष्य अपने) मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है, और अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। (५८) जिस प्रकार कछुआ अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिए कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (६९) सबलोगों की जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है और जब समस्त प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान पुरुष को रात मालूम होती है।

अध्याय ३

(६) जो मूढ़ (हाथ-पैर आदि) कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दाम्भिक कहते हैं।

['अनासक्तियोग' में महात्मा गाँधी-लिखित इस श्लोक पर टिप्पणी–'जैसे कि, जो वाणी को रोकता है, पर मन में किसी को गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है, बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जबतक मन न रोका जा सके, तबतक शरीर को रोकना निरर्थक है। शरीर को रोके बिना मन पर अंकुश आता ही नहीं। परन्तु शरीर के अंकुश के साथ-साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे ही बाह्य कारणों से शरीर को रोकते हैं, परन्तु मन पर नियन्त्रण नहीं रखते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषय भोगते हैं और मौका मिले तो शरीर से भी भोगें, ऐसे मिथ्याचारियों की यहाँ निन्दा है।']

(१५) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई है, और यह ब्रह्म अक्षर से अर्थात् परमेश्वर से हुआ है। इसलिए (यह समझो कि) सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा अधिष्ठित रहता है। (४२) कहा है कि (स्थूल बाह्य पदार्थों के मान से उनको जाननेवाली) इन्द्रियाँ पर अर्थात् परे हैं, इन्द्रियों के परे मन है, मन से परे (व्यवसायात्मक) बुद्धि है, और जो बुद्धि से भी परे है, वह आत्मा है।

अध्याय ४

श्री भगवान ने कहा–(१) अव्यय अर्थात् कभी भी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य यह (कर्म-) योग (मार्ग) मैंने विवस्वान अर्थात् सूर्य को बतलाया था; विवस्वान ने (अपने पुत्र) मनु को और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। (२) ऐसी परम्परा से प्राप्त हुए इस (योग) को राजर्षियों ने जाना। परन्तु हे शत्रु-तापन (अर्जुन)! दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। (३३) हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि हे पार्थ! सब प्रकार के समस्त

कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है। (क्योंकि हे पार्थ! कर्म मात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं–महात्मा गाँधी।) (३४) ध्यान में रख कि प्रणिपात से, प्रश्न करने से और सेवा से तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। (इसे तू तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेक-सहित बारम्बार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे–महात्मा गाँधी।) (३८) इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है। काल पाकर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है। (३९) जो श्रद्धावान पुरुष इन्द्रिय-संयम करके उसी के पीछ पड़ा रहे, तो उसे (भी) यह ज्ञान मिल जाता है, और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

अध्याय ५

(६) जो (किसी का भी) द्वेष नहीं करता और (किसी की भी) इच्छा नहीं करता, उस पुरुष को (कर्म करने पर भी) नित्य संन्यासी समझना चाहिए; क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन! जो (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों से मुक्त हो जाय, वह अनायास ही (कर्मों के सब) बन्धनों से मुक्त हो जाता है। (२४) इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखों की अपेक्षा न कर) जो अन्तःसुखी अर्थात् अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आराम पाने लगे और ऐसे ही जिसे (यह) अन्तःप्रकाश मिल जाय, वह (कर्म-) योगी ब्रह्मरूप हो जाता है एवं उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है। (२७) बाह्य पदार्थों के (इन्द्रियों के सुख-दुःखदायक) संयोग से अलग होकर, दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि को जमाकर और नाक से चलनेवाले प्राण एवं अपान को सम करके (२८) जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है, तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गए हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्त ही है।

अध्याय ६

(१३) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में निश्चल करके स्थिर होता हुआ दिशाओं को यानी इधर-उधर न देखे, और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमाकर, (१४) निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य-व्रत पालन कर, तथा मन का संयम करके मुझमें ही चित्त लगाकर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय। (१६) हे अर्जुन ! अतिशय खानेवाले या बिल्कुल न खानेवाले और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवाले का (यह) योग सिद्ध नहीं होता। (१७) जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःखघातक अर्थात् सुखावह होता है। (२६) (इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुए) चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ बाहर जावे, वहाँ-वहाँ से रोककर उसको आत्मा के ही स्वाधीन करे। श्रीभगवान ने कहा–(३५) हे महाबाहु अर्जुन ! इसमें संदेह नहीं कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मत में, जिसका अन्तःकरण काबू में नहीं, उसको (इस साम्यबुद्धिरूप) योग का प्राप्त होना कठिन है, किन्तु अन्तःकरण को काबू में रखकर प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है। अर्जुन ने कहा–(३७) हे कृष्ण ! श्रद्धा (तो) हो, परन्तु (प्रकृति–स्वभाव से) पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन (साम्यबुद्धिरूप कर्म-) योग से विचल जावे, वह योग-सिद्धि न पाकर किस गति को जा पहुँचता है ? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह पुरुष मोहग्रस्त होकर ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान (बीच में ही) नष्ट तो नहीं हो जाता ? (३९) हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देह को तुम्हें ही निःशेष दूर करना चाहिए, तुम्हें छोड़ इस सन्देह को मेटनेवाला दूसरा कोई न मिलेगा। श्री भगवान ने कहा–(४०) हे पार्थ ! क्या इस लोक में

और क्या परलोक में, ऐसे पुरुष का कभी विनाश होता ही नहीं। क्योंकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। (४१) पुण्यकर्त्ता पुरुषों को मिलनेवाले (स्वर्ग आदि) लोकों को पाकर और (वहाँ) बहुत वर्षों तक निवास करके फिर यह योग-भ्रष्ट अर्थात् कर्मयोग से भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है, (४२) अर्थात् बुद्धिमान (कर्म-) योगियों के ही कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार का जन्म (इस) लोक में बड़ा दुर्लभ है। (४३) उसमें अर्थात् इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्व जन्म के बुद्धि-संस्कार को पाता है, और हे कुरुनन्दन ! यह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग-) सिद्धि को पाने का प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्म के उस अभ्यास से ही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने पर भी, वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। जिसे (कर्म-) योग की जिज्ञासा, अर्थात् जान लेने की इच्छा हो गई है, वह भी शब्दब्रह्म के परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते-करते पापों से शुद्ध होता हुआ (कर्म-) योगी अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि पाकर अन्त में उत्तम गति पा लेता है। (४६) तपस्वी लोगों की अपेक्षा (कर्म-) योगी श्रेष्ठ है; ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है और कर्मकाण्डवालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है; इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो। (४७) तथापि सब (कर्म-) योगियों में मैं उसे ही सबसे उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ कि जो मुझमें अन्तःकरण रखकर श्रद्धा से मुझको भजता है।

अध्याय ७

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार; इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है। (५) यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की (प्रकृति) है। हे महाबाहु अर्जुन ! यह जानो कि इससे भिन्न जगत को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवस्वरूपा मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रखो कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगत का प्रभव अर्थात्

मूल और प्रलय अर्थात् अन्त मैं ही हूँ। (१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं–१–आर्त अर्थात् रोग से पीड़ित, २–जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा रखनेवाले, ३–अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखनेवाले और ४–ज्ञानी अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान पाकर कृतार्थ हो जाने से आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तो भी निष्काम बुद्धि से भक्ति करनेवाले। (१७) इनमें एक भक्ति अर्थात् अनन्य भाव से मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धि से वर्तनेवाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं, परन्तु मेरा मत है कि (इनमें) ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है; क्योंकि युक्तचित्त होकर (सबकी) उत्तमोत्तम गति-स्वरूप मुझमें ही वह ठहरा रहता है। (२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ़ लोग, मेरे श्रेष्ठ उत्तमोत्तम और अव्यय रूप को न जानकर मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं। (२५) मैं अपनी योगरूप माया से आच्छादित रहने के कारण सबको (अपने स्वरूप से) प्रकट नहीं दीखता। मूढ़ लोग नहीं जानते कि मैं अज और अव्यय हूँ।

अध्याय ८

(८) हे पार्थ ! चित्त को दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यास की सहायता से उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुष का ध्यान रखते रहने से मनुष्य उसी पुरुष में जा मिलता है (९ -१०) जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रिय-निग्रह-रूप) योग की सामर्थ्य से, भक्तियुक्त होकर मन को स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच में प्राण को भली भाँति रखकर, कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटे, सबके धाता अर्थात् आधार या कर्त्ता, अचिन्त्यस्वरूप और अन्धकार से परे सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुष में जा मिलता है। (१६) हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक (स्वर्ग आदि) जितने लोक हैं, वहाँ से (कभी-न-कभी इस लोक में) पुनरावर्त्तन अर्थात् लौटना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय !

मुझमें मिल जाने से पुनर्जन्म नहीं होता। (१८) (ब्रह्मदेव के) दिन का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि होने पर उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। (२०) किन्तु इस ऊपर बतलाए हुए अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है कि जो सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। (२१) जिस अव्यक्त को 'अक्षर' (भी) कहते हैं, जो परम अर्थात् उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा जाता है और जिसे पाकर फिर (जन्म में) लौटते नहीं हैं, (वही) मेरा परम स्थान है।

अध्याय ९

(२५) देवताओं का व्रत करनेवाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत करनेवाले पितरों के पास, (भिन्न-भिन्न) भूतों को पूजनेवाले (उन) भूतों के पास जाते हैं और मेरा भजन करनेवाले मेरे पास आते हैं। (३०) बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिए; क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। हे कौन्तेय ! तू खूब समझे रह, कि मेरा भक्त (कभी भी) नष्ट नहीं होता। (३२) क्योंकि हे पार्थ ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि जो पाप-योनि हों, वे भी परम गति पाते हैं।

अध्याय १०

(२०) हे गुडाकेश ! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ, और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। (२२) मैं वेदों में सामवेद हूँ; देवताओं में इन्द्र हूँ; इन्द्रियों में मन हूँ और भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलन-शक्ति मैं हूँ। (२५) महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में एकाक्षर अर्थात् ॐकार हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ और स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थों में हिमालय हूँ। (३७) मैं यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में धनञ्जय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ। (४१) जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है, उसको तुम मेरे तेज के अंश से उपजी हुई समझो।

(४२) अथवा हे अर्जुन ! तुम्हें इस फैलाव को जानकर करना क्या है ? संक्षेप में बतलाए देता हूँ, (कि) मैं अपने एक (ही) अंश से इस सारे जगत को व्याप्त कर रहा हूँ।

अध्याय ११

(३७) (अर्जुन ने कहा)–हे महात्मन् ! तु ब्रह्मदेव के भी आदिकारण और उससे भी श्रेष्ठ हो; तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे ? हे अनन्त ! हे देवदेव ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो; और इन दोनों से परे जो अक्षर है, वह भी तुम्हीं हो। (३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, तुम इस जगत के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुम श्रेष्ठ स्थान हो; और हे अनन्तरूप ! तुम्हीं ने (इस) विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है।

अध्याय १२

(१३) जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब भूतों के साथ मित्रता से वर्तता है, जो कृपालु है, जो ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है, (१४) जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ़निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा (कर्म-) योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है कि जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़कर करता है, जो (फल के विषय में) उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता, और जिसने (काम्यफल के) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिए हैं। (१७) जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है; जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने (कर्म के) शुभ और अशुभ फल छोड़ दिए हैं, वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं, और जिसे किसी में भी आसक्ति नहीं है, (१९) जिसे निन्दा और स्तुति दोनों

एक-सी हैं, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जावे, उसी में सन्तुष्ट है, एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कमर्फलाशारूप) ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्यारा है।

अध्याय १३

श्री भगवान ने कहा–(१) हे कौन्तेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इसे (शरीर को) जो जानता है, उसे तद्विद् अर्थात् इस शास्त्र के जाननेवाले, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (२) हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है। (५) (पृथ्वी आदि पाँच स्थूल) महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महान), अव्यक्त (प्रकृति), दश (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ और एक मन; तथा (पाँच) इन्द्रियों के पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध–ये सूक्ष्म) विषय, (६) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त व्यापार और धृति यानी धैर्य; इस (३१ तत्त्वों के) समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं। (७) मान-हीनता, दम्भ-हीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, (८) इन्द्रियों के विषयों में विराग, अहंकार-हीनता, और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखों को (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना; (९) (कर्मों में) अनासक्ति, बाल-बच्चों और घर-गृहस्थी आदि में लम्पट न होना, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की सर्वदा एक ही-सी वृत्ति रखना; (१०) और मुझमें अनन्य भाव से अटल भक्ति, विविक्त अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थान में रहना, साधारण लोगों के जमाव को पसन्द न करना; (११) अध्यात्म-ज्ञान को नित्य समझना और तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन–इनको ज्ञान कहते हैं; इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है। (१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ (कि) जिसे जान लेने से 'अमृत' अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि सबसे परे का ब्रह्म है। न उसे 'सत्' ही कहते हैं और न 'असत्' ही (१९) प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि

समझ। विकार और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ जान। (३१) हे कौन्तेय! अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीर में रहकर भी कुछ करता-धरता नहीं है, और उसे (किसी भी कर्म का) लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता।

अध्याय १४

(१४) सत्त्वगुण के उत्कर्ष-काल में यदि प्राणी मर जावे तो उत्तम तत्त्व जाननेवालों के अर्थात् देवता आदि के निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उसको प्राप्त होते हैं।

अध्याय १५

(७) जीवलोक (कर्मभूमि) में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली मन-सहित छह अर्थात् मन और पाँच (सूक्ष्म) इन्द्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है, (इसी को लिंग शरीर कहते हैं।) (११) इसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले योगी अपने आप में स्थित आत्मा को पहचानते हैं। परन्तु वे अज्ञ लोग, कि जिनकी आत्मा अर्थात् बुद्धि संस्कृत नहीं है, प्रयत्न करके भी उसे नहीं पहचान पाते। (१६) (इस) लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं। सब (नाशवान) भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं। (१७) परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर त्रैलोक्य का) पोषण करता है। (१८) (जबकि) मैं क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ, लोक-व्यवहार में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ।

अध्याय १७

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (१५) (मन को) उद्वेग न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाङ्मय (वाचिक) तप कहते हैं। (१६) मन को प्रसन्न रखना,

सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस तप कहते हैं।

अध्याय १८

(२०) जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्त्विक ज्ञान जानो। (५१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो करके, धैर्य से आत्म-संयमन कर, शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़कर और प्रीति एवं द्वेष को दूर कर, (५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थल में रहनेवाला, मिताहारी, काया, वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यान-युक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाश को छोड़कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिए समर्थ होता है। (६१) हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर (अपनी) माया से प्राणिमात्र को (ऐसे) घुमा रहा है, मानो सभी (किसी) यन्त्र पर चढ़ाए गए हों।

श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १० पूर्वार्द्ध

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयंकरः।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥ १६॥ अ० २॥
स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।
दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह॥ १७॥ अ० २॥
ततो जगन्मंगलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः॥१८॥अ०२॥
सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती॥ १९॥ अ०२॥

अर्थ—वे भगवान वसुदेवजी के मन में अपनी समस्त कलाओं के साथ प्रकट हो गए। भगवान की ज्योति को धारण करने के कारण वसुदेवजी सूर्य के समान तेजस्वी हो गए। भगवान के उस ज्योतिर्मय अंग को जो जगत का परम मंगल करनेवाला है, वसुदेवजी के द्वारा आधान किए जाने पर देवी देवकी ने ग्रहण

किया। भगवान सारे जगत् के निवास-स्थान हैं, देवकी उनका भी निवास-स्थान बन गई॥१९॥

निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने।
देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः॥
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥ ८॥ अ० ३॥

अर्थ–जनार्दन के अवतार का समय निशीथ था। चारों ओर अन्ध-कार का साम्राज्य था। उसी समय सबके हृदय में विराजमान भगवान विष्णु देव-रूपिणी देवकी के गर्भ से प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशा में सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो गया हो॥ ८॥ अ० ३॥

स्कन्ध १० उत्तरार्द्ध

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥ ४॥ अ० ७०॥

अर्थ–भगवान श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्म मुहूर्त में ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्मस्वरूप का ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्द से खिल उठता था॥४॥अ० ७०॥

स्कन्ध ११, अध्याय १४

उद्धव उवाच–यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि॥ ३१॥

अर्थ–उद्धवजी बोले–हे कमलनयन ! अब आप मुझे यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष को आपका ध्यान किस प्रकार, किस रूप में और किस भाव से करना चाहिए ?॥३१॥

श्रीभगवानुवाच–सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्संग आधाय स्वनासाग्र कृतेक्षणः॥ ३२॥

अर्थ–श्री भगवान बोले–हे उद्धव ! सुख-पूर्वक सम आसन से शरीर को सीधा रखकर बैठे; हाथों को तर-ऊपर गोद में रखे और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करे ॥३२॥

मूल–हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।

प्राणेनोदीर्य तत्रथ पुनः संवेशयेत्स्वरम्॥ ३४॥

अर्थ–हृदय में निहित मृणाल-तन्तु-सदृश ओंकार को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर प्राण-द्वारा उसका घंटानाद के समान स्थिर घोष सुने ॥३४॥

मूल–इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२॥

अर्थ–बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर उस मन को बुद्धि-रूपी सारथी की सहायता से सर्वांग-युक्त मुझमें ही लगा दे ॥४२॥

मूल–तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥

अर्थ–सब ओर से फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और फिर अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस्कान-युक्त मुख का ही ध्यान करे॥४३॥

मूल–तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ४४॥

अर्थ–मुखारविन्द में चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे, तदन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे॥४४॥

मूल–एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥ ४५॥

अर्थ–इस प्रकार चित्त के वशीभूत हो जाने पर जिस प्रकार एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है, उसी प्रकार अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मा में अपने आपको देखता है॥४५॥

मूल–ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युंजतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥ ४६॥

अर्थ–इस प्रकार तीव्र ध्यान-योग के द्वारा चित्त का संयम करनेवाले योगी के चित्त का द्रव्य-ज्ञान और कर्म-संबंधी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है॥४६॥

मूल–शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरदुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥ ३६॥ अ० २१॥

अर्थ–शब्दब्रह्म अत्यन्त दुर्बोध है। वह प्राणमय, मनोमय और इन्द्रियमय; तीन प्रकार का है तथा समुद्र के समान अनन्त पार, गम्भीर और कठिनता से पार किए जाने योग्य है॥३६॥

मूल–मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते॥३७॥ अ०२१॥

अर्थ–मुझ अनन्तशक्ति और व्यापक ब्रह्म ने ही उसका विस्तार किया है। कमल-नाल-गत सूक्ष्म तन्तु के समान वह पहले-पहल प्राणियों के अन्तःकरण में नादरूप से प्रकट होता है॥३७॥

मूल–यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥ ३८॥ अ० २१॥

अर्थ–जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदय से मुख के द्वारा निकालकर जाला फैला देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म नाद-रूप उपादान कारण से युक्त प्राणोपाधिक भगवान हिरण्यगर्भ मन-रूप निमित्त कारण द्वारा हृदयाकाश से उसे वैखरी-वाणी में प्रकट करते हैं॥३८॥

अध्यात्म-रामायण (बालकाण्ड)

(पंडित रामेश्वर भट्ट कृत टीका)

प्रथम सर्ग

अथ राम-हृदय-गीता–शिव-पार्वती-संवाद

श्रीशिवजी ने कहा–पहले रामावतार में देवताओं के शत्रु रणवीर रावण को उसके पुत्र और सेना-सहित रण में मारकर (२६) सीता, सुग्रीव, लक्ष्मण और हनुमान आदि सहित रामजी अयोध्या को लौट आए (२७) और वहाँ करोड़ों सूर्य के समान कान्तिमान रामचन्द्रजी सिंहासन पर विराजमान हुए और वशिष्ठ आदि महात्माओं ने जुड़कर उनका राज्याभिषेक किया (२८), उस समय मुख्य-मुख्य कार्य करनेवाले, इच्छा-रहित, ज्ञान की जिनको चाहना है, ऐसे बड़े बुद्धिमान हनुमानजी को हाथ जोड़े सामने खड़ा देखकर (२९), रामजी सीताजी से बोले कि हे जानकी! तुम हनुमान को तत्त्वज्ञान का उपदेश करो; क्योंकि

यह पाप-रहित, ज्ञान के पात्र और हमारी-तुम्हारी भक्ति में सदा तत्पर है (३०), श्रीजानकीजी ने कहा–'बहुत अच्छा'। और संसार को विशेषकर मोहनेवाली सीताजी ने भक्त हनुमान से रामजी के निश्चित स्वरूप का वर्णन करना आरम्भ किया (३१), सीताजी बोलीं–(हे हनुमान!) तुम रामजी को परब्रह्म, सच्चिदानन्द, द्वैत-रहित, संपूर्ण (स्थूल-सूक्ष्म) उपाधियों से रहित, सत्तामात्र कहिए, वस्तु मात्र के व्यवहार के चलानेवाले और मन-वाणी के विषय से परे (३२), आनन्दस्वरूप, निर्मल, शांत, निर्विकार, निरंजन अर्थात् मायाकृत अज्ञान-रहित, सर्वव्यापी, स्वयंप्रकाश, पाप-रहित, परमात्मा जानो (३३), और (हे हनुमान!) मुझे उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाली मूल प्रकृति जानो, उन रामजी के समीप मात्र होने से मैं आलस्य-रहित होकर इस संसार को रचती हूँ (३४), और उस परमात्मा के समीप मात्र होने से मेरे रचे हुए जगत को अज्ञानी लोग उस परमात्मा में आरोपण करते हैं। उसी परमात्मा का जन्म अयोध्या नगरी में अत्यन्त निर्मल वंश में होना (३५), विश्वामित्र की सहायता करना, उनके यज्ञ की रक्षा करना, अहल्या का शाप दूर करना, शिवजी का धनुष भंग करना (३६), फिर मेरे साथ विवाह करना, परशुरामजी का गर्व तोड़ना, फिर अयोध्या में मेरे साथ बारह वर्ष रहना (३७), फिर दण्डकारण्य में जाना, विराध का मारना, मायारूपी मारीच का वध करना और माया की सीता का हरण होना (३८), जटायु का मोक्ष-लाभ होना, कबंध का शाप से छुटाना, शवरी का पूजन ग्रहण करना और फिर सुग्रीव से समागम होना (३९), फिर बालि का वध करना, सीता को ढुँढ़वाना, समुद्र पर पुल बँधवाना, फिर लंका पर चढ़ाई करना (४०), फिर युद्ध में दुष्ट रावण को पुत्र-सहित मारना, विभीषण को राज्य देना, फिर पुष्पक विमान में बैठकर मेरे साथ (४१) अयोध्या को आना, फिर रामजी का राजगद्दी पर बैठना इत्यादि सब कर्म मेरे किए हैं (४२)। उनको अज्ञानी जन इन निर्विकार परमात्मा रामजी में आरोपण करते हैं (४३)। वास्तव में रामजी न चलते हैं, न बैठते हैं, न शोक करते हैं, न कुछ चाहते हैं, न कुछ

त्यागते हैं और न कुछ कहते हैं। वे तो आनन्द की मूर्ति, अचल और परिणाम-रहित अर्थात् एकरस हैं। केवल माया के गुणों के कारण कर्म में प्रवृत्त दीखते हैं (४४)।

शिव-संहिता

मूल—नासनं सिद्ध सदृशं न कुम्भक सदृशं बलम्।
न खेचरी समा मुद्रा न नाद सदृशो लयः॥

अर्थ—न सिद्धासन सम आसन, न कुम्भक सम बल, न खेचरी के समान मुद्रा और न नाद के तुल्य लय है।

मूल—यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम्।
पूर्व जन्म कृतं कर्म विनश्येदविरोधतः॥

अर्थ—जो पुरुष सर्वदा गोपित करके इस आज्ञा-कमल (चक्र) का ध्यान करता है, उसका पूर्वजन्मकृत कर्मफल निर्विघ्न नाश हो जाता है।

मूल—इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्य्यान्निरंतरम्।
तदा करोति प्रतिमां प्रति जापमनर्थवत्॥

अर्थ—जब योगी यह ध्यान (आज्ञाचक्र में ध्यान) सर्वदा निरन्तर करे, तो उसका प्रतिमापूजन करना व जप करना सर्वथा अनर्थवत् है।

मूल—यानि यानि हि प्रोक्तानि पंच पद्मे फलानि वै।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि॥

अर्थ—पंच पद्मों का जो-जो फल पहले कहा, सो समस्त फल आप ही इस आज्ञा-कमल के ध्यान से प्राप्त हो जाएगा।

मूल—शिरः कपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्तयेद् यदा।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्याद् विद्युत् पुंजसमप्रभः॥
एतत् चिन्तन मात्रेण पापानां संक्षयो भवेत्।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम्॥

अर्थ—कपाल में शिवनेत्र के छिद्र पर जब ध्यान किया जाता है, तो विद्युत्पुंज (बिजलियों के समूह) के समान चमकता हुआ ज्योति-प्रकाश होता है। इसके चिन्तन मात्र (ध्यान) से पापों का

नाश होता है और दुराचारी पुरुष भी परम पद को प्राप्त करता है।

ज्ञानसंकलिनी तन्त्र के चुने हुए मूल संस्कृत श्लोकों के
श्रीकालीप्रसन्न विद्यारत्न महाशयजी के बँगला अनुवाद के
भारती अनुवाद-सहित

मूल—देहस्थाः सर्व्वविद्याश्च देहस्थाः सर्व्वदेवताः।
देहस्थाः सर्व्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ८॥

अर्थ—इस देह में सब विद्या, सब देवता और सब तीर्थ विराजमान हैं। केवल गुरु के उपदेश से ही देहस्थित ये सब विद्या, देवता और तीर्थ जाने जाते हैं॥८॥

मूल—इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥ ११॥

अर्थ—देह में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाम की तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं। इड़ा गंगा, पिंगला यमुना और इड़ा-पिंगला के बीच में रहनेवाली सुषुम्ना सरस्वती नदी के नाम से कही जाती है॥११॥

मूल—त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥ १२॥

अर्थ—देह में जहाँ उल्लिखित तीनों नाड़ियों का संगम है, उस स्थान को गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम—त्रिवेणी कहते हैं। यह त्रिवेणी सर्वप्रधान तीर्थ कहकर गिनी जाती है। इस तीर्थ में स्नान करने से सब पापों से मुक्ति मिलती है॥१२॥

मूल—आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही॥ २५॥

अर्थ—हवा आकाश से, अग्नि हवा से, जल अग्नि से और पृथ्वी जल से उत्पन्न होती है॥२५॥

मूल—मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे॥ २६॥

अर्थ—जल में पृथ्वी, अग्नि में जल, हवा में अग्नि और आकाश में हवा लय होती है॥२६॥

मूल—ब्रह्माण्डलक्षणं सर्व्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।

साकारश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति॥ २९॥

अर्थ–देह में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं, तिसमें साकार का नाश होता है, निराकार का नाश नहीं होता॥२९॥

मूल–निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन साकाराशु परित्यजेत्॥ ३०॥

अर्थ–जिस व्यक्ति का मन निराकार है, वह निराकार-सदृश होता है। इसलिए यत्नवान होकर साकार त्याग देना चाहिए॥३०॥

मूल–न वेदं वेदमित्याहुर्वेदो ब्रह्म सनातनम्।
ब्रह्मविद्यारतो यस्तु स विप्रो वेदपारगः॥ ५०॥

अर्थ–वेद को वेद नहीं कहते हैं, नित्य (सत्य) ब्रह्म को ही वेद कहते हैं। ब्रह्मज्ञान में निरत व्यक्ति को ब्राह्मण और वेदपारदर्शी कहते हैं॥५०॥

मूल–उच्छिष्टं सर्व्वशास्त्रणि सर्व्वविद्या मुखे मुखे।
नोच्छिष्टं ब्रह्मणो ज्ञानमव्यक्तं चेतनामयम्॥ ५२॥

अर्थ–सब शास्त्र जूठे हो गए हैं और सब विद्या मुँह-मुँह में रहती है, किन्तु जो अव्यक्त और चैतन्यमय है, उस ब्रह्म का ज्ञान किसी काल में जूठा नहीं होता है॥ ५२॥

मूल–न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥ ५३॥

अर्थ–तप को तप नहीं कहते हैं, ब्रह्मचर्य्यानुष्ठान ही तपस्या कहकर विशेष प्रसिद्ध किया गया है। जो मनुष्य ऊर्ध्वरेता हैं, वे देवतुल्य कहे गए हैं॥ ५३॥

मूल–न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः॥ ५४॥

अर्थ–ध्यान को ध्यान नहीं कहते हैं, शून्यगत मन को ही ध्यान कहते हैं। उसी ध्यान की प्रीति के द्वारा ही सुख और मोक्ष-लाभ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं॥ ५४॥

मूल–न होमं होममित्याहुः समाधौ तत्तु भूयते।
ब्रह्माग्नौ हूयते प्राणं होमकर्म्म तदुच्यते॥ ५५॥

अर्थ–होम को होम नहीं कहते हैं; ब्रह्माग्नि में प्राण-रूप घृत की आहुति देने को ही असली होम कहते हैं॥ ५५॥

मूल–यावद्वर्णं कुलं सर्व्वं तावज्ज्ञानं न जायते।
ब्रह्मज्ञानं पदं ज्ञात्वा सर्व्व वर्णविवर्जितः॥ ५७॥

अर्थ–जबतक ज्ञानोदय नहीं होता है, तबतक विप्रादि वर्णभेद और कुल-भेद रहते हैं, किन्तु ब्रह्मज्ञान के उदय होने से वे सब दूर हो जाते हैं॥ ५७॥

मूल–मनो वाक्यं तथा कर्म्म तृतीयं यत्र लीयते।
विना स्वप्नं यथा निद्रा ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते॥ ५९॥

अर्थ–जिस ज्ञान में मन, वाक्य और कर्म तीनों लय हो जाते हैं और स्वप्न बिना निद्रा की तरह बिना अवलम्ब के जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को ब्रह्मज्ञान कहते हैं॥ ५९॥

मूल–श्लोकार्द्धन्तु प्रवक्ष्यामि यदुक्तं तत्त्वदर्शिभिः।
सर्व्व चिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते॥ ६१॥

अर्थ–तत्त्वदर्शी महात्मागण ने जिस विषय का वर्णन किया है, मैं आधे श्लोक में उसी का वर्णन करूँगा–सर्व्व चिन्ताओं को त्यागकर निश्चिन्त होने को ही योग कहते हैं॥६१॥

मूल–निमिषं निमिषार्द्धं वा समाधिमधिगच्छति।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥ ६२॥

अर्थ–जिस व्यक्ति को एक पल या आधा पल भी समाधि प्राप्त होती है, उसके सौ जन्मों के कमाए हुए पाप विनष्ट हो जाते हैं॥६२॥

मूल–चलचित्ते वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते वसेच्छिवः।
स्थिरचित्तौ भवेद्देवि स देहस्थोऽपि सिद्ध्यति॥ ६४॥

अर्थ–हे शंकरी ! चंचल हृदय में शक्ति और स्थिर हृदय में शिव विराजते हैं। जिसका हृदय स्थिर है, वही शरीर-सहित होने पर भी सिद्धिलाभ करता है॥ ६४॥

मूल–हृदि प्राणः स्थितो वायुरपानो गुदसंस्थितः।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः॥ ७०॥

व्यानः सर्व्वगतो देहे सर्व्वगात्रेषु संस्थितः।
नाग उर्द्धगतो वायुः कूर्म्मस्तीर्थानि संस्थितः॥ ७१॥
कृकरः क्षोभिते चैव देवदत्तोऽपि जृम्भणे।
धनंजयो नादघोषे निविशेचैव साम्यति॥ ७२॥

अर्थ–प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में और व्यान नाम का वायु सब शरीर में है। नाग नामक वायु उर्द्धगत है, कूर्म्म नामक वायु तीर्थाश्रित है, कृकर नामक वायु क्षोभनस्थ है और देवदत्त वायु जृम्भणस्थ तथा धनञ्जय नामक वायु नादघोष में प्रवेश करके साम्य होके रहता है॥ ७०-७२॥

मूल–अकारः सात्त्विको ज्ञेय उकारो राजसः स्मृतः।
मकारस्तामसः प्रोक्ततस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते॥ ९८॥

अर्थ–अकार सतोगुणमय, उकार रजोगुणमय और मकार तमोगुणात्मक हैं; इन्हीं तीनों गुणों के द्वारा प्रकृति वर्णित हुई है॥९८॥

मूल–अक्षरा प्रकृतिः प्रोक्ता अक्षरः स्वयमीश्वरः।
ईश्वरान्निर्गता सा हि प्रकृतिर्गुणबन्धना॥ ९९॥

अर्थ–अक्षर ही (अक्षर ब्रह्म ही) स्वयं प्रकृति है और अक्षर को ही स्वयं ईश्वर जानोगे। ईश्वर से प्रकृति निकली हुई है और वही प्रकृति सर्व्वादि त्रयगुण-मिश्रित है॥९९॥

मूल–सा माया पालिनी शक्तिः सृष्टिसंहारकारिणी।
अविद्या मोहिनी या सा शब्दरूपा यशस्विनी॥ १००॥

अर्थ–वही माया सृष्टि, स्थिति और संहारात्मिका शक्ति है और अविद्या, मोहिनी, शब्दरूपा तथा यशस्विनी कही जाकर वर्णित होती है॥१००॥

तन्त्र में पाँच अवस्थाएँ मानते हैं–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत। (कल्याण, वेदान्तांक, पृ० २७७ से उद्धृत)

बृहत्तन्त्रसार

मूल–ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम्।
अतो यो ज्ञानदानेहि न क्षमस्तंत्यजेद् गुरुम्॥

(कल्याण, वेदान्तांक, पृ० ३०७ से उद्धृत)

अर्थ–ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिए ज्ञान से बढ़कर दूसरा उपदेश नहीं है; इसलिए जो गुरु ज्ञानदान में (अर्थात् ज्ञानोपदेश में) समर्थ (योग्य) नहीं है, ऐसे गुरु को छोड़ देना चाहिए।

ब्रह्माण्ड पुराणोत्तरगीता

के चुने हुए मूल संस्कृत श्लोकों के श्रीकालीप्रसन्न विद्यारत्न महाशयजी के बँगला अनुवाद के भारती अनुवाद-सहित।

अध्याय १

श्रीभगवानुवाच (भगवान श्रीकृष्ण ने कहा)–

मूल–पुटद्वय निर्म्मुक्तो वायुर्यत्र विलीयते।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तं ध्यायेत् पार्थ ईश्वरम्॥ ११॥

अर्थ–हे पार्थ (अर्जुन)! निःश्वास वायु दोनों नासापुटों से बाहर होकर जहाँ लय प्राप्त हो, वहाँ मन को स्थापित कर ईश्वर का ध्यान करो॥११॥

मूल–अमात्रं शब्दरहितं स्वरव्यंजनवर्जितम्।
विन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित्॥ १५॥

अर्थ–जो परमात्मा को ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतादिरहित, स्वरव्यंजनात्मक वर्णों से अतीत एवं विन्दु, नाद तथा कला के परे कहकर जानते हैं, वे ही वेद का तात्पर्य जानते हैं॥१५॥

मूल–ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेत् ग्रन्थमशेषतः॥ १९॥

अर्थ–धान्यार्थी व्यक्ति जैसे पोआल मर्दन कर धान्य ग्रहण कर लेते हैं और घास को फेंक देते हैं, इसी तरह ज्ञानी व्यक्ति विविध शास्त्रों को पर्य्यालोचना करके आत्मज्ञानी होने पर उन शास्त्रों को त्याग देते हैं॥१९॥

मूल–अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ४०॥

अर्थ–अनाहत शब्द के नाद में ज्योति विराजती है, जिस ज्योति में मन अधिष्ठित रहता है, ब्रह्म में वही मन विलीन होता है;

उसी लय-स्थान को विष्णु का परम पद कहकर वर्णित किया गया है अर्थात् अनाहत शब्द के नाद में जो परम ज्योति है, उस ज्योति का ध्यान करते-करते मन ब्रह्म के साथ लय होता है, सुतरां विष्णु का परम पद प्राप्त हो जाता है॥४०॥

मूल—ॐकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्।
निरालम्बं समुद्दिश्य यत्र नादो लयं गतः॥ ४१॥

अर्थ—ॐकार ध्वन्यात्मक नाद के साथ प्राणवायु का रेचक-पूरकादि क्रम से निर्विशेष ब्रह्म को उद्देश्य करके जहाँ ॐकार ध्वनिमय नाद का लय होता है, वही विष्णु का परम पद है॥४१॥

मूल—अघोषमव्यंजनमस्वरंच अतालुकण्ठोष्ठमनासिकञ्च।
अरेफजातं परमुष्मवर्ज्जितं तदक्षरं न क्षरते कदाचित्॥ ५०॥

अर्थ—जो नाद-रहित, व्यंजन-रहित, स्वर-रहित, तालु-कण्ठ प्रभृति उच्चारण-स्थान-रहित, रेखा-रहित और ऊष्म वर्ण-रहित है, उसी को ब्रह्म कहकर जानो॥५०॥

मूल—नवछिद्रान्विता देहाः स्नुवत्ते जालिका इव।
नैव ब्रह्म न शुद्धं स्यात् पुमान् ब्रह्म न विन्दति॥ ५४॥

अर्थ—नवछिद्र विशिष्ट शरीर से ज्ञान-विज्ञानादि निरन्तर निःसृत होते रहते हैं। मानवगण इन्द्रिय-संयम करके देहाभिमान और रागादि-परित्यागपूर्वक साक्षात् ब्रह्मवत् परिशुद्ध न होकर किसी प्रकार ब्रह्म को लाभ नहीं कर सकते॥ ५४॥

उत्तर-गीता

अध्याय २

मूल—मुहूर्त्तमपि यो ग च्छेन्नासाग्रे मनसा सह।
सर्व्वं तरति पापानां तस्य जन्मशतार्ज्जितम्॥ १०॥

अर्थ—जो मुहूर्त भर भी (अर्थात् कुछ काल भी) मन-सहित नासाग्र में जाता है (अर्थात् नासाग्र में मन को रोककर ठहरता है), वह सैकड़ों जन्मों का किया हुआ जो पाप है, उससे पार उतर जाता है॥१०॥

मूल—तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः।

एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥३७॥

अर्थ—एक पैर पर खड़ा होकर (एक) सहस्र वर्ष तप करने पर भी ध्यानयोग के फल के सोलह अंशों के एक अंश-बराबर फल लाभ नहीं होता॥३७॥

मूल—ब्रह्महत्यासहस्राणि भ्रूणहत्याशतानि च।
एतानि ध्यानयोगश्च दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥ ३८॥

अर्थ—जिस तरह अग्नि ईन्धन (जलावन—लकड़ी) को जलाती है, उसी तरह ध्यान-योग सहस्र ब्रह्महत्या और सैकड़ों भ्रूणहत्याओं के पापों को क्षय करता है॥३८॥

मूल—आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिकं विशेषो ज्ञानेनहीनाः पशुभिः समानाः॥ ४४॥

अर्थ—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन; ये सब विषय पशु और मनुष्य में एक समान ही हैं यानी कुछ भी प्रभेद नहीं है। केवल ज्ञान-लाभ करने पर ही मनुष्य पशु से श्रेष्ठ हो सकता है; सुतरां स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानहीन मनुष्य पशु-तुल्य है॥४४॥

अध्याय ३

मूल—तीर्थानि तोयरूपाणि देवान् पाषाणमृण्मयान्।
योगिनो न प्रपद्यन्ते आत्मध्यानपरायणः॥ ६॥

अर्थ—तीर्थ तोयरूप (जल-रूप) और देव पाषाणमय (कहीं प्रस्तर का) और मृण्मय (कहीं मिट्टी का) है; अतः आत्मध्यान-परायण योगिगण ऐसे तीर्थ तथा देवों का आदर नहीं करते हैं॥६॥

मूल—अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्प बुद्धिनां सर्वत्र समदर्शिनाम्॥ ७॥

अर्थ—द्विजातियों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का) देवता अग्नि है। मुनियों का देव हृदय में है। अल्प बुद्धिवालों का देवता प्रतिमा है और समदर्शियों का देव सर्वत्र है॥ ७॥

मूल—निमिषं निमिषार्द्धं वा प्राणिनोऽध्यात्मचिन्तकाः।
क्रतुकोटि सहस्राणां ध्यानमेको विशिष्यते॥ १६॥

अर्थ–आत्मध्यान-परायण महात्मागण एक वा आधा निमेष काल भी जो आत्मध्यान करते हैं, वह कोटि यज्ञफल की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है॥१६॥

दुर्गासप्तशती, अध्याय ४

शब्दात्मिका सुविमलग्ग्यजुषान्निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ॥ १०॥

श्रीयुक्त पण्डित रामनारायण शर्मा, प्रोफेसर टी० एन० जे० कॉलेज, भागलपुर कृत अर्थ–

हे देवि ! आप शब्दात्मिका हैं। शब्द है आत्मा (अर्थात् स्वरूप) जिसकी, वह हुई शब्दात्मिका। आत्मन् के अनेक अर्थों में स्वरूप भी एक अर्थ है।

आप अत्यन्त निर्दोष ऋक् और यजुः के निधान हैं तथा उद्गीथों के द्वारा रमणीय पद और पाठवाले (अथवा पदों के पाठवाले) साम के भी निधान (निधि, खजाना) हैं। आप (साक्षात्) त्रयी देवी हैं।

संसार की सृष्टि वा धारण के निमित्त आप वार्त्ता (कृषि-वाणिज्य आदि जीविकारूप) हैं तथा सभी लोकों की कठिन बाधाओं, विपत्तियों और दुःखों को नाश करनेवाली हैं।

देवी के शब्दात्मिका होने से अभिप्राय–मीमांसकों और वैयाकरणों ने शब्द को नित्य माना। पतंजलि ने महाभाष्य में शब्द की परब्रह्म से समता दिखाई है।

'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥'

इस मन्त्र की व्याख्या में महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने कहा है कि शब्द-रूपी महान् देव मनुष्यों में आकर प्रविष्ट हुआ है अर्थात् परब्रह्म-स्वरूप और अन्तर्यामि-रूप शब्द मनुष्यों में पैठ गया है। जो पुरुष व्याकरण शास्त्र के ज्ञानपूर्वक शब्दों को संस्कार के साथ

व्यवहार में लाता है, वह पापरहित हो जाता है और इस अन्तःप्रविष्ट शब्दब्रह्म के साथ पूर्ण रूप से मिल जाता है।

यही अन्तःप्रविष्ट नित्य शब्द सम्पूर्ण जगदादि प्रपंच को विस्तारित करता है। यह शब्द-रूप ब्रह्म आदि और अन्त-रहित है। यह अक्षर है अर्थात् विकार-शून्य है। यही जगत के रूप में भासित होता है। इसी शब्दब्रह्म से जगत की रचना होती है।

इस विषय को महावैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में कहा है; यथा–

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥'

अर्थात् अवयव-रहित (खण्ड-रहित) नित्य शब्द, जिसको वैयाकरण स्फोट कहते हैं, संसार का आदिकारण है और ब्रह्म ही है। वह ब्रह्मसत्ता सभी शब्दों का वाच्य है। वह स्फोट-रूप वाचक शब्द से भिन्न नहीं है। जो भेद दीख पड़ता है, वह 'आवरण' से या 'कल्पना' से ही। जो पुरुष शब्दब्रह्म को ठीक-ठीक अवगत कर लेता है, वह परब्रह्म को पाता है अर्थात् उसमें अवस्थित होता है।

हे देवि ! आप उपर्युक्त शब्दब्रह्म-स्वरूपा हैं।

'शब्दात्मिका'–इस श्लोक में जो उद्गीथ शब्द आया है, इसका साधारण अर्थ 'ओंकार' किया जा सकता है।

टिप्पणी–श्री श्री देवीजी का सर्वोत्कृष्ट-स्वरूप जिसकी उपासना की जा सके, 'शब्द' को ही मानना पड़ता है। शब्दब्रह्म के उपासक को परम शाक्त कहा जाय, तो कुछ भी अनुचित नहीं। –महर्षि मेँहीँ

महाभारत

मूल–आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

अर्थ–जब आत्मा प्रकृति में या संसार में बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ वा जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों से यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है। (म० भा० शां० १८७, २४) गीता-रहस्य, पृ० २००-२०१ से उद्धृत।

मूल–ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

अर्थ–समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, सम्पत्ति, ज्ञान और वैराग्य–इन छह बातों को 'भग' कहते हैं। (विष्णु पु० ६, ५, ७४)

[लोकमान्य बालगंगाधार तिलककृत गी० र०, पृ० ११९ से उद्धृत]

श्रीमहाभारत-भाषा* आदिपर्व

अध्याय (९१) इस लोक में सिद्धि उन्हीं को मिलती है, जो सब कर्म और सब कामनाओं को छोड़कर, मौन होकर स्थित हो जाते हैं॥१४॥ जो मुनि शुद्ध भोजन, अहिंसा और शुद्ध कर्म करनेवाले हैं, उनका सत्कार सदैव करना चाहिए॥१५॥

उद्योगपर्व, अध्याय (३३) जिन मनुष्यों को पण्डितों की बुद्धि होती है, वे यथाशक्ति किसी कार्य के करने की इच्छा करते व यथाशक्ति ही करते व अपमान किसी का नहीं करते॥२६॥ जो पुरुष अच्छी प्रकार दृढ़तापूर्वक जान लेने के लिए बड़ी देर तक सुनता व फिर झट जान लेता, वह सब कार्य जान ही कर करता है, केवल इच्छा ही से नहीं करता कि जो बात हुई, झट कर बैठा व जो बिना अच्छी तरह से पूछे किसी को उत्तर नहीं देता, यह पण्डित का पहिला चिह्न है॥२७॥ क्षमा परम बल है, अशक्तों के लिए क्षमा गुण है, समर्थों का भूषण है ॥५४॥ लोक में क्षमा सबको वश में कर लेती है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता? क्योंकि शान्ति-रूप खड्ग जिसके हाथ में है, उसको दुर्जन क्या करेगा? ॥५५॥ जहाँ खड़ न हो, उस स्थान पर अग्नि गिरे, तो अपने आप बुझ जाय व जो क्षमा नहीं करता, वह बहुत-से दोषों से अपने को युक्त करता है॥५६॥ एक धर्म परम कल्याणदायक है व एक क्षमा उत्तम शान्ति है व एक विद्या परम तृप्ति है, व एक अहिंसा सब सुख देती है॥५७॥ आरोग्य, अनृण होना (ऋण-रहित होना),

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित, सन् १९१३ ई०; अनुवादक केनिंग कॉलेज, लखनऊ के भूतपूर्व संस्कृत प्रोफेसर स्व० पं० कालीचरणजी चौरसिया गौड़।

विदेश में न रहना, सज्जनों के संग में बैठना-उठना, सानुकूल जीविका, निर्भय वास; ये छह पदार्थ मनुष्य के सुखदायक हैं॥९०॥ ईर्षाकारी, निर्दयी, असन्तुष्ट, क्रोधी, नित्य शंकितचित्त व परभाग्योपजीवी; ये छह पुरुष नित्य दुःखित रहते हैं॥९१॥

अध्याय (४२) जिस देश में बिना अपना प्रभाव बताए कोई अमंगल, भय, गाली प्रदानादि करता हो, वहाँ भी जो अपना उत्कर्ष न कहकर भोजनादि किसी तरह कर लेता, वह श्रेष्ठतम योगी है व जो इसके विपरीत करता, वह श्रेष्ठ नहीं है॥३१॥

वसनात् सर्वभूतानां वासुत्वाद् देव योनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते॥ ३॥

अध्याय (७०) बसें सब भूत-प्राणि जिसमें, उसे वासु कहते व वासु ही जो देव, उनको वासुदेव कहते हैं व व्यापक होने से विष्णु नाम कहाया॥३॥

श्लोक–रामं दाशरथिं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रनिवौरसान॥

[किसी-किसी प्रति में यह श्लोक अ० २८ में है।]

अध्याय (२९) दशरथजी के पुत्र रामचन्द्रजी को देह छोड़नेवाला सुनते हैं। महाभुजवाले रामचन्द्रजी ने ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त राज्य किया। वह भी तुझ* पिता-पुत्र से अधिक पुण्यात्मा, दानी, प्रतापी होकर इस अनित्य शरीर को त्याग गए, फिर तू पुत्रशोक व्यर्थ करता है।**

अध्याय (१७८) गी० प्रे० गो०–

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥ ४८॥

यदि गुरु भी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को न समझते हुए कुपथ का आश्रय ले, तो उसका परित्याग कर दिया जाता है॥४८॥

* युधिष्ठिर।

** पुनः द्रोणपर्व में श्लोक–राम दाशरथिं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
यं प्रजा अन्वमोदंत पिता पुत्रानिवौरसान॥

अध्याय (१८०) श्लोक २५वें का भावार्थ (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में १९१३ ई० में छपा)

दोहा—गर्वित कार्य्य अकार्य्य नहिं, जानत चलत कुपन्थ।
ऐसे गुरु कहँ त्यागिये, यही कहत शुभ ग्रंथ॥

अश्वमेध पर्व, अध्याय [११] "वृद्धों के हजारों उपदेश और हजारों यज्ञों से भी शोक नहीं निवृत्त हो सकता, केवल ब्रह्मज्ञान से दूर हो सकता है।" इस बात को प्रकट करने के लिए वासुदेवजी बोले कि सब प्रकार के कामादिक मृत्यु के स्थान हैं अर्थात् संसार में ही प्रवृत्त करने अथवा फँसानेवाले हैं और शम-दमादिक सत्य बोलना ब्रह्मपद है अर्थात् मुक्ति का देनेवाला है इतना ही ज्ञान का विषय है। बहुत-सी अन्य वार्ता वृथा हैं। (३।४)

अध्याय [१३] (श्री कृष्ण भगवान् महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—) प्राचीन वृत्तांतों के जाननेवाले मनुष्य इस स्थान पर कामदेव के गाए हुए इन श्लोकों को कहते हैं, उन श्लोकों को मैं तुझसे कहता हूँ। हे युधिष्ठिर! उनको सम्पूर्णता से सुनो ॥१२॥ निर्ममता और योगाभ्यास के बिना कोई उपाय करके भी मुझको कोई जीव नहीं मार सकता॥१३॥ जो पण्डित मनुष्य आत्मा को न जानकर मोक्ष-मार्ग में नियत होकर मेरे मारने का उपाय करता है॥१८॥ उस मोक्ष में प्रवृत्तचित्त मनुष्य को देखकर मैं नाचता हूँ और हँसता हूँ। मैं अकेला सनातन सब जीव मात्रों से अवध्य हूँ॥१९॥ चित्त-शुद्धि के द्वारा ममता से रहित योगाभ्यास और योगाभ्यास से काम-विजय होगा, फिर मोक्ष प्राप्त होगा॥२०॥

अध्याय [१९] इसके अनन्तर अब उस योगशास्त्र का वर्णन करता हूँ, जिससे उत्तम कोई नहीं है। उसी के द्वारा योगिजन ध्यान से शुद्ध आनन्दरूप ब्रह्म को देखते हैं॥१५॥ मैं उसके उपदेश को ठीक-ठीक कहूँगा, उसको तुम चित्त से सुनो। जिन उपायों से चित्त को शरीर में अन्तर्मुख करता हुआ उस आदि-अन्त-रहित परमात्मा को देखता है॥१६॥ जैसे कि कोई मनुष्य सींक को मूँज से खींचकर देखे, उसी प्रकार योगी भी शरीर से आत्मा को जुदा करके देखता है॥२२॥

मूँज को शरीर कहा; सींक को आत्म-रूप कहा; यह श्रेष्ठ दृष्टान्त बड़े उत्तम योगी लोगों से जाना गया है॥२३॥ जब जीवात्मा अपने आत्मा को परमात्मा में अच्छी तरह से संयुक्त देखता है, तब एकता से इस संसार में उसका कोई ईश्वर नहीं है, जो कि तीनों लोकों का स्वामी है, वह भी नहीं॥२४॥ वह योगी अपनी इच्छा के अनुसार देवता, गन्धर्व और मनुष्यों के शरीरों को प्राप्त करता है और जरा-मरण-दशाओं से पृथक् होकर न सोचता है, न प्रसन्न होता है॥२५॥ वह इन्द्रियों को स्वाधीन रखनेवाला योगी देवताओं के देव-भाव को भी प्राप्त करता है और इस विनाशवान शरीर को त्याग करके अविनाशी ब्रह्म को पाता है अर्थात् विदेह कैवल्य तक ही ऐश्वर्य है॥२६॥ योगी अचलेन्द्रियों के द्वारा मन को शरीर में रोककर वहाँ आत्मा की खोज करे और चारों ओर से मोह अर्थात भूल का त्याग करे॥४६॥ इस रीति से सदैव योग का अभ्यास करनेवाला शुद्धचित्त मनुष्य थोड़े ही समय में उस ब्रह्म को पाता है, जिसको कि देखकर प्रधान का जाननेवाला होता है॥४७॥ वह ब्रह्म नेत्रों से देखने में नहीं आता; किसी इन्द्रिय से भी नहीं जाना जाता, यह बड़ा श्रेष्ठ आत्मा केवल चित्त-रूपी दीपक ही से देखने में आता है॥४८॥

शान्तिपर्व (राजधर्म), अध्याय [१२] और अन्य ऋषि लोग चित्त ही में मानसी पूजनादि से यज्ञों को करते हैं। हे राजन्! देवता लोग भी ऐसे ब्राह्मण की इच्छा करते हैं, जो चित्त को एकाग्र करके ब्रह्म-रूप को देखता है, इसी से वह भी ब्रह्म-रूप ही है।

शान्तिपर्व (पूर्वार्द्ध, मोक्षधर्म)

श्लोक— शूद्रो चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

अध्याय [१६] भारद्वाज और भृगुजी का संवाद—जो ब्राह्मण के गुण शूद्र में दृष्टि पड़ें और ब्राह्मण में वर्त्तमान न हों, ऐसी दशा में शूद्र, शूद्र नहीं और ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं गिना जाएगा।

अध्याय [६५] व्यासजी बोले कि जो पुरुष बिना आत्मज्ञान

के दान, तप आदि कर्मों को हजारों वर्षों तक करता है; वह दानादि नाशवान होता है, इस कारण आत्मा का आकांक्षी उसकी प्राप्ति के लिए कर्म करे।

अध्याय [६७] (व्यासजी का वाक्य–) तीनों काल योग का अभ्यास करे; जैसे पात्रों का चाहनेवाला मनुष्य पात्रों की रक्षा करता है, उसी प्रकार एकाग्रता करनेवाला इन्द्रियों के समूह को हृदयकमल में नियत करके सदैव ध्यान करे और योग से चित्त को भयभीत न करे। जिस युक्ति से इस चंचल चित्त को वश में करे, उसी का सेवन करे और तद्रूप होकर उससे चलायमान न हो, वह सावधान योगी है। इस शान्त चित्त-रूप योग-मार्ग से शूद्र और ध र्म जाननेवाली स्त्रियाँ भी परमगति को पाती हैं। परन्तु शान्त चित्त-रूप योगमार्ग में स्त्री और शूद्र भी अधिकारी हैं।

अध्याय (८९) जीवों का कोई धर्म अहिंसा से उत्तम नहीं है। अभय-रूप दानों को सब दानों से श्रेष्ठ कहते हैं।

अध्याय (९२) अब हिंसात्मक धर्म की निन्दा करने को भीष्मजी बोले कि इस स्थान पर प्राचीन इतिहास को कहते हैं, जिसको प्रजाओं के उपकारार्थ राजा विचख्यु ने कहा है। गवालम्भन नामक यज्ञ में वृद्ध देहवाले बैल को देखकर और गौओं के बड़े विलाप को सुनकर यज्ञशाला में नियत निर्दयी ब्राह्मणों को देखते हुए उस राजा ने यह वचन कहा कि लोकों में गौओं के निमित्त कल्याण हो। अज्ञानी नास्तिक, संशययुक्तचित्त, यज्ञ से ही कीर्ति चाहनेवाले मनुष्यों की ओर से यह हिंसात्मक उपदेश किया गया है। धर्मात्मा मनुजी ने सब कर्मों में अहिंसा को ही उत्तम कहा है। मनुष्य अपनी इच्छा से वेद से बाहर पशुओं को मारते हैं। आशय यह है कि हिंसात्मक कर्म अज्ञानियों के हैं। सब जीव मात्र में अहिंसा धर्म सब धर्मों से उत्तम माना गया है। नीच पुरुष ऐसे होते हैं कि उनका कर्मफल, कर्म में प्रवृत्त होने का कारण होता है। वे आदमी यज्ञ-विटप और यज्ञ-कुम्भों को नियत करके निरर्थक मांसों को खाते हैं। इस धर्म की प्रशंसा नहीं की जाती है। मदिरा, मांस, मत्स्य,

मधु, आसव, कृषरोदन; यह सब धूर्त्तों ने प्रवृत्त किया है। श्रेष्ठ लोगों में इसकी प्रवृत्ति नहीं है; न वेदों में इसकी विधि है। मान, मोह, लोभ से यह इच्छा-कल्पना की गयी है। ब्राह्मण सब यज्ञों में विष्णु को ही पूजन के योग्य मानते हैं और उनका पूजन चन्दन-पुष्पों से कहा है।

शान्तिपर्व (उत्तरार्द्ध, मोक्षधर्म)

अध्याय (९०) बिना स्त्री के वेदोक्त यज्ञ कैसे होता है, उसको सुनो कि हिंसा-रहित बुद्धि-युक्त घृतादिक द्रव्यों का देवार्पण कर श्रद्धारूप स्त्री को करता है, यज्ञ को देवता के समान सेवन करके सर्वव्यापी विष्णु ब्रह्म को प्राप्त करे। सब पशुओं में पुरोडाश नामक हव्य पवित्र कहा जाता है अर्थात् पशु-यज्ञ निन्दित है। सत्य नदी सरस्वती है, सब पर्वत पवित्र हैं और आत्मा तीर्थ है अर्थात् जहाँ आत्मयज्ञ है, वहाँ सब तीर्थ हैं।

अध्याय (१०४) युधिष्ठिर बोले कि ज्ञानी पुरुष कौन-से आचार, ज्ञान से भरे स्वभाव और उन्नत स्थान का ज्ञाता होकर ब्रह्मरूप स्थान को पाता है; क्योंकि परा प्रकृति रूपान्तर-दशा से रहित है। भीष्मजी बोले कि मोक्षधर्म अर्थात् अध्यात्म-विद्या में प्रीतिमान वह हितकारी जितेन्द्रिय पुरुष उस प्रकृति से भी ऊँचे, राग-द्वेष-रहित, रूपान्तर अवस्था से पृथक्, एकरसवाले स्थान को पाता है।

अध्याय (११४) उस ब्रह्मविद्या को, जिसमें उपदेश ही प्रधान है, सुनकर उसी को युक्ति-प्रधान जानने की इच्छा से युधिष्ठिर बोले–''हे पितामह ! जिसने सब शास्त्रों के सिद्धान्त को नहीं जाना और सदैव संशय में ही पड़ा हुआ है और उस आत्मदर्शन के निश्चय के लिए शम-दमादि के अनुष्ठान को नहीं किया है, उसके कल्याण को आप कहिए।'' भीष्मजी बोले कि ईश्वर में चित्त लगाकर गुरु की पूजा और आचार्यों का सदैव पूजन करे। गुरु आदि से शास्त्रों को सुनना, तदन्तर शुद्ध ब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाला कल्याण कहा जाता है। जो कल्याण चाहे, दूसरे की निन्दा से अपनी प्रतिष्ठा न

चाहे; केवल अपने गुणों से ही लघुजनों से प्रतिष्ठा चाहे। जो प्रतिष्ठावान पुरुष अपने गुण और ऐश्वर्य के कारण दूसरे गुणवानों की निन्दा करते हैं, वे बड़े अज्ञानी हैं। वे अपने अभिमान से बड़े लोगों को शिक्षा करते हुए अपने को बड़ा मानते हैं। किसी की निन्दा न करता हुआ अपनी प्रशंसा रहित गुणी दयालु पुरुष ब्रह्म को पाता है। न बोलने से पुष्पों की पवित्र गंध उठती है और आकाश में निर्मल सूर्यदेवता बिना बोले प्रकाश करते हैं। इस प्रकार के दूसरे जीव बुद्धि के द्वारा संसार में प्रसिद्ध हैं। जो अधिक भाषण नहीं करते हैं, वे लोक में यश को प्रकाश करते हैं। मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा से लोक में प्रकाश नहीं करता है। विद्वान मौन भी प्रकाशमान होता है। ऊँचे स्वर से कहा हुआ भी असार शब्द निचाई को पाता है और धीरे से भी कहा हुआ सुन्दर शब्द लोकों में प्रकाश करता है। बिना पूछे किसी से कुछ न कहे और पूछा हुआ भी न्याय के विरुद्ध न कहे।

अध्याय (१२१) पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि—ये ही सप्त ऋषि हैं। इन सब ऋषियों के ऊपर हजारों आरेवाला चक्र देह से पृथक् परमात्मा है। वह देह में नियत है और पृथक्-पृथक् मण्डलों में षट् चक्रों के राजा गणेश आदि जो कि योग के विघ्नों को नाश करनेवाले हैं, वे वर्त्तमान हैं। (जनक से पराशर का कथन) हे राजन्! मैं शास्त्र से अच्छे प्रकार विचार कर तुमसे कहता हूँ कि जीव आत्मज्ञान ही को प्राप्त करे और हिंसात्मक कर्मों का त्याग करे।

अध्याय (१३२) योगियों के शास्त्र में करने योग्य ध्यान ही परम सामर्थ्य है। हे तात! महान्धकार के अन्त में वर्त्तमान वह सृष्टि का स्वामी बुद्धिरूप धन से पूर्ण, सबसे परे वर्त्तमान उस पुरुष के चित्तरूपी दीपक से दिखाई देता है। सर्व वेद-पारग ब्राह्मणों से वह अन्धकार का नाश-कर्त्ता चिदात्मा प्रकाशमान सूत्रात्मा से पृथक् उपाधि-रहित ब्रह्म कहा गया है; जैसे कि समुद्र की लहरें समुद्र में ही लय हो जाती हैं। हे राजन्! इसी प्रकार से प्रकृति की भी उत्पत्ति और लय है अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी शुद्ध ब्रह्म में लय हो जाती है। प्रकृति के लय हो जाने पर इस पुरुष

की भी एकता होती है और जब उसको उत्पन्न करती है, तब अनेकता होती है। जो नाना प्रकार की बुद्धि रखनेवाले पुरुष अनेकता को देखते हैं और उनमें ब्रह्म-दर्शन नहीं है, वे बारम्बार शरीरों को धारण करते हैं। इस ब्रह्म को विज्ञान और ध्यान-बल से अपरोक्ष न करनेवाले ब्रह्म का ज्ञान न होने से शरीर प्राप्त करनेवाले पुरुष शरीर के अधीन होंगे। यह सब संसार अव्यक्त अर्थात् अज्ञान-प्रधान है और पचीसवाँ चिदात्मा इससे पृथक् है। जो पुरुष इस पचीसवें को जानते हैं, उनको इस दुःख-रूपी संसार का कोई भय नहीं है।

अध्याय (१३३) जब योगी उस प्रकृति को ब्रह्म में लय करता है, तब वह पचीसवाँ चिदाभास जीव उन गुणों समेत लय को प्राप्त होता है अर्थात् तीसरा महापुरुष शेष रहता है। तात्पर्य यह है कि जबतक चिदाभास और प्रकृति की एकता है, तबतक दोनों अविनाशी हैं। फिर दोनों का नाश हो जाता है। जब प्रलय के समय महत्तत्त्वादि गुण प्रकृति के गुणों में लय होते हैं, तब प्रकृति ही अकेली रह जाती है।

अध्याय [१३६] योगियों का और सांख्य मतवालों का उत्तम ज्ञान है। उसको विभागपूर्वक सुनो, तात्पर्य यह है कि योगमत में अव्यक्त को जड़ और सत्य भी मानते हैं और सांख्य मत में चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त अव्यक्त शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से लय हो जाता है।

अध्याय (१४४) वेदपाठ, जप, तप, यज्ञ आदि से ज्योति-रूप स्थान को नहीं पाता है, वह अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करके ही प्रतिष्ठा को पाता है। इसी प्रकार महत्तत्त्व और अहंकार में नियत होकर देवताओं के लोकों को और अहंकार से ऊपर के भी स्थान को प्राप्त करे अर्थात् जिस-जिसकी उपासना करता है, उस-उसके रूप को प्राप्त करता है और जो शास्त्र का जाननेवाला ज्ञानी अव्यक्त से ऊँचे और सदैव एक दशा रखनेवाले, जन्म-मृत्यु से रहित, सत्य-मिथ्या से पृथक् ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म-भाव को पाते हैं। हे राजन्! ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को माया से जुदा कहते हैं। जो मनुष्य ज्ञान-मार्ग में नियत नहीं है, वह यज्ञ, तप, नियम और व्रतों के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त होकर फिर पृथ्वी में गिरकर जन्म को पाते हैं।

अध्याय (१४४), पृ० ७२३– ज्ञान ही से आत्मा जन्म-मृत्यु से रहित होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा कोई नीच भी हो, उससे भी ज्ञान लेने में श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धावान को जन्म-मृत्यु नहीं होती है।

अध्याय [१४८] हजार अश्वमेध और सौ वाजपेय यज्ञ का फल योग की कला के भी समान नहीं होता है।

अध्याय (१५४) विद्या के समान आँख नहीं है, त्याग के समान सुख नहीं। पाप कर्म से पृथक्, उत्तम प्रकृति, श्रेष्ठ वृत्ति और सदाचार; ये महाकल्याण हैं। दया धर्म ही उत्तम है, शान्त होना ही बड़ा पराक्रम है और ज्ञानों में आत्मज्ञान श्रेष्ठ है और सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है। सत्य बोलना कल्याण-रूप है और सत्य से भी वह उत्तम है, जो हितकारी बात कहे। इस निमित्त जीवों का जो प्रिय वचन या प्राप्त होनेवाला हित है, वह सत्यता ही जानो। इन्द्रियों से जो-जो वस्तु ली जाती है, उनका नाम व्यक्त है। जो इन्द्रियों के घेरे से बाहर है और कारण-रूप देह से पकड़ने योग्य है, वह अव्यक्त कही जाती है।

अध्याय–[१५५] बुद्धि के द्वारा चित्त के दुःख को और औषधि से देह के दुःख को निवृत्त करे। युवावस्था, रूप, जीवन, धन का ढेर, नीरोगता, मित्रों के साथ निवास इत्यादि सब वस्तुएँ सदैव नहीं रहती हैं; इस हेतु से इन वस्तुओं में बुद्धिमान पण्डित लोभ न करें।

अध्याय (१५९) (नारायण-नारद संवाद, नारायण-वाक्य) द्वैतता-रहित, गुप्त और चेष्टा के बिना अचल, सनातन, इन्द्रियों के विषय और तत्त्व से भी पृथक् है, वही जीवों की अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। वही अविनाशिनी शक्ति-रूप प्रकृति है, वही अव्यक्त वा व्यक्त भाव में नियत होती है। उसी को हम दोनों, जीव-ईश्वर (नर-नारायण) का उत्पत्ति-स्थान जानो और जो यह कार्य-कारण का आत्मा है, उसी को हम दोनों पूजते हैं, उससे बड़ा कोई पिता, देवता और ब्राह्मण नहीं है। वह हमारी आत्मा जानने के योग्य है, इसी हेतु हम उसको पूजते हैं। मुक्त लोगों की लय-रूपा

गति क्षेत्रज्ञ है। वही चिदात्मा माया से सगुण रूप और वास्तव में निर्गुण कहा जाता है। वह योग और ज्ञान से दृष्टि में आता है। हम दोनों उसी से प्रकट हुए, ऐसे जानकर उस सनातन आत्मा को पूजते हैं।

अध्याय (१६०) सदैव उस आदिदेव ज्योति-स्वरूप की शरण में (मैं नारद) रहता हूँ।

अध्याय (१६१) राजा उपरिचर वसु को बृहस्पतिजी ने हिंसा-रहित (अर्थात् जिसमें पशुओं का नाश नहीं हुआ) अश्वमेध यज्ञ कराया था।

अध्याय (१६२) देवताओं ने उत्तम ब्राह्मण से यह कहा कि अज अर्थात् बकरे से यज्ञों में हवन करना चाहिए। उस बकरे को भी अज जानना योग्य है, दूसरा पशु न समझना, यह मर्यादा है। ऋषियों ने उत्तर दिया कि यज्ञों में बीजों के द्वारा हवन करना चाहिए। यह वेद की श्रुति है; क्योंकि सब बीजों का अज नाम है; इस कारण तुम बकरे के मारने योग्य नहीं हो। हे देवता लोगो ! यह धर्म सत्यपुरुषों का नहीं है, जिसमें पशु मारा जाय। यही यज्ञ श्रेष्ठ है, पशुओं को क्यों मारें ?

अध्याय [२४०] गी० प्रे० गो०–

कुर्यात् परिचयं योगे त्रैकाल्ये नियतो मुनिः।
गिरि शृंगे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत्॥ २५॥

नित्य नियम से रहकर योगी-मुनि किसी पर्वत के शिखर पर, किसी देववृक्ष के समीप या एकान्त मंदिर में अथवा वृक्षों के सम्मुख बैठकर तीन समय (सबेरे तथा रात्रि के पहले और पिछले पहर में) योग का अभ्यास करे॥२५॥

संनियम्येन्द्रिय ग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव।
एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः॥ २६॥

द्रव्य चाहनेवाला मनुष्य जैसे सदा द्रव्य-समुदाय को कोठे में बाँध करके रखता है, उसी तरह योग का साधक भी इन्द्रिय-समुदाय को संयम में रखकर हृदय-कमल में स्थित नित्य आत्मा का एकाग्र भाव से चिन्तन करे। मन को उद्विग्न न होने दे ॥२६॥

येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मनः।
तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत् ततः॥ २७॥

जिस उपाय से चंचल मन को रोका जा सके, योग का साधक उसका सेवन करे और उस साधन से वह कभी विचलित न हो॥२७॥

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी।
तावप्ये तेन मार्गेण गच्छेता परमां गतिम्॥ ३४॥

कोई नीच वर्ण का पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उसके मन में धर्म-सम्पादन की अभिलाषा है, तो इस योगमार्ग का सेवन करने से उन्हें भी परमगति की प्राप्ति हो सकती है॥३४॥

अध्याय (३१८)

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यूविशेताम्॥ ८८॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्ण में उत्पन्न हुए पुरुष से भी यदि ज्ञान मिलता हो, तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्य को सदा उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्य में जन्म-मृत्यु का प्रवेश नहीं हो सकता॥८८॥

मूसल पर्व

मूल—ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामासपुरुषैराप्तकारिभिः॥ ३१॥

अध्याय (७) अर्जुन ने वासुदेव और बलदेवजी के शरीर को खोजकर सत्य और ठीक कर्म करनेवाले आप्त पुरुषों के द्वारा उनका दाह कराया॥३१॥

अध्याय (८) श्रीकृष्णजी ने पृथ्वी का भार उतार, शरीर को त्यागकर अपना परम धाम पाया।

अध्याय ८—अर्जुन उवाच—

यः स मेघवपुः श्रीमान्बृहत्पंकजलोचनः।
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः॥ ८॥

अर्थ—अर्जुन बोले—जिसकी देह—श्री बादल-सदृश और दोनों नेत्र विशाल कमल-दल के तुल्य थे, उस श्रीमान् कृष्ण ने राम

के सहित शरीर छोड़कर सुरलोक में गमन किया है॥८॥

स्वर्गारोहण पर्व

अध्याय (३) गीता प्रे० गो०—
तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति॥ १५॥
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव।
तथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा॥ १६॥
द्रौपदी च तथा कृष्णा याजेन नरकं गताः।
आगच्छ नर शार्दूल मुक्तास्ते चैवकल्मषात्॥ १७॥

अध्याय (३) तुम (युधिष्ठिर) ने अश्वत्थामा के विषय में द्रोणाचार्य से छल-संयुक्त बात की॥१५॥ हे राजन्! तुम्हारे इतने छल करने से ही तुमको नरक दिखलाया गया। जैसे तुमने मिथ्या नरक देखा, वैसे ही भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव॥१६॥ और कृष्णा—द्रौपदी भी नरक में आई। हे नरोत्तम! आओ, वे भी पाप से छूटे॥१७॥

हे तात! सब राजाओं से नरक अवश्य देखने-योग्य है, इसी से तुमने दो मुहूर्त्त तक बड़ा दुःख पाया॥३७॥ राजा ने पवित्र करनेवाली देवताओं की पवित्र नदी गंगाजी में गोता लगाकर मनुष्य-शरीर का त्याग किया॥४१॥

अध्याय (४) वहाँ (स्वर्ग में युधिष्ठिर गए थे) उन गोविन्दजी को भी देखा जो कि ब्रह्माजी से उपासना आदि के योग्य शरीर धारण किए हुए थे और पूर्व देखे उस शरीर-से दिखाई देते थे॥२॥ वे अपने शरीर से प्रकाशमान, दिव्य अस्त्र और भयानक पुरुष-रूपधारी, चक्रादि दिव्य आयुधों से सेवित॥३॥ तथा बड़े तेजस्वी वीर अर्जुन से युक्त थे।

वसुभिः सहितं पश्य भीष्मं शान्तनवं नृपम्॥ २१॥ अ० ४॥

शान्तनु के पुत्र राजा भीष्म पितामह को वसुओं के साथ में देखो॥२१॥

वसूनेव महातेजा भीष्मः प्राप महाद्युतिः॥ ११॥ अ० ५॥

अध्याय (५) महातेजस्वी बड़े पराक्रमी भीष्मजी वसुओं में लीन हो गए॥११॥

अनन्तो भगवान् देवः प्रविवेश रसातलम्॥ २२$^{१}/_{२}$॥

भगवान् अनन्त देवता बलदेवजी रसातल में प्रवेश कर गए ॥२२$^{१}/_{२}$॥

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणान्ते विवेश ह॥ २४॥ अ०५॥

जो देवताओं के भी देवता सनातन नारायण हैं, उनके अंशरूप वासुदेवजी कर्म के अन्त होने पर उसी में प्रवेश कर गए॥२४॥अ०५॥

अध्याय (१६) भगवान् की विभूतियों का वर्णन–भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उद्धवजी से कहा–व्रतों में मैं अहिंसा व्रत हूँ। आठ प्रकार के योगों में मैं मनोनिरोध-रूप समाधि हूँ।

कल्याण, संक्षिप्त पद्मपुराणांक, पृ० ९४,

गाय बोली–भाई बाघ!

मूल-तपः कृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञान कर्म च।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥
सर्वेषामेव दानानामिदमेवैकमुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतानां नास्ति दानमतः परम्॥
चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति।
स सर्व भय संत्यक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
नास्त्यहिंसा समं दानं नास्त्यहिंसा समं तपः।
यथा हस्तिपदे ह्यन्यत्पदं सर्व पलीयते।
सर्वे धर्मास्तथा व्याघ्र प्रतीयन्ते ह्यहिंसया॥

–१८। ४३७–४४१

विद्वान् पुरुष सत्ययुग में तप की प्रशंसा करते हैं और त्रेता में ज्ञान तथा उसके सहायक कर्म की। द्वापर में यज्ञ को ही उत्तम बतलाते हैं, किन्तु कलियुग में एक मात्र दान ही को श्रेष्ठ माना गया है। सम्पूर्ण दानों में एक ही दान सर्वोत्तम है; वह है सम्पूर्ण भूतों को अभयदान। इससे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है। जो समस्त चराचर प्राणियों को अभयदान देता है, वह सब प्रकार के भय से

मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। अहिंसा के समान न कोई दान है, न तपस्या। जैसे हाथी के पद-चिह्न में सभी प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा द्वारा सभी धर्म प्राप्त हो जाते हैं।

– १८।४३७-४४१

पद्मपुराणांक, पृष्ठ १४३, राजा श्वेत (विदर्भ देश के राजा वसुदेव के पुत्र) की कथा

अगस्त्यजी ने श्रीरामजी को कहा था कि राजा श्वेत ब्रह्मा के लोक में गए। दान नहीं किया था, अतः उसको वहाँ भी भूख-प्यास सताती थी। उसको निज मृत शरीर का मांस भोजन करने की आज्ञा ब्रह्मा ने दी।

पृ० ३११, ३१२–गुरुतीर्थ–गुरुतीर्थ बड़ा उत्तम तीर्थ है, मैं उसका वर्णन करता हूँ। गुरु के अनुग्रह से शिष्य को लौकिक आचार-व्यवहार का ज्ञान होता है, विज्ञान की प्राप्ति होती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार गुरु शिष्यों को उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत् को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं। सूर्य दिन में प्रकाश करते हैं, चन्द्रमा रात में प्रकाशित होते हैं और दीपक केवल घर के भीतर उजाला करता है; परन्तु गुरु अपने शिष्य के हृदय में सदा ही प्रकाश फैलाते रहते हैं। वे शिष्य के अज्ञानमय अन्धकार का नाश करते हैं; अतः शिष्य के लिए गुरु ही सबसे उत्तम तीर्थ है।

स्कन्द पुराण

गौडी माध्वी तथा पौष्टी पौस्तकी विजया यथाः।
षडेता मदिराः प्रोक्ता वर्जनीया मुमुक्षुभिः॥

अर्थ–गुड़ की बनी हुई, महुआ की बनी हुई और आटे की बनी हुई–ये तीन प्रकार की मदिरा प्रसिद्ध ही हैं। और अफीम, भाँग, तम्बाकू–ये तीन प्रकार की और मदिरा हैं। ये सब मिलाकर छओं मदिराओं को मोक्ष के चाहनेवाले पुरुष त्याग देवें। ('वैष्णव धर्म-दिवाकर' से उद्धृत।)

मनुस्मृति

अध्याय (२) यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥२१८॥

जैसे कुदाली से खोदते-खोदते मनुष्य जल पाता है, उसी प्रकार गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते-करते शिष्य गुरु की सम्पूर्ण विद्या को पाता है॥२१८॥

श्रद्धा-युक्त हो शुभ कहिए जिसकी शक्ति देखी गई है, ऐसी गारुड़ आदि विद्या को शूद्र से भी ग्रहण कर ले और चाण्डल से भी मोक्ष के उपाय, तत्त्वज्ञान को ग्रहण करे॥२३८॥

अध्याय (४)
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥ २५८॥

एकान्त में अकेला अपनी आत्मा के हित का नित्य ही ध्यान करे, इसमें परम कल्याण होगा॥२५८॥

अध्याय (५)
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ ४८॥

जीवों की हिंसा—बिना मांस प्राप्त नहीं होता और जीवों की हिंसा स्वर्ग-प्राप्ति में बाधक है; अतः मांस-भक्षण कदापि नहीं करना चाहिए॥४८॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ ५१॥

(१) पशुवध करने की आज्ञा प्रदान करनेवाला, (२) शस्त्र से मांस काटनेवाला, (३) मारनेवाला, (४) बेचनेवाला, (५) मोल लेनेवाला, (६) मांस को पकानेवाला, (७) परोसने के लिए लानेवाला, (८) खानेवाला; ये आठो घातक (हिंसा करनेवाले) ही कहलाते हैं॥५१॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत्॥ ५२॥

जो मनुष्य दूसरे के मांस द्वारा अपने मांस को बढ़ाने की इच्छा-मात्र करता है, उससे अधिक दूसरा पापी नहीं है॥५२॥

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५५॥

'मांस' पद का वास्तविक तात्पर्य महर्षियों ने यही बतलाया है कि जिस जीव का मांस हम भक्षण करेंगे, वही अन्य जन्म में हमारे मांस को भी भक्षण करेगा। एतदर्थ मांस-भक्षण नहीं ही करे, यही सर्वोत्तम है॥५५॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥५६॥

मांस भक्षण करने, मद्य (शराब आदि) पीने तथा मैथुन करने में प्रायः जीवों की प्रवृत्ति है और अज्ञानवश इसमें दोष नहीं मानते हैं, परन्तु इन सबका परित्याग महाफल देनेवाला है॥५६॥

अध्याय (१२)
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयस्करं परम्॥ ८३॥

वेद-पाठ, तप, ज्ञान, इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा (किसी जीव को न मारना), गुरु की सेवा-शुश्रूषा करना; ये सब कर्म बड़े कल्याणकारी हैं॥८३॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्।
किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥ ८४॥

इन सब शुभ कर्मों में से प्रत्येक कर्म मनुष्यों के मोक्ष के हेतु अत्यन्त कल्याण करनेवाले हैं॥८४॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्व विद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ ८५॥

इन सब कर्मों में आत्मज्ञान श्रेष्ठ समझना चाहिए; क्योंकि यह सबसे उत्तम विद्या है, अविद्या का नाश करती है और जिससे अमृत अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है॥८५॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।

निष्कामं ज्ञान पूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ ८९॥

इस लोक और परलोक में मनोवांछित फल प्राप्त करने के अभिप्राय से जो कर्म है, वह प्रवृत्ति कहलाता है और निष्काम भाव से ज्ञानपूर्वक जो कर्म है, वह निवृत्ति कहलाता है॥८९॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पंच वै॥ ९०॥

प्रवृत्ति कर्म करने से देवताओं के समान होता है और निवृत्ति कर्म करने से पृथ्वी आदि पंच भूतों को विजय करता है अर्थात् पंचभूतों से जन्म होता है, उनको विजय करने से फिर जन्म नहीं होता॥९०॥

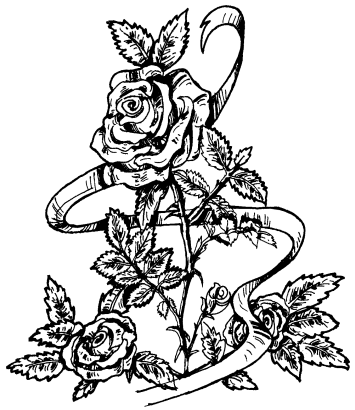

सत्संग-योग

भाग-२

भगवान् महावीर

आत्मशोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृंगार, स्त्रियों (पुरुषों) का संसर्ग और पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन; सब तालपुट विष के समान महान भयंकर हैं।

जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसी की आत्मा शुद्ध होती है और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसी के पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल, शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

समाधि की इच्छा रखनेवाले तपस्वी-श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण बुद्धि के तत्त्वज्ञानी साथी की खोज करे और ध्यान करने योग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक अपनी आत्मा को जीत ले, तो यही उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय होगी।

जब मन, वचन और शरीर के भोगों का निरोध कर आत्मा शैलेशी (शैलवत् अचल-अकम्प) अवस्था पाती है-पूर्ण रूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों को क्षय कर, सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करती है।

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकान्तचित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना तथा चित्त में धृति-रूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस् का मार्ग है।

जिस प्रकार शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्षु भी जीवन-संग्राम में विजयी होकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्त रूप से संयम-धर्म का पालन करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष पद पाता है।

भगवान बुद्ध

अगर मनुष्य शंका दूर करने में खुश होता है, सदा विचार करता है और ऐसी वस्तु का ध्यान करता है, जो शरीर-संबंधी नहीं है, तो वह अवश्य काल की बेड़ी को काट डालेगा।

सब दानों में धर्म का दान उत्तम है; सारे रसों में धर्म का रस मीठा है; सारे आनन्दों में धर्म का आनन्द श्रेष्ठ है; तृष्णा को मारने से सब दुःख नष्ट होते हैं।

जो कभी अपने को नाम और रूप की वस्तु नहीं समझता और बीते हुए का शोक नहीं करता, वह बेशक भिक्षु कहलाता है। हे भिक्षु! ध्यान कर और सावधान रह, अपने चित्त को खुशी की तरफ न ले जा, ताकि तुझे बेपरवाही के बदले नरक में लोहे का गोला न निगलना पड़े और जलते समय न चिल्लाना पड़े कि हाय ! यह दुःख है।

ज्ञान-बिना ध्यान नहीं और ध्यान-बिना ज्ञान नहीं है; जो ज्ञान और ध्यान दोनों रखता है, निर्वाण के समीप है। भिक्षु जो अपने शून्य हृदय में पहुँच गया है, जिसका चित्त स्थिर है, वह जो धर्म को साफ तौर से देखता है, अलौकिक आनन्द पाता है। पाप मत करो, भलाई करो, अपना चित्त शुद्ध करो, यही कुल बुद्धों का उपदेश है।

जैसे तीर बनानेवाला अपने तीर को सीधा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान आदमी अपने चंचल और चलायमान चित्त को स्थिर करता है, जिसको काबू करना कठिन है, जिसका रोकना कठिन है।

हंस सूर्य के रास्ते पर जाते हैं, वह अद्‌भुत रीति से आकाश में चलते हैं; बुद्धिमान लोग दुनिया से निकलने का मार्ग पा जाते हैं, जब वह मार और उसकी सेना को जीत लेते हैं। मनुष्य जिससे बुद्ध का बताया हुआ धर्म सीखे तो उसे परिश्रम से उसकी सेवा करनी चाहिए, जैसे ब्राह्मण यज्ञ-अग्नि की पूजा करता है। जो उनकी सेवा करता है, जो पूजने योग्य हैं, चाहे वह बुद्ध हों या उनके चेले हों, जिन्होंने पापों के समूह को जीत लिया हो और दुःख की नदी को पार कर लिया हो, जो उनका सम्मान करता है, जिन्होंने आजादी पा ली हो और जो भयभीत न हो, उसके पुण्य का कोई अन्दाजा नहीं कर सकता। (ग्रन्थ—धम्मपद) ○

भगवान् शंकराचार्यजी महाराज

(ग्रन्थ 'प्रबोध-सुधाकर'-नादानुसंधान)

नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) मन के लिए सिद्धि के आरम्भ, स्थिरता, विश्राम, विश्वास और वीर्य-शुद्धि का बतलानेवाला परम चिह्न है। (श्लोक १४५)

मन तो भेरी, मृदंग, शंख आदि के आघातजन्य नादों में भी एक क्षण के लिए मग्न हो जाता है, फिर इस मधुवत् मधुर, अखण्डित और स्वच्छ अनाहत नाद की तो बात ही क्या है ? (श्लोक १४६)

विषयों से उपराम होकर मन जैसे-जैसे स्थिर होता जाता है, वैसे-वैसे ही बाँसुरी के समान दीर्घ और स्फुट नाद सुनाई पड़ने लगता है। (श्लोक १४७)

नाद के भीतर रहनेवाली जो ज्योति है, उसमें यदि मन चिरकाल तक लीन हो जाय तो फिर मनुष्य संसार-बन्धन में नहीं पड़ता। (श्लोक १४८)

यद्यपि लय के और अनेक उपाय हैं, तथापि जो चित्त-लय दीर्घकाल तक नादानुसंधान करते हुए परमानन्द का अनुभव होने से प्राप्त होता है, वह सर्वोत्तम है। (श्लोक १४९)

महायोगी गोरखनाथजी महाराज के पद्य

(कल्याण-योगांक के पृष्ठ ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५ और ७०६ से उद्धृत)

पद्य

बस्ती न शुन्यं शुन्यं न बस्ती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर मँहि बालक बोलहिँ, वाका नाँव धरहुगे कैसा ॥१॥
सप्त धातु का काया प्यंजरा, ता माहिं 'जुगति' बिन सूवा।
सतगुरु मिलै त उबरै बाबू, नहिं तौ परलै हूवा ॥२॥
आवै संगै जाइ अकेला। ताथैं गोरख राम रमेला।
काया हंस संगि ह्वै आवा। जाता जोगी किनहुँ न पावा ॥३॥
जीवत जग में मुआ समाण। प्राण पुरिस कत किया पयाण।
जामण मरण बहुरि वियोगी। ताथैं गोरख भैला योगी ॥४॥
गगन मंडल में औंधा कूँवाँ, तहाँ अमृत का वासा।

सगुरा होइ सू भर भर पीया, निगुरा जाय पियासा ॥४॥
गोरख बोलै सुणहु रे अवधू, पंचौं पसर निवारी।
अपनी आतमा आप विचारो, सोवो पाँव पसारी ॥५॥
ऐसा जाप जपो मन लाई। सोऽहं सोऽहं अजपा गाई ॥
आसन दिढ़ करि धरो धियान। अहनिसि सुमिरौ ब्रह्मगियान ॥
नासा अग्र निज ज्यों बाई। इड़ा प्यंगुला मधि समाई ॥
छह सै सहँस इकीसौ जाप। अनहद उपजै आपै आप ॥
बंकनालि में ऊगै सूर। रोम रोम धुनि बाजै तूर ॥
उलटै कमल सहस्त्र दल वास। भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकाश॥६॥

खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए ॥७॥
धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा।
अहिनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेवं ॥
हठ न करिबा, पड़े न रहिबा।
यूं बोल्या गोरख देवं ॥८॥
कै चलिबा पंथा, कै सीबा कंथा।
कै धरिबा ध्यान, कै कथिबा ज्ञान ॥९॥
हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणंत गोरख रावं ॥१०॥
गोरख कहै सुनहु रे अवधू, जग में ऐसे रहणा।
आँखे देखिबा, काने सुणिबा, मुखथैं कछू न कहणा ॥११॥
नाथ कहै तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न करणा।
यहु जग है काँटे की बाड़ी, देखि दृष्टि पग धरणा ॥१२॥
मन में रहणा, भेद न कहना, बोलिबा अमृत वाणी।
आगिका अगिनी होइबा अवधू, आपण होइबा पानी ॥१३॥

गोरखनाथजी महाराज के शिष्य स्वात्मारामजी

महाराज का वचन

('हठयोग प्रदीपिका' से उद्धृत)

श्लोक-महति श्रूयमाणोऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥८७॥

अर्थ—मेघ, भेरी आदि का जो महान् शब्द है, उसके तुल्य

शब्द के सुनने पर भी उन शब्दों में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म जो नाद है, उसका चिन्तन करे; क्योंकि सूक्ष्म नाद चिरकाल तक रहता है, उसमें आसक्त हुआ है चित्त जिसका, ऐसा मनुष्य भी चिरकाल तक स्थिरमति हो जाता है॥८७॥

प्रभु ईसा मसीह

आदि में वचन (शब्द) था और वचन (शब्द) ईश्वर के संग था और वचन ईश्वर था। (पवित्र बाइबिल—सेन्ट जॉन-योहन्ना)

शरीर का दीपक आँख है, इसलिए यदि तेरी आँख एक हो तो तेरा सब शरीर उजियाला होगा। परन्तु यदि तेरी आँख बुरी हो तो तेरा सारा शरीर अँधियारा होगा। जो ज्योति तुझमें है, सो यदि अंधकार है, तो वह अन्धकार कैसा बड़ा है।

(पवित्र बाइबिल—सेन्टमेथ्यू, अध्याय ६)

सकेत फाटक से प्रवेश करो; क्योंकि चौड़ा है वह फाटक और चाकर है वह मार्ग, जो विनाश को पहुँचाता है और बहुत हैं, जो उसमें पैठते हैं। वह फाटक सकेत है और वह मार्ग सकरा है, जो जीवन को पहुँचाता है और थोड़े हैं, जो उसे पाते हैं।

(पवित्र बाइबिल—सेन्ट मेथ्यू, अध्याय ७)

कबीर साहब

(काशी नागरीप्रचारिणी सभा की 'कबीर-ग्रन्थावली' से)

विरह (साखी)

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यूँ पाइये, दुर्लभ हरि दीदार ॥२७॥

परचा कौ अंग

अनहद बाजै नीझर[1] झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति[2] अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥४४॥

॥ पीव पीछांणन ॥

संपटि[3] मांहिं समाइया, सो साहिब नहिं होइ ॥
सकल मांड[4] में रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ॥१ ॥

(१) ज्योति। (२) अविगत, सर्वव्यापक (परम प्रभु)। (३) गर्भ। (४) पसार, रचना, विश्व।

रहै निराला मांड़ थैं, सकल मांड ता माहिं ॥
कबीर सेवै तास कूँ, दूजा कोई नाहिं ॥२॥
जाकै मुँह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप ॥
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत्त अनूप ॥३॥

॥ रमैणी ॥

नैंना बैंन अगोचरी, श्रवणां करनी सार ।
बोलन कै सुख कारनैं, कहिये सिरजनहार ।

पद (१) पृष्ठ १५८

बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत न मेला ।। टेक॥
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै ।
माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर अँगना फिरि आवै ।।
पाँच जना की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला ।
कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला ।।२०७॥

(२) पृष्ठ २०१

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ॥ टेक॥
अंजन उतपति वो ॐकार, अंजन[१] मांड्या सब विस्तार ।
अंजन ब्रह्मा शंकर इंद, अंजन गोपी संगि गोब्यंद ॥
अंजन वाणी अंजन वेद, अंजन कीया नाना भेद ।
अंजन विद्या पाठ पुरान, अंजन फोकट कथहि गियान ॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव ।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
अंजन कहौं कहाँ लग केता, दान पुंनि तप तीरथ जेता ।
कहै कबीर कोइ बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥

(३) पृष्ठ २०२

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार ।टेक॥
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ।

(१) माया ।

अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यो समाइ ॥
जोग ध्यान तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे राम अधार ॥३३७॥

॥ रमैणी ॥ पृष्ठ २३०

अलख निरंजन लखै न कोई । निरभै निराकार है सोई ॥
सुंनि अस्थूल रूप नहिं रेखा । द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा ॥
बरन अबरन कथ्यौ नहिं जाई । सकल अतीत घट रह्यौ समाई ॥
आदि अंत ताहि नहिं मधे । कथ्यौ न जाई आहि अकथे ॥
अपरंपार उपजै नहिं बिनसै । जुगति न जानियैं कथिये कैसै ॥
जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ ॥

पृष्ठ २३७

भगति हेत गावै लैलीना । ज्यूँ बन नाद कोकिला कीन्हा ॥
बाजै शंख सबद धुनि बेना । तन मन चित हरि गोबिन्द लीना ॥

पृष्ठ २४४

साँच सील का चौका दीजै। भाव भगति की सेवा कीजै ॥
भाव भगति की सेवा मानै । सतगुरु प्रकट कहै नहिं छानै ॥
अनभै उपजि न मन ठहराई । पर कीरति मिलि मन न समाई ॥
जब लग भाव भगति नहिं करिहौ। तब लग भवसागर क्यूँ तिरिहौ ॥
भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै सूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहिं रै मूल ॥

साखी, पृष्ठ २५८

कबीर मेरी सिमरनी, रसना ऊपरि रामु ।
आदि जुगादि सगल भगत, ताको सुख विश्राम ॥१२१॥

पृष्ठ २६३

सेख सबूरी बाहरा, क्या हज काबै जाइ ।
जाका दिल साबत नहीं, ताको कहाँ खुदाइ ॥

पद, पृष्ठ २६९

हरि महि तनु है तनु महि हरि है सर्व निरंतर सोई रे ।
कहि कबीर राम नाम न छोड़ौ सहजे होइ सु होई रे ॥

इहु जीउ राम नाम लव लागै । जरा मरन छूटे भ्रम भागै ॥
अनहद सबद होत झनकार । जिह पौड़े प्रभु श्रीगोपाल ॥
राम जपतु तनु जरि किन जाइ । राम नाम चित्त रह्या समाइ ॥

पृष्ठ २७०

कहत कबीर अवर नहिं कामा। हमरे मन धन राम को नामा ॥

पृष्ठ २८३

गुरु मिलि ताके खुले कपाट । बहुरि न आवै योनी बाट ॥

पृ० ३२८ ॥ ग्रंथसाहब, नानक-पंथ, पृ० १२५०॥

सुन्न संध्या तेरी देव देवा करि अधपति आदि समाई ।
सिद्ध समाधि अन्त नहिं पाया लागि रहे सरनाई ॥
लेहु आरती हो पुरुष निरंजन सतिगुरु पूजहु भाई ।
ठाढ़ा ब्रह्मा निगम विचारै अलख न लखिया जाई ॥
तत्तु तेल नाम कीया बाती दीपक देह उज्यारा ।
जोति लाय जगदीश जगाया बूझे बूझनहारा ॥
पंचे सबद अनाहद बाजे संगे सारिंगपानी ।
कबीरदास तेरी आरती कीनी निरंकार निरवानी ॥२१०॥

बेलवेडियर प्रेस में छपी शब्दावली

भाग १ (शब्द १), पृष्ठ २

मैं तो आन पड़ी चोरन के नगर, सतसंग बिना जिय तरसे ॥१॥
इस सतसंग में लाभ बहुत है, तुरत मिलावै गुरु से ॥२॥
मूरख जन कोइ सार न जानै, सतसंग में अमृत बरसे ॥३॥
सब्द-सा हीरा पटक हाथ से, मट्ठी भरी कंकर से ॥४॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, सुरत करो वही घर से ॥५॥

(शब्द २) पृष्ठ ४

साधो सब्द साधना कीजै ।
जेहि सब्द से प्रगट भये सब, सोई सब्द गहि लीजै ॥टेक॥
सब्दहि गुरू सब्द सुनि सिष भे, सब्द सो बिरला बूझे ।
सोई सिष्य सोइ गुरू महातम, जेहि अन्तरगति सूझे ॥१॥
सब्दै वेद पुरान कहत हैं, सब्दै सब ठहरावै ।

सब्दै सुर मुनि सन्त कहत हैं, सब्द भेद नहिं पावै ॥२॥
सब्दै सुनि सुनि भेष धरत हैं, सब्द कहै अनुरागी ।
षट दरसन सब सब्द कहत हैं, सब्द कहै वैरागी ॥३॥
सब्दै माया जग उतपानी, सब्दै केरि पसारा ।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, तवन भेद है न्यारा ॥४॥

(शब्द ३) पृष्ठ ६

जिनकी लगन गुरू सों नाहीं ॥टेक॥
ते नर खर कूकर सम जग में, बिरथा जन्म गँवाहीं ॥१॥
अमृत छोड़ि विषय रस पीवैं, धृग-धृग तिन के ताईं ॥२॥
हरि बेल की कोरी तुमड़िया, सब तीरथ करि आई ॥३॥
जगन्नाथ के दरसन करके, अजहुँ न गई करुवाई ॥४॥
जैसे फूल उजाड़ को लागो, बिन स्वारथ झरि जाई ॥५॥
कहै कबीर बिन वचन गुरू के, अन्त काल पछिताई ॥६॥

(शब्द ४) पृष्ठ १३

गगन की ओट निसाना है ॥टेक॥
दहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है ॥१॥
तन की कमान सुरत का रोदा, शब्द बान ले ताना है ॥२॥
मारत बान बिंधा तन ही तन, सतगुरु का परवाना है ॥३॥
मार्‌यो बान घाव नहिं तन में, जिन लागा तिन जाना है ॥४॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, जिन जाना तिन माना है ॥५॥

(शब्द ५) पृष्ठ १४

भक्ती का मारग झीना रे ॥टेक॥
नहिं अचाह नहिं चाहना चरनन लौलीना रे ॥१॥
साधुन के सतसंग में रहे निसिदिन भीना रे ॥२॥
सब्द में सुर्त ऐसे बसे जैसे जल मीना रे ॥३॥
मान मनी को यों तजे जस तेली पीना रे ॥४॥
दया छिमा संतोष गहि रहे अति आधीना रे ॥५॥
परमारथ में देत सिर कछु बिलम्ब न कीना रे ॥६॥
कहै कबीर मत भक्ति का परगट कह दीना रे ॥७॥

(शब्द ६) पृष्ठ २१

बिन सतगुरु नर रहत भुलाना, खोजत फिरत राह नहिं जाना ।।टेक।।
केहर[१] सुत[२] ले आयो गड़रिया, पाल पोस उन कीन्ह सयाना ।
करत कलोल रहत अजयन[३] संग, आपन मर्म उनहुँ नहिं जाना ।।१।।
केहर इक जंगल से आयो, ताहि देख बहुतै रिसियाना ।
पकड़ि के भेद तुरत समुझाया, आपन दसा देख मुसक्याना ।।२।।
जस कुरंग[४] बिच बसत बासना, खोजत मूढ़ फिरत चौगाना[५] ।
कर उसवास[६] मनै में देखै, यह सुगंधि धौं कहाँ बसाना[७] ।।३।।
अर्ध उर्ध बिच लगन लगी है, छक्यो रूप नहिं जात बखाना ।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, उलटि आपु में आपु समाना ।।४।।

(शब्द ७) पृष्ठ २९

अपने घट दियना बारु रे ।।टेक।।
नाम का तेल सुरत कै बाती, ब्रह्म अगिन उद्गारु रे ।
जगमग जोत निहारु मंदिर में, तन मन धन सब वारु रे ।।१।।
झूठी जान जगत की आसा, बारम्बार बिसारु रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, आपन काज सँवारू रे ।।२।।

(शब्द ८) पृष्ठ ४३

साधो भाई जीवत ही करो आसा ।।टेक।।
जीवत समुझै जीवत बूझै, जीवत मुक्ति निवासा ।
जियत करम की फाँस न काटी, मुए मुक्ति की आसा ।।१।।
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा ।
अबहुँ मिला सो तबहुँ मिलैगा, नहिं तो जमपुर वासा ।।२।।
दूर दूर ढूँढ़ै मन लोभी, मिटै न गर्भ तरासा ।
साध सन्त की करै न बंदगी, कटे करम की फाँसा ।।३।।
सत्त गहै सतगुरु को चीन्है, सत्तनाम विश्वासा ।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा ।।४।।

(१) सिंह । (२) बेटा । (३) बकरियों, भेड़ियों । (४) मृगा । (५) मैदान । (६) सोच । (७) मँहकता है ।

(शब्द ९) पृष्ठ ५२

मोरे जियरा बड़ा अन्देसवा, मुसाफिर जैहौ कौनी ओर ।।टेक।।
मोह का शहर कहर नर नारी, दुइ फाटक घनघोर ।
कुमती नायक फाटक रोके, परिहौ कठिन झिंझोर[१] ।।१।।
संशय नदी अगाड़ी बहती, विषम धार जल जोर ।
क्या मनुवाँ तुम गाफिल सोवौ, इहवाँ मोर न तोर ।।२।।
निस दिन प्रीति करो साहेब से, नाहिंन कठिन कठोर ।
काम दिवाना क्रोध है राजा, बसैं पचीसो चोर ।।३।।
सत्त पुरुष इक बसैं पछिम[२] दिसि, तासों करो निहोर ।
आवै दरद राह तोहि लावै, तब पैहो निज ओर ।।४।।
उलटि पाछिलो पैंड़ो पकड़ो, पसरा मना बटोर ।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, तब पैहो निज ठौर ।।५।।

(शब्द १०) पृष्ठ ६०

अबधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै ।।टेक।।
घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि वन नहिं जावै ।
वन के गये कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै ।।१।।
घर में जुक्ति मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै ।
सहज सुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै ।।२।।
उनमुनि[३] रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्त को ध्यावै ।
सुरत निरत सों मेला करिकै, अनहद नाद बजावै ।।३।।
घर में बसत वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै ।
कहै कबीर सुनो हो अवधू, ज्यों का त्यों ठहरावै ।।४।।

(शब्द ११) पृष्ठ ९८

ससी परकास तें सूर ऊगा सही, तूर बाजै तहाँ सन्त भूलै ।
तत्त झनकार तहँ नूर बरसत रहै, रस्स पीवै तहाँ पाँच भूलै ।।१।।
दरियाव औ बुन्द ज्यों देखु अन्तर नहीं, जीव और सीव यों एक आहीं ।
कहै कबीर या सैन गूँगा तईं, वेद कतेब की गम्म नाहीं ।।२।।

(१) झिकझोर । (२) प्रकाश । (३) मनोलय की अवस्था ।

भाग २ (शब्द १), पृष्ठ १

मन तू मानत क्यों न मना रे ।
कौन कहन को कौन सुनन को, दूजा कौन जना रे ।।१।।
दर्पन में प्रतिबिम्ब जो भासै, आप चहूँ दिसि सोई ।
दुबिधा मिटै एक जब होवै, तौ लखि पावै कोई ।।२।।
जैसे जल तें हेम[१] बनतु है, हेम धूम[२] जल होई ।
तैसे या तत वाहू तत सों, फिर यह अरु वह सोई ।।३।।
जो समुझै तो खरी कहन है, ना समुझै तो खोटी ।
कहै कबीर दोऊ पख त्यागै, ताकी मति है मोटी ।।४।।

(शब्द २), पृष्ठ ९

जाके नाम न आवत हिये ॥ टेक॥
कहा भये नर कासी बसे से, का गंगा जल पिये ।।१।।
काह भये नर जटा बढ़ाये, का गुदरी के सिये ।।२।।
का रे भये कंठी के बाँधे, काह तिलक के दिये ।।३।।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, नाहक ऐसे जिये ।।४।।

(शब्द ५), पृष्ठ ७०

तेरो को है रोकनहार, मगन से आव चली ॥टेक॥
लोक लाज कुल की मर्यादा, सिर से डारि अली ।
पटक्यो भार मोह माया को, निर्भय राह गही ।।१।।
काम क्रोधऽहंकार कल्पना, दुर्मति दूर करी ।
मान अभिमान दोउ धर पटक्यो, होइ निशंक रली ।।२।।
पाँच पचीस करे वश अपने, करि गुरु ज्ञान छड़ी ।
अगल बगल के मारि उड़ाये, सनमुख डगर धरी ।।३।।
दया धर्म हिरदे धरि राख्यो, पर उपकार बड़ी ।
दया सरूप सकल जीवन पर, ज्ञान गुमान भरी ।।४।।
छिमा शील संतोष धीर धरि, करि सिंगार खड़ी ।
भई हुलास मिली जब पिय को, जगत बिसारि चली ।।५।।
चुनरी सबद विवेक पहिरि के, घर की खबर पड़ी ।
कपट-किवरिया खोल अन्तर की, सतगुरु मेहर करी ।।६।।

(१) बर्फ । (२) धुआँ ।

दीपक ज्ञान धरे कर अपने, पिय को मिलन चली ।
विहसत वदनऽरु मगन छबीली, ज्यों फूली कँवल कली ।।७।।
देख पिया को रूप मगन भइ, आनन्द प्रेम भरी ।
कहै कबीर मिली जब पिय से, पिय हिय लागि रही ।।८।।

(शब्द ६), पृष्ठ ११२

अपनपौ आपुहि तें बिसरो ॥टेक॥
जैसे स्वान[१] काँच मन्दिर में, भ्रम से भूकि मरो ।।१।।
ज्यों केहरि[२] बपु[३] निरख कूप जल, प्रतिमा देखि गिरो ।।२।।
वैसे ही गज[४] फटिक सिला में, दसनन[५] आनि अड़ो ।।३।।
मरकट[६] मूठि स्वाद नहिं बहुरै, घर घर रटत फिरो ।।४।।
कहै कबीर नलनी के सुगना, तोहि कवन पकरो ।।५।।

॥ निरख प्रबोध की रमैणी ॥

अस सतगुरु बोले सतबानी । धन धन सत्तनाम जिन जानी ॥
नाम प्रतीति भई सब संता । एक जानि के मिटे अनन्ता ॥
अनन्त नाम जब एक समाना । तब ही साध परम पद जाना ॥
बिरला संत परम गति जानै । एक अनन्त सो कहा बखानै ॥
सब तें न्यारा सब के माहीं । माँझी सतगुरु दूजा नाहीं ॥
सत्तनाम जाके धन होई । धन जीवन ताही को सोई ॥
सत्तनाम है सब तें न्यारा । निर्गुन सर्गुन सबद पसारा ॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल फूला । साखा ज्ञान नाम है मूला ॥
मूल गहे तें सब सुख पावै । डार पात में मूल गँवावै ॥
सतगुरु कही नाम पहिचानी । निर्गुन सर्गुन भेद बखानी ॥
अंस नाम तें फिरि फिरि आवै । पूरन नाम परम पद पावै ॥

॥ दोहा ॥

कबीर महिमा नाम की, कहना कही न जाय ।
चारि मुक्ति औ चार फल, और परम पद पाय ॥
प्रथम एक सो आपै आप । निराकार निर्गुन निर्जाप ॥

(१) कुत्ता । (२) सिंह । (३) शरीर । (४) हाथी । (५) दाँतों से । (६) बन्दर ।

॥ दोहा ॥

कहै कबीर विचारिके, तब कछु किरतम नाहिं ।
परम पुरुष तहाँ आपही, अगम अगोचर माहिं ॥

भाग ३ (शब्द १), पृष्ठ २

सखिया वा घर सब से न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा ।।टेक।।
जहँ नहिं सुख दुख साँच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा ।
नहिं दिन रैन चन्द नहीं सूरज, बिना जोति उँजियारा ।।१।।
नहिं तहँ ज्ञान ध्यान नहिं जप तप, वेद कितेब न बानी ।
करनी धरनी रहनी गहनी, ये सब जहाँ हिरानी ।।२।।
धर नहिं अधर न बाहर भीतर, पिंड ब्रह्मण्ड कछु नाहीं ।
पाँच तत्त्व गुन तीन नहीं तहँ, साखी शब्द न ताहीं ।।३।।
मूल न फूल बेलि नहिं बीजा, बिना बृच्छ फल सोहै ।
ओअं सोहं अर्ध उर्ध नहिं, स्वासा लेख न कोहै ।।४।।
नहिं निर्गुन नहिं सर्गुन भाई, नहीं सूक्ष्म स्थूलं ।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूलं ।।५।।
जहाँ पुरुष तहवाँ कछु नाहीं, कहै कबीर हम जाना ।
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरवाना ।।६।।

(शब्द ३), पृष्ठ २१

जो कोइ निरगुन दरसन पावै ॥ टेक ॥
प्रथमे सुरति जमावै तिल पर, मूल मन्त्र गहि लावै ।
गगन गराजै दामिनि दमकै, अनहद नाद बजावै ।।१।।
बिन जिभ्या नामहिं को सुमिरै, अमि रस अजर चुवावै ।
अजपा लागि रहै सूरति पर, नैन न पलक डुलावै ।।२।।
गगन मंदिर में फूल फुलाना, उहाँ भँवर रस पावै ।
इंगला पिंगला सुखमनि सोधै, प्रेम जोति लौ लावै ।।३।।
सुन्न महल में पुरुष विराजै, जहाँ अमर घर छावै ।
कहै कबीर सतगुरु बिनु चीन्हे, कैसे वह घर पावै ।।४।।

(शब्द ४), पृष्ठ २२

बिनु गुरु ज्ञान नाम ना पैहो, बिरथा जनम गँवाई हो ॥ टेक॥
जल भरि कुंभ[१] धरे जल भीतर, बाहर भीतर पानी हो ।
उलटि कुंभ जल जलहि समैहैं, तब का करिहौ ज्ञानी हो ॥१॥
बिन करताल पखावज बाजै, बिनु रसना गुन गाया हो ।
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु अलख लखाया हो ॥२॥
है अथाह थाह सबहिन में, दरिया लहर समानी हो ।
जाल डारि का करिहौं धीमर, मीन के ह्वै गै पानी हो ॥३॥
पंछीक खोज औ मीन कै मारग, ढूँढ़े न कोइ पाया हो ।
कहै कबीर सतगुरु मिल पूरा, भूले को राह बताया हो ॥४॥

भाग ४ (शब्द ३), पृष्ठ ३०

छैल चिकनियाँ अभै घनेरे, छका फिरै दीवाना ।
छाया माया इस्थिर नाहीं, फिर आखिर पछिताना ॥
छर अच्छर निःअच्छर बूझै, सूझि गुरू परिचावै ।
छर परिहरि अच्छर लौ लावै, तब निःअच्छर पावै ॥
अच्छर गहै विवेक करि, पावै तेहि से भिन्न ।
कहै कबीर निःअच्छरहिं, लहै पारखी चीन्ह ॥

जिला – संताल परगना, सबडिविजन-गोड्डा, ग्राम-रमला (बिहार प्रान्त) निवासी श्रीनारायण दासजी सत्संगी ने यह शब्द लिखवाया -

कोई चतुर न पावे पार नगरिया बाबरी ।।टेक॥
लाल लाल जो सब कोइ कहै सबकी गाँठी लाल ।
गाँठी खोलि के परखै नाहीं तासे भयो कंगाल ।।१॥
काया बड़े समुद्र केरो थाह न पावै कोइ ।
मन मरि जैहैं डूबि के हो मानिक परखै सोइ ।।२॥
ऊँचा महल अगमपुर जहवाँ सन्त समागम होइ ।
जो कोइ पहुँचे वही नगरिया आवागमन न होइ ।।३॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो का खोजो बड़ी दूर ।
जो कोइ खोजै यही नगरिया सो पावै भरपूर ।।४॥

(१) घड़ा ।

ग्राम-सिकलीगढ़ धरहरा, जिला-पुरैनियाँ (बिहार) निवासी श्रीयुत लाली साहुजी कबीरपंथी सत्संगी ने लिखवाया–

विमल विमल अनहद धुनि बाजै, सुनत बने जाको ध्यान लगे ।।टेक।।
सिंगी नाद संख धुनि बाजै, अबुझा मन जहाँ केलि करे ।
दह की मछली गगन चढ़ि गाजै, बरसत अमी रस ताल भरे ।।१।।
पछिम दिसा को चलली बिरहिन, पाँच रतन लिये थार भरे ।
अष्ट कमल द्वादस के भीतर, सो मिलने की चाह करे ।।२।।
बारह मास बुन्द जहाँ बरषै, रैन दिवस वहाँ लखि न परे ।
बिरला समुझि परे वहि गलियन, बहुरि न प्रानी देह धरे ।।३।।
काया पैसि करम सब नासै, जरा मरन के संसे गये ।
निरंकार निर्गुन अविनासी, तीनि लोक में जोति बरे ।।४।।
कहै कबीर जिनको सतगुरु साहब, जन्म जन्म के कष्ट हरे ।
धन्य भाग्य जिनकी अटल साहिबी, नाम बिना नर भटकि मरे ।।५।।

– :: ० :: –

भागलपुर (बिहार) निवासी श्री बाबू तिलकधारी मोदीजी तथा श्री बाबू कमला प्रसादजी वकील सत्संगी महाशयों के पास से निम्नलिखित शब्द के दो तरह के पाठ मिले; दोनों का मिलान कर तथा शोधकर छापा गया–

॥ शब्द ॥

जानता कोइ ख्याल ऐसा, जानता कोइ ख्याल ।टेक।।
धरती बेध पताले गयऊ, शेषनाग को वश करि लिएऊ,
बाँसुरी बाजत सत की ताली, तासों भये सकल विस्तारी,
कमल बीच पट ताल ।।ऐसा०।।१।।
दिन को सोधि रैन मो लाओ, रैन के भीतर भानु चलाओ,
भानु के भीतर ससि के वासा, ससि के भीतर दो परकासा,
बोलत सारंग ताल ।।ऐसा०।।२।।
पूरब सोधि पछिम दिसि लावै, अर्ध उर्ध के भेद बतावै,
सिला नाथि दक्खिन को धाओ, उत्तर दिसा को सुमरन चाखो,
चारो दिसा का हाल ।।ऐसा०।।३।।
नौ को सोधि सिढ़ी सिढ़ी लाओ, एक बेर सुमेर चढ़ाओ,
मेरुदंड पर आसन मारो, सन्मुख आगे प्रेम दृढ़ाओ,

गगन गुफा का हाल ।।ऐसा०।।४।।
गगन गुफा में अति उजियाला, अजपा जाप जपै बिनु माला,
बीना संख सहनाई बाजै, अलख निरंजन चहुँ दिसि गाजै,
हीरा बरत मोहाल[१] ।।ऐसा०।।५।।
सब्द ही दिल दिल बिच राखै, दया धर्म सन्तोष दृढ़ावै,
कहै कबीर कोइ बिरला पावै, जाको सतगुरु आप लखावै,
चढ़त हमारो लाल ।।ऐसा०।।६।।

बीजक–कबीर साहब, पाखण्ड खण्डनी टीका-सहित, टीकाकार–रीवाँ नरेश श्रीविश्वनाथ सिंह जू । श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय में मुद्रित, बम्बई, संवत् १९६१ । पृष्ठ ६४५, साखी ३३६ के अर्थ-प्रमाण में कबीर साहब के शब्द–

(१)

श्रूप अखण्डित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य ।
ऊँचे नीचे आगे पीछे दाहिन बायँ अनन्य ॥
बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा मींहीं तें सब लेखा ।
सब के मध्य निरंतर साईं दृष्टि दृष्टि सों देखा ॥
चाम चश्म[२] सों नजरि न आवै खोजु रूह[३] के नैना ।
चुन[४] चगून[५] वजूद[६] न मानु तैं सुभानमूना ऐना[७] ॥
जैसे ऐना सब दरसावै जो कुछ वेष बनावै ।
ज्यों अनुमान करै साहब को त्यों साहब दरसावै ॥
जाहि रूह अल्लाह के भीतर तेहि भीतर के ठाईं ।
रूप अरूप हमारि आस है हम दूनहुँ के साईं ॥
जो कोउ रूह आपनी देखा सो साहब को पेखा ।
कहै कबीर स्वरूप हमारा साहब को दिल देखा ॥

(२)

बाबा अगम अगोचर कैसा, तातें कहि समझाओ ऐसा ॥
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई ।
सैना बैना कहि समझाओं, गूँगे का गुर भाई ॥

(१) दुर्लभ । (२) आँख । (३) चेतन (सुरत) । (४) उपमा । (५) वैसा । (६) शरीर । (७) ठीक आइने के ऐसा ।

दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, विनसे नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पण्डित करौ विचारा॥
बिन देखे परतीत न आवै, कहे न कोउ पतियाना।
समुझा होय सो सब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना॥
कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ तें न्यारा, जानै जाननहारा॥
काजी कथै कतेब कुराना, पंडित वेद पुराना।
वह अच्छर तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना॥
नादी बादी पढ़ना गुनना, बहु चतुराई भीना।
कह कबीर सो पड़ै न परलय, नाम भक्ति जिन चीना॥

॥ रेखते ॥

(१)

गुरुदेव बिन जीव की कल्पना ना मिटै,
गुरुदेव बिन जीव का भला नाहीं।
गुरुदेव बिन जीव का तिमर नासे नहीं,
समुझि विचारि ले मने माहीं॥
राह बारीक गरुदेव तें पाइये,
जन्म अनेक की अटक खोलै।
कहै कबीर गुरुदेव पूरन मिलै,
जीव और सीव तब एक तोलै॥

(२)

गुरुदेव के भेद को जीव जानै नहीं,
जीव तो आपनी बुद्धि ठानै।
गुरुदेव तो जीव को काढ़ि भव सिन्धु तें,
फेरि लै सुक्ख के सिन्धु आनै॥
बंद कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै,
घट का पाट गुरुदेव खोलै।
कहै कबीर तू देख संसार में,
गुरुदेव समान कोइ नाहिं तोलै॥

(३)

रैन दिन संत यों सोवता देखता,
संसार की ओर से पीठि दीये।
मन औ पवन फिर फूटि चालै नहीं,
चंद औ सूर को सम्म कीये॥
टकटकी चंद चक्कोर ज्यों रहतु है,
सुरत औ निरत का तार बाजै।
नौबत घुरत है रैन दिन सुन्न में,
कहै कबीर पिउ गगन गाजै॥

कबीर-साखी-संग्रह

गुरु– गुरु साहब करि जानिये, रहिये सब्द समाय।
मिलै तो दण्डवत बन्दगी, पल पल ध्यान लगाय॥
गुरु सीढ़ी तें ऊतरै, सब्द विहूना होय।
ताको काल घसीटि है, राखि सकै नहिं कोय॥
तीन लोक नौ खण्ड में, गुरु तें बड़ा न कोइ।
करता करै न करि सकै, गुरू करै सो होइ॥
साँचे गुरु के पच्छ में, मन को दे ठहराय।
चंचल तें निःचल भया, नहिं आवै नहिं जाय॥
घर में घर दिखलाय दे, सो सतगुरु संत सुजान।
पंच सब्द धुनकार धुन, बाजै गगन निसान॥
कबीर पूरे गुरु बिना, पूरा सिष्य न होय।
गुरु लोभी सिष लालची, दूनी दाझन[१] होय॥
गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।
सोई गुरु नित बंदिये, (जो) सब्द बतावै दाव॥
झूठे गुरु के पच्छ को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै सब्द का, भटकै बारम्बार॥
गुरु नाम है ज्ञान का, सिष्य सीख ले सोइ।
ज्ञान मरजाद जाने बिना, गुरु अरु सिष्य न कोइ॥

(१) जलन।

परम पुरुष-नाद बिन्दु तें अगम अगोचर, पाँच तत्त तें न्यार।
तीन गुनन तें भिन्न है, पुरुष अलक्ख अपार॥
संपुट माहिं समाइया, सो साहब नहिं होय।
सकल माँड़ में रमि रहा, मेरा साहब सोय॥
(सर्गुन की सेवा करौ, निर्गुन का करु ज्ञान।
निर्गुन सर्गुन के परे, तहैं हमारा ध्यान॥)[१]
कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़े वन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जानै नाहिं॥

ध्वन्यात्मक नाम&आदिनाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥
आदिनाम निज सार है, बूझि लेहु सो हंस।
जिन जान्यो निज नाम को, अमर भयो सो बंस॥
आदिनाम निज मूल है, और मन्त्र सब डार।
कहै कबीर निज नाम बिनु, बूड़ि मुआ संसार॥
कोटि नाम संसार में, तातें मुक्ति न होय।
आदिनाम जो गुप्त जप, बूझे बिरला कोय॥
राम नाम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्ह सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय॥
कबीर सब्द सरीर में, बिन गुन बाजै तांत।
बाहर भीतर रमि रहा, तातें छूटी भ्रांति॥
सब्द सब्द बहु अंतरा, सब्द सार का सीर।
सब्द सब्द का खोजना, सब्द सब्द का पीर॥
सब्द सब्द बहु अन्तरा, सार सब्द चित देय।
जा सब्दै साहब मिलै, सोइ सब्द गहि लेय॥
सब्द सब्द सब कोइ कहै, वो तो सब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि देह॥
सब्द हमारा आदि का, पल-पल करिये याद।
अन्त फलैगी माहिं की, बाहर की सब बाद॥
सबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि।
सत्तसब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥

१. (कबीर-वचनावली, सम्पादक-श्रीश्यामसुन्दर दास, बी० ए०)

सब्द हमारा हम सब्द के, सब्द ब्रह्म का कूप।
जो चाहै दीदार को, परख सब्द का रूप॥
सब्द बिना स्रुति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावै सब्द का, फिरि फिरि भटका खाय॥
यही बड़ाई सब्द की, जैसे चुम्बक भाय।
बिना सब्द नहिं ऊबरै, केता करै उपाय॥
ज्ञान दीप परकास करि, भीतर भवन जराय।
तहाँ सुमरि सतनाम को, सहज समाधि लगाय॥

वर्णात्मक- नाम जपत दरिद्री भला, टूटी घर की छानि।
कंचन मंदिर जारि दे, जहँ गुरु भक्ति न जानि॥
कबीर मुख सोई भला, जा मुख निकसै नाम।
जा मुख नाम न नीकसै, सो मुख कौने काम॥
नाम जपत इस्थिर भया, ज्ञान कथत भया लीन।
सुरति सबद एकै भया, जल ही ह्वैगा मीन॥
सुपनहु में बर्राय के, धोखेहु निकरै नाम।
वाके पग की पैंतरी, मेरे तन को चाम॥
नाम जपत कुष्टी भला, चुइ चुइ पड़ै जो चाम।
कंचन देह केहि काम का, जा मुख नाहीं नाम॥
सुख के माथे सिल परै, (जो) नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल पल नाम रटाय॥

स्थूल ध्यान- मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव॥
गुरु साहब करि जानिये, रहिये सब्द समाय।
मिलै तो दण्डवत बन्दगी, पल-पल ध्यान लगाय॥

सूक्ष्म ध्यान (दृष्टि-साधान)
बाँका परदा खोलि के, सन्मुख ले दीदार।
बाल सनेही साँइयाँ, आदि अन्त का यार॥
गगन मण्डल के बीच में, तहँवाँ झलके नूर[१]।
निगुरा महल न पावई, पहुँचेगा गुरु पूर॥

(१) ज्योति।

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥
कबीर कमल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर।
रैन अँधेरी मिटि गई, बाजे अनहद तूर॥

सत्संग– संगति सों सुख ऊपजै, कुसंगति सों दुख जोय।
कहै कबीर तहँ जाइये, साधु संग जहँ होय॥
कबीर संगति साध की, हरै और की व्याधि।
संगति बुरी असाध की, आठो पहर उपाधि॥
कबीर संगति साध की, जौ की भूसी खाय।
खीर खाँड़ भोजन मिलै, साकट संग न जाय॥
कबीर संगति साध की, ज्यों गन्धी का बास।
जो कुछ गन्धी दे नहीं, तौभी बास सुबास॥
मथुरा भावै द्वारिका, भावै जा जगन्नाथ।
साध संगति हरि भजन बिनु, कछू न आवै हाथ॥
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधू संग में, सो बैकुण्ठ न होय॥

भक्ति– भक्ति निसेनी[१] मुक्ति की, सन्त चढ़े सब धाय।
जिन-जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥
भक्ति बिनु नहिं निस्तरै[२], लाख करै जो कोय।
शब्द सनेही ह्वै रहै, घर को पहुँचे सोय॥
टोटे[३] में भक्ती करै, ताका नाम सपूत।
माया धारी मस्खरे, केते ही गये ऊत॥
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज डिंभ[४] विचार।
उद्र भरन के कारने, जनम गँवायो सार॥
भक्ति दुवारा साँकरा, राई दसवें भाव।
मन ऐरावत ह्वै रहा, कैसे होय समाव॥
जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव।
कहै कबीर वह क्यों मिलै, निःकामी निज देव॥
भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग जाय अनन्त।
ऊँच नीच घर जन्म ले, तऊ सन्त को सन्त॥

(१) सीढ़ी। (२) उद्धार पावै। (३) हानियों। (४) दम्भ, कपट।

प्रेम– जोगी जंगम सेवड़ा, संन्यासी दुरवेस[१]।
बिना प्रेम पहुँचे नहीं, दुर्लभ सतगुरु देस॥
प्रेम भक्ति का गेह है, ऊँचा बहुत एकंत।
सीस काटि पग तर धरे, तब पहुँचे घर सन्त॥

सूरमा– पंज[२] असमाना जब लिया, तब रन[३] धसिया सूर[४]।
दिल सौंपा सिर ऊबरा, मुजरा धनी हजूर॥
धुजा फरक्कै सुन्न में, बाजै अनहद तूर।
तकिया[५] है मैदान में, पहुँचेगा कोइ सूर॥

सूक्ष्म मार्ग– गागर ऊपर गागरी, चोले[६] ऊपर द्वार।
सूली[७] ऊपर साँथरा[८], जहाँ बुलावै यार॥
बास सुरति ले आवई, सब्द सुरति लै जाय।
परिचय स्तुति है इस्थिरे, सो गुरु दई बताय॥
हम चाले अमरापुरी, टारे टूरे टाट।
आवन होय तो आइयो, सूली ऊपर बाट॥
कबीर का घर सिखर[९] पर, जहाँ सिलहिली[१०] गैल[११]।
पाँव न टिकै पपीलिका[१२], पण्डित लादै बैल॥
जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।
मनुवाँ तहँ ले राखिया, तहईं पहुँचे जाय॥
बिन पाँवन की राह है, बिन बस्ती का देस।
बिना पिंड का पुरुष है, कहै कबीर संदेस॥
करता की गति अगम है, चलु गुरु के उनमान[१३]।
धीरे धीरे पाँव दे, पहुँचोगे परमान॥

मृतक– कबीर काया समुँद है, अन्त न पावै कोय।
मिरतक होइ के जो रहै, मानिक लावै सोय॥
मैं मरजीवा[१४] समुँद का, डुबकी मारी एक।
मूठी लाया ज्ञान की, जामें वस्तु अनेक॥

(१) फकीर। (२) पाँच। (३) लड़ाई। (३) बहादुर लड़ाका। (५) सहारा, अवलम्ब। (६) शरीर। (७) एक धार, सारशब्द। (८) बिछावन। (९) चोटी। (१०) पिच्छड़। (११) गली। (१२) चींटी। (१३) अनुमान। (१४) पानी में बहुत देर तक डूबनेवाला।

डुबकी मारी समुँद में, निकसा जाय अकास।
गगन मंडल में घर किया, हीरा पाया दास॥
मैं मरजीवा समुँद का, पैठा सप्त पताल।
लाज कानि कुल मेटि के, गहि ले निकसा लाल॥
ऊँचा तरवर[१] गगन फल, बिरला पंछी खाय।
इस फल को तो सो चखै, जो जीवत ही मरि जाय॥
मरते-मरते जग मुआ, औसर मुआ न कोय।
दास कबीरा यों मुआ, बहुरि न मरना होय॥
मरिये तो मरि जाइये, छूट पड़ै जंजार।
ऐसी मरनी को मरै, दिन में सौ-सौ बार॥
जीवन से मरना भला, जो मरि जानै कोय।
मरने पहिले जो मरै, (तो) अजर अरु अम्मर होय॥
जा मरने से जग डरै, मेरे मन आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द॥
आपा मेटे गुरु मिले, गुरु मेटे सब जाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कहे न कोई पतियाय॥

चेतावनी और उपदेश

निधड़क बैठा नाम बिनु, चेति न करै पुकार।
यह तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार॥
आज कहै मैं काल्ह भजूँगा, काल्ह कहै फिर काल।
आज काल्ह के करत ही, औसर जासी चाल॥
काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगा, बहुरि करेगा कब्ब॥
पाँचो नौबत बाजती, होत छतीसो राग।
सो मन्दिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग॥
हरिजन तो हारा भला, जीतन दे संसार।
हारा सतगुरु सों मिलै, जीता जम की लार॥
कथा कीरतन कलि विषे, भवसागर की नाव।
कह कबीर जग तरन को, नाहीं और उपाव॥
जाकी जिभ्या बन्ध नहीं, हिरदे नाहीं साँच।
ताके संग न लागिये, घाले बटिया काँच॥

(१) बड़ा गाछ।

अगवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक।
पीछे गुरु भी आयँगे, सारे साज समेत॥
जब दिल मिला दयाल से, तब कछु अन्तर नाहिं।
पाला गलि पानी मिला, यों हरिजन हरि माहिं॥
कबीर भेदी भक्त से, मेरा मन पतियाय।
सेरी[१] पावै शब्द की, निर्भय आवै जाय॥
बुन्द समानी समुँद में, यह जानै सब कोय।
समुँद समाना बुन्द में, बूझै बिरला कोय॥
निरबन्धन बंधा रहै, बंधा निरबन्ध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय॥
कोटि कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि करि धाम।
जब लग संत न सेवई, तब लग सरै न काम॥
जहँ आपा तहँ आपदा, जहाँ संसय तहँ सोग।
कह कबीर कैसे मिटै, चारो दीरघ रोग॥
अहं अग्नि हिरदे जरै, गुरु से चाहै मान।
तिनको जम न्योता दिया, हो हमरे मेहमान॥
नैनों माहीं मन बसै, निकस जाय नौ ठौर।
गुरु गम भेद बताइया, सब संतन सिरमौर॥
निन्दक एकहु मति मिलै, पापी मिलौ हजार।
इक निन्दक के सीस पर, कोटि पाप को भार॥
मांस मछरिया खात है, सुरा पान से हेत।
सो नर जड़ से जाहिंगे, ज्यों मूरी की खेत॥
यह कूकर को खान है, मनुष देह क्यों खाय।
मुख में आमिख मेलता, नरक पड़ै सो जाय॥
कहता हूँ कहि जात हूँ, कहा जो मान हमार।
जाका गर तुम काटिहौ, सो फिर काट तोहार॥
भाँग तमाखू छूतरा, अफयूँ और सराब।
कह कबीर इनको तजै, तब पावै दीदार॥
मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय।
तन मद मन मद जाति मद, माया मद सब लोय॥

(१) सीढ़ी।

विद्या मद और गुनहु मद, राजमद उनमद्द ।
इतने मद को रद्द करै, तब पावै अनहद्द ॥

-- :: ० :: --

लोका मति का भोरा रे ।
जौं कासी तन तजे कबीरा, रामहिं कौन निहोरा रे ॥
तब हम ऐसे अब हम ऐसे, यही जनम का लाहा ।
जौं जल में जल पैस न निकसे, यौं ढुरि मिला जुलाहा ॥
राम भगति में जाको हित चित, वाको अचरज काहा ।
गुरु प्रसाद साधु की संगति, जग जीते जात जुलाहा ॥
कहै कबीर सुनो हो संतो, भरम पड़ो जनि कोई ।
जस कासी तस मगहा ऊसर, हृदय राम जौं होई ॥

-- :: ० :: --

कहौं उस देश की बतियाँ, जहाँ नहिँ होत दिन रतियाँ ॥१॥
नहीं रवि चन्द्र औ तारा, नहीं उँजियार अँधियारा ॥२॥
नहीं तहँ पवन औ पानी, गये वहि देस जिन जानी ॥३॥
नहीं तहँ धरनि आकासा, करै कोइ सन्त तहँ वासा ॥४॥
उहाँ गम काल की नाहीं, तहाँ नहिं धूप औ छाहीं ॥५॥
न जोगी जोग से ध्यावै, न तपसी देह जरवावै ॥६॥
सहज में ध्यान से पावै, सुरति का खेल जेहि आवै ॥७॥
सोहंगम नाद नहिँ भाई, न बाजै संख शहनाई ॥८॥
निहच्छर जाप तहँ जापै, उठत धुन सुन्न से आपै ॥९॥
मन्दिर में दीप बहु बारी, नयन बिनु भई अँधियारी॥१०॥
कबीरा देस है न्यारा, लखै कोइ राम का प्यारा*॥११॥

* सर्वोच्च पद (मोक्षपद) के विषय में संत कबीर साहब का यह पद कठोपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता के अनुकूल ही है –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥
--कठोप० अ० २, वल्ली २

अर्थ–वहाँ (उस आत्मलोक में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है, फिर अग्नि की तो बात ही क्या? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और

संत रैदासजी की वाणी

(१)

अब कैसे छुटै नाम रट लागी ॥ टेक॥
प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी ।
जाकी अँग अँग बास समानी ॥
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा ।
जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती ।
जा की जोति बरै दिन राती ॥
प्रभुजी तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

(२)

हरि सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस ।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ॥
अंतर गति राचैं नहीं, बाहर कथैं उदास ।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ॥
रैदास कहे जाके हृदे, रहै रैन दिन राम ।
सो भगता भगवन्त सम, क्रोध न व्यापै काम ॥
जा देखे घिन ऊपजै, नरक कुण्ड में बास ।
प्रेम भगति सों ऊधरे, प्रगटत जन रैदास ॥
रैदास तूँ कावँच फली, तुझे न छीपै कोइ ।
तैं निज नावँ न जानिया, भला कहाँ ते होइ ॥
रैदास राति न सोइये, दिवस न करिये स्वाद ।
अह-निसि हरि जी सुमिरिये, छाड़ि सकल प्रतिवाद ॥

उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है ॥१५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥
--श्रीमद्भगवद्गीता, अ०१५

अर्थ–उस पद को सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं करती है । उसमें जाकर फिर कोई नहीं लौटता है, वह मेरा परम धाम है॥ ६॥

संत कमाल साहब की वाणी

(१)

आसरा एक करतार का रख तू,
बीच मैदान के बाँध ताटी।
रहेगा वोही जिन्हें खलक पैदा किया,
और सब होयगा खाक माटी॥
अमीर उमराव दिन चार के पाहुने,
घूमता है दरबार हाथी।
कहत कमाल कबीर का बालका,
राम नाम संग तेरा साथी॥

(२)

इतना जोग कमाय के साधू, क्या तूने फल पाया।
जंगल जाके खाक लगाये, फेर चौरासी आया॥
राम भजन है अच्छा रे, दिल में राखो सच्चा रे।
जोग जुगत की गत है न्यारी, जोग जहर का प्याला।
जीने पावे उने छुपावे, वो ही रहे मतवाला॥
जोग कमाय के बाबू होना, ये तो बड़ा मुस्कल है।
दोनों हात जब निकल गये, फेर सुधरन भी मुस्कल है।
सुख से बैठो आपने मेहल में, राम भजन अच्छा है॥
कछु काया छीजे नहीं खरचै, ध्यान धरो सोइ सच्चा है।
कहत कमाल सुनो भाई साधू, सबसे पंथ न्यारा है।
वेद शास्तर की बात ये ही, जम के माथे पथरा है॥

(३)

ये तनु किसो की किसो की, आखर बस्ती जंगल की।
काहे कूँ दिवाने सोच करे, मेरी माता और पुत्री॥
ये तो सब झूठ पसारा, राम करो अपना साथी।
खाये पिये सुख से बैठे, फेर उठके चले जाती॥
विरख की छाया, सुख की मीठी, एक घड़ी का साथी।
कहत कमाल सुनो भाई साधू, सपन भया राती॥
खिन में राजा खिन में रंक, ऐसी राह चलाती॥

धर्मदासजी का शब्द

॥ मंगल ॥

खोजहु संत सुजान, सो मारग पीव को।
समुझि सब्द देहु स्त्रवण, मूल जहँ जीव को॥१॥
भव सागर अगम अथाह, लहर विकरार है।
कठिन ये पाँचों मार्ग, बिचे जमधार है॥२॥
सिव संकर औ ब्रह्मा, पार न पावहीं।
यह बहियाँ बलजोर, संत पार लगावहीं॥३॥
देहिं नाम निज डोरि, तो दुख बिसरावहीं।
बिन जल लहर अनूप, मोती झलकावहीं॥४॥
मारग पंथ सिधार, तो आरति साजहीं।
देहिं छत्र उजियार, तो लोक सिधावहीं॥५॥
बैठे अनहद महल, प्रेम गुण गावहीं।
संग में सुमति सयानी, तो नेह लगावहीं॥६॥
सतगुरु जग में आय, तो जीव चेताइया।
सार सब्द लखवाय, तो लोक पठाइया॥७॥
का लै पान खियाउँ, तो तिनका तोरही।
कवन सब्द की ओट, सो नरियर मोरही॥८॥
संत अंक लिख दीन्ह, तो पान खियावही।
सार सब्द की ओट, सो नरियर मोरही॥९॥
नरियर भेद अगम्म, बंस जन मोरही।
कहैं कबीर धर्मदास, जिवन बंदि छोरही॥१०॥

-- :: ० :: --

साहेब चितवो हमरी ओर।
हम चितवैं तुम चितवो नाहीं, तुम्हरो हृदय कठोर॥१॥
औरन को तो और भरोसो, हमैं भरोसो तोर॥२॥
सुखमनि सेज बिछाओं गगन में, नित उठि करौं निहोर॥३॥
धरम दास बिनवैं कर जोरी, साहेब कबीर बन्दी छोर॥४॥

(नानकशाही) गुरु ग्रन्थ साहब से
संगृहीत
प्रथम गुरु, गुरु नानक साहब की वाणी

॥ मारु, महला १ दखणी ॥ (शब्द १)

काइआ[१] नगरु नगर गड़[२] अंदरि । साचा बासा पुरि गगनंदर[३] ।
असथिरु[४] थान[५] सदा निरमाइलु[६], आपे आपु[७] उपाइदा[८] ॥१॥
अंदरि कोट[९] छजे[१०] हट[११] नाले[१२] । आपे लेवै वसतु समाले ।
बजर कपाट जड़े जड़ि[१३] जाणै, गुरसबदी खोलाइदा ॥२॥
भीतर कोट गुफा घर जाई । नउ घर थापे[१४] हुकमि रजाई[१५] ।
दसवै पुरषु अलेखु अपारी । आपे अलखु लखाइदा ॥३॥
पउण पाणी अगनी इकि वासा । आपे कीतो[१६] खेलु तमासा ।
वलदी[१७] जलि[१८] निवरै[१९] किरपाते, आपे जलनिधि[२०] पाइदा[२१] ॥४॥
धरती उपाइ[२२] धरी धरमसाला । उतपति परलउ आप निराला ।
पवणै खेलु किआ सभ थाई[२३], कला[२४] खींचि ढाहाइदा[२५] ॥५॥
भार अठारह[२६] मालणि तेरी । चउर ढुलै[२७] पवणै लै फेरी ।
चंद सूरज दुइ दीपक राखे, ससि[२८] घरि सूर[२९] समाइदा ॥६॥
पंखी[३०] पंचउडर[३१] नहिं धावहि। सफलिउ[३२] विरख अंम्रित फल पावहि ।
गुरुमुखि सहजि रवै[३३] गुण गावै, हरि रसु चोग[३४] चुगाइदा[३५] ॥७॥
झिलमिल झिलकै चंदु न तारा। सूरज किरणि न बिजुलि गैणारा[३६] ।
अकथी कथहु चिहनु[३७] नहिं कोई, पूरि रहिआ मन भाइदा[३८] ॥८॥

(१) शरीर । (२) किला, गढ़ । (३) आकाश के भीतर । (४) स्थिर, थिर। (५) स्थान । (६) निर्माया । (७) स्वयं या खुद अपने से । (८) रचा, स्वयं बनाया, पैदा किया । (९) किला । (१०) छत । (११) हाट । (१२) साथ। (१३) मजबूत जड़े हुए । (१४) स्थापन किए । (१५) मरजी । (१६) किया । (१७) जलती । (१८) धिधोर । (१९) बचे । (२०) समुद्र । (२१) डालना, देना । (२२) रचकर । (२३) जगह । (२४) अंश । (२५) गिराया है, ढाहा है । (२६) सब प्रकार के वृक्ष और लता । (२७) झुलाता है । (२८) चन्द्रमा । (२९) सूर्य । (३०) पक्षी । (३१) उड़कर, पंखी पंच = पाँच पक्षी । (यहाँ पर तात्पर्य है पाँच प्राणों से) । (३२) फलदार पेड़। (३३) रमे । (३४) दाना, आहार । (३५) चुगाया, खिलाया । (३६) जुगनू, तारा । (३७) चिह्न, निशान । (३८) पसन्द आया, भाया ।

पसरी किरणि जोति उजिआला । करि करि देखै आपि दइआला ।
अनहद रुण[१] झुणकारु सदा धुनि, निरभउ कै घरि वाइदा[२] ॥९॥
अनहद बाजै भ्रम भउ भाजै, सगल बिआपि रहिआ प्रभु छाजै[३] ।
सभ तेरी तू गुरमुखि जाता[४], दरि[५] सोहै[६] गुण गाइदा ॥१०॥
आदि निरंजनु निरमल सोई । अवरु न जाणा दूजा कोई ।
ऐकंकार[७] वसै मनि भावै, हउमैं गरबु[८] गँवाइदा ॥११॥
अम्रितु पीआ सतिगुरि दीआ । अवरु न जाणा दूआ तीआ ।
ऐको ऐकु सु[९] अपरपरंपरु[१०], परखि खजानै पाइदा[११] ॥१२॥
गिआनु धिआनु सच गहिर गंभीरा। कोइ न जाणै तेरा चीरा[१२] ।
जेती है तेती तुधु[१३] जाचै करमि[१४] मिलै सो पाइदा[१५] ॥१३॥
करम धरमु सबु हाथि तुमारै । बेपरवाह अखुट[१६] भंडारै ।
तू दइआलु किरपालु सदा, प्रभु आपै मेलि मिलाइदा ॥१४॥
आपे देखि दिखावै आपे । आपे थापि[१७] उथापे[१८] आपे ।
आपे जोड़ि विछोड़े करता, आपे मारि जीवाइदा ॥१५॥
जेती है तेती तुधु अंदरि । देखहि आपि बैसि बिजमंदरि[१९] ।
नानकु साचु कहै बेनंती, हरि दरसनि सुखु पाइदा ॥१६॥

तुखारी, महला १ (शब्द २)

तारा चड़िआ लंमा[२०] किउनदरि[२१] निहालिआ राम ।
सेवक पूर करंमा[२२] सतिगुर सबदि दिखालिआ राम ।
गुर सबदि दिखालिआ सचु समालिआ अहिनिसि[२३] देखि विचारिआ ।
धावतु[२४] पंच[२५] रहे घरु जाणिआ कामु क्रोध विषु मारिआ ।
अंतरि जोति भई गुरु साखी[२६] चीने राम करंमा[२७] ।

(१) मीठा-मीठा शब्द । (२) बजाता है । (३) शोभा पा रहा है । (४) जानता है । (५) दरवाजा, द्वार । (६) शोभा पावे । (७) ओंकार । (८) घमंड । (९) सुन्दर, वह । (१०) सबसे परे । (११) दाखिल किया । (१२) हद, पसार, किनारा, अन्त । (१३) तुमको । (१४) दया का दान, बख्शिश। (१५) प्राप्त किया । (१६) नहीं घटनेवाला । (१७) कायम करके । (१८) मिटाता है । (१९) ऊँचा महल । (२०) फाँदकर । (२१) नजर किया; किउ = किया । (२२) कर्म । (२३) दिन-रात । (२४) चलायमान । (२५) पाँच । (२६) गवाह । (२७) दया ।

नानक हउमै[१] मारि पतीणे[२] तारा चड़िया लंमा ॥१॥
गुरमुखि जागि रहे चूकी अभिमानी राम।
अनुदिनु भोरु भइआ साचि समानी राम।
साचि समानी गुरमुखि मनि भानी[३] गुरमुखि साबुत[४] जागे।
साचु नामु अम्रित गुरि दीआ हरि चरनी लिव[५] लागे।
प्रगटी जोति जोति महि[६] जाता[७] मनमुखि भरमि भुलाणी।
नानक भोर भइआ मनु मानिआ जागत रैणि[८] विहाणी[९]॥२॥
अउगुण वीसरिआ गुणी[१०] घरु कीआ राम।
एको रवि[११] रहिआ अवरू न बीआ[१२] राम।
रवि रहिआ सोइ अवरु न कोई मन ही ते मनु मानिआ।
जिनि जल थल त्रिभवण घटु घटु थापिआ।
सो प्रभु गुरमुखि जानिआ।
करण[१३] कारण[१४] समरथ अपारा त्रिविध मेटि समाई[१५]।
नानक अवगण गुणह समाणे ऐसी गुरमति पाई ॥३॥
आवण जाण रहे चूका भोला[१६] राम।
हउमै मारि मिलै साचा चोला राम।
हउमै गुरि खोई परगटु होई चूके[१७] सोग संतापै।
जोति अन्दरि जोत समाणी आपु पछाता[१८] आपै।
पेईअड़ै[१९] घरि सबदि पतीणी[२०] साहुरड़ै[२१] पिर[२२] भाणी[२३]।
नानक सतिगुरि मेलि मिलाई चूकी[२४] काणि[२५] लोकाणी[२६]॥४॥

॥ सूही, महला १ घरु ७ (शब्द ३) ॥

जोगु न खिंथा[२७] जोग न डंडै जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी[२८] मूंड़ि मूंड़ाइऐ जोग न सिंञी वाईऐ।

(१) अहंकार। (२) विश्वास किया। (३) भाया, अच्छा लगा। (४) सोने से वा सूतने से। (५) लौ, लव। (६) में, अन्दर। (७) जाना, ज्ञान प्राप्त किया। (८) रात। (९) भोर हुआ, सबेरा हुआ। (१०) गुण। (११) व्यापक हो रहा है। (१२) दूसरा। (१३) करनेवाला, समर्थ। (१४) सबब, बीज-रूप। (१५) तीनों गुणों को मेटकर समा गये। (१६) निर्बुद्धि, बेवकूफ। (१७) दूर हो गये। (१८) पहचान। (१९) नैहर। (२०) विश्वास किया। (२१) सासुर। (२२) पिया, प्रभु। (२३) भायी, पसन्द आई। (२४) दूर हुई। (२५) लाज। (२६) लोक का। (२७) गुदड़ी। (२८) मुद्रा, गोरखपंथी साधुओं के पहनने का कर्ण-भूषण।

अंजन[१] माहि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ ॥१॥
गली[२] जोगु न होई।
एक द्रिसटि[३] करि समसरि[४] जाणै जोगी कहीऐ सोई ॥१॥
जोग न बाहरि मड़ी मसाणी जोग न ताड़ी[५] लाईऐ।
जोगु न देसि दिसंतरि भविऐ[६] जोग न तीरथि नाईऐ[७]।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ ॥२॥
सतिगुरु भेटै ता[८] सहसा[९] तूटै धावतु वरजि रहाईऐ।
निझरु[१०] झरै सहज[११] धुनि लागै घर ही परचा पाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ ॥३॥
नानक जीवतिया मरि रहीऐ ऐसा जोगु कमाईऐ।
बाजे बाझहु[१२] सिंञी बाजे तउ निरभउ पदु पाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ ॥४॥

॥ सिरी रागु, महला १ ॥ (शब्द ४)

सुनि मन भूले बावरे, गुरु की चरणी लागु।
हरि जपि नाम धियाइ तू, जम डरपै दुख भागु॥
दुखु घणो दोहागणी[१३] किउ थिरु रहै सोहागु॥
भाई रे अवर नाहीं मैं थाउ[१४]।
मैं[१५] धनु नाम निधानु[१६] है गुरि दीआ बलि जाउ ॥१॥रहाउ॥
गुरमति पति[१७] साबासि तिसु तिसकै संग मिलाउ।
तिस बिनु घड़ी न जीवऊ बिनु नावै[१८] मरि जाउ॥
मैं अंधुले नामु न बीसरै टेक टिकी घरि जाउ ॥२॥
गुरू जिना का अंधुला चेले नाहीं ठाउ।
बिनु सतिगुरु नाउ[१९] न पाइऐ बिनु नावै किया सुआउ[२०]।

(१) माया। (२) गप करना। (३) दृष्टि। (४) अच्छी तरह एक करना—सम करना। (५) नकली समाधि या ध्यान। (६) भ्रमण करके। (७) स्नान करके। (८) तो। (९) संशय। (१०) ज्योति। निझर झरै = अन्तर में प्रकाश-रूप चेतन की वर्षा होवै। (११) ब्रह्मनाद। (१२) बजे। (१३) व्यभिचारिणी, कुलटा स्त्री। (यहाँ इसका अर्थ है अभक्त)। (१४) स्थान। (१५) मुझे। (१६) भरपूर। (१७) प्रतिष्ठा। (१८) नाम। (१९) नाम। (२०) सुभाग।

आइ गइआ पछुतावना जिउ सुञे[१] घरि काउ[२] ॥३॥
बिनु नावै दुख देहुरी[३] जिउ कलर[४] की भीति[५]।
तब लगु महलु न पाइऐ जब लगु साचु न चीति॥
सबदि रपै[६] घरु पाइऐ निरवाणी पदु नीति[७] ॥४॥
हउ[८] गुर पूछउ आपणे गुर पूछि कार[९] कमाउ।
सबदि सलाही* मनि वसै हउमै दुख जलि जाउ॥
सहजे होइ मिलावणा साचे साचि मिलाउ ॥५॥
सबदि रते[१०] से निरमले तजि काम क्रोध अहंकारु।
नामु सलाहनि[११] सद[१२] सदा हरि राखहि उर धारि॥
सो किउ मनहु विसारीऐ सभ जीआ का आधारू ॥६॥
सबदि मरे सो मरि है फिरि मरै न दूजी बार।
सबदै ही ते पाइऐ हरि नामे लगै पिआरु॥
बिनु सबदै जगु भूला फिरै मरि जनमै बारोबार ॥७॥
सभ सालाहै आप कउ बडहुबडेरी[१३] होइ।
गुरू बिनु आपु न चीनिऐ कहे सुणे किया होइ॥
नानक सबदि पछाणीऐ हउमैं करै न कोइ ॥८॥

॥ आसा, महला १ पंच पदे ॥ (शब्द ५)

मोहु कुटंबु मोहु सभकार । मोहु तुम तजहु सगल[१४] बेकार ॥१॥
मोह अरु भरमु तजहु तुम बीर। साचु नामु रिदे[१५] रवै[१६] सरीर ॥२॥रहाउ॥
सचु नामु जा[१७] नव[१८] निधि [१९] पाई । रोवै पूत न कलपै माई ॥३॥
एतु[२०] मोहि डूबा संसारु । गुरुमुखि कोई उतरै पारि ॥४॥
एतु मोहि फिरि जूनी पाहि । मोहे लागा जमपुरी जाहि ॥५॥
गुरु दीखिआ जपु तपु कमाहि । ना मोहु तूटै ना थाइ[२१] पाहि ॥६॥
नदरि करे ता[२२] एहु मोहु जाइ । नानक हरि सिउ रहै समाइ ॥७॥

(१) सूम, कंजूस। (२) काग। (३) देह में। (४) ऊसर मिट्टी, ऊस, रेह। (५) दीवाल। (६) विलास करै, सबदि रपै–शब्द में विलास करने से। (७) नित्य, असली, सत्य। (८) सम्बोधन (हे लोग !)। (९) कर्म। *साधन। (१०) लवलीन होवे। (११) अभ्यास। (१२) सदा, हमेशा। (१३) बड़े-से-बड़े। (१४) सकल, बिल्कुल, समस्त। (१५) हृदय। (१६) व्यापक है। (१७) जिससे। (१८) (नौ) ९। (१९) धन। (२०) इस। (२१) जगह। (२२) तो।

॥ आसा, महला १ ॥ (शब्द ६)

अनहदो अनहदु बाजै रुण झुणकारे राम।
मेरा मनो मेरा मनु राता लाल पिआरे राम॥
अनदिनु राता मनु वैरागी सुन्न मंडलि घरु पाइआ।
आदि पुरुष अपरंपरु पिआरा सतिगुरि अलखु लखाइआ॥
आसणि बैसणि थिरु नाराइणु तितु मनु राता बीचारे।
नानक नाम रते वैरागी अनहद रुण झुणकारे ॥१॥
तितु अगम तितु अगम पुरे कहु कितु विधि जाइऐ राम।
सचु संजमो सारि[१] गुन गुरु सबद कमाइऐ राम॥
सचु सबदु कमाइऐ निजु घरि जाइऐ पाइऐ गुणी निधाना।
तितु साखा मूलु पतु नहीं डाली सिरि सभना परधाना॥
जपु तपु करि करि संजम थाकी हठि निग्रहि नहीं पाइऐ।
नानक सहजि मिले जगजीवन सतिगुर बूझ बुझाइऐ ॥२॥

॥ सौरठि, महला १ ॥ (शब्द ७)

अलख[२] अपार[३] अगम[४] अगोचरि[५] ना तिसु काल[६] न करमा।
जाति अजाति अजोनी[७] संभउ ना तिसु भाउ[८] न भरमा[९] ॥रहाउ॥
साचे सचिआर[१०] विटहु[११] कुरबाणु[१२]।
ना तिसु रूप बरनु नहिं रेखिआ साचे सबदि नीसाणु[१३] ॥१॥
ना तिसु मात पिता सुत बंधपु ना तिसु काम न नारी।
अकुल[१४] निरंजन अपर-परंपरु[१५] सगली जोति तुमारी ॥२॥
घट घट अंतरी ब्रह्मु लुकाइआ घटि घटि जोति सबाई[१६]।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी[१७] लाई ॥३॥
जंत उपाइ कालु सिरिजंता बसगति[१८] जुगति सबाई।
सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि छूटहि सबदु कमाई ॥४॥

(१) सार। (२) देखने के बाहर। (३) असीम। (४) मन और बुद्धि की गति के परे। (५) इन्द्रियों के परे। (६) कालातीत। (७) अजन्मा। (८) संकल्प, ख्याल। (९) भूल। (१०) सत्य। (११) उसके ऊपर। (१२) न्योछावर। (१३) चिह्न। (१४) जिसका कुल नहीं। (१५) सबसे परे। (१६) समाई। (१७) समाधि। (१८) वश में आया।

सूचै[१] भाडै[२] साचु समावै बिरले सूचाचारी*।
तंतै[३] कउ परम तंतु[४] मिलाइआ नानक सरणि तुमारी ॥५॥

॥ रामकली दखणी, महला १ ॥ (शब्द ८)

जतु[५] सतु[६] संजमु[७] साचु द्रिड़ाइआ साच सबदि रसि लीणा।
मेरा गुरु दइआल सदा रंग लीणा॥
अहिनिसि रहै एक लिव लागी साचे देखि पतीणा[८]।
रहै गगन पुरि द्रिसटि समैसरि[९] अनहद सबदि रंगीणा॥
समु बंधि कुपीन[१०] भरि पुरि लीणा जिहवाँ रंगि रसीणा।
मिलै गुर साचे जिन रचु राचे[११] किरतु वीचारि पतीणा॥
एक महि सरब सरब महि एका एह सतिगुर देखि दिखाई।
जिनि कीए खंड मंडल ब्रह्मण्डा सो प्रभु लखनु न जाई॥
दीपक ते दीपकु परगासिआ त्रिभवण जोति दिखाई।
साचै तखति सच महली बैठे निरभउ ताड़ी लाई॥
मोहि गइआ वैरागी जोगी घटि घटि किंगुरी वाई।
नानक सरणि प्रभू की छूटै सतिगुर सचु सखाई॥

॥ रामकली, महला १ ॥ (शब्द ९)

अउहठि[१२] हसत[१३] मड़ी घरु छाइआ धरणि गगन कल[१४] धारी।
गुरमुखि केती सबदि उधारी संतहु॥
ममता मारि हऊमै सोखै[१५] त्रिभवणि जोति तुमारी।
मनसा मारि मनै महि राखै सतिगुर सबदि विचारी॥
सिंञी[१६] सुरति अनाहदि बाजै घटि घटि जोति तुमारी।
परपंच[१७] वेणु[१८] तही मनु राखिआ ब्रह्म अगनि परजारी[१९]॥
पंच ततु मिलि अहिनिसि दीपकु निरमल जोति अपारी।
रवि ससि लउके इह तनु किंगुरी बाजै सबदु निरारी[२०]॥

(१) पवित्र । (२) बरतन (अन्तःकरण) । *पवित्र आचरणवाला । (३) जीवात्मा (सुरत) । (४) सारशब्द । (५) यतीपन । (६) सचाई। (७) परहेजगारी । (८) विश्वास किया । (९) एक ही तरह, थिर। (१०) कौपीन, लँगोटी । (११) बना दिया । (१२) छोड़कर । (१३) हाथी, अहंकार । (१४) कला, तेज । (१५) सुखावै । (१६) सींगी, सींग से बना हुआ बाजा । (१७) संसार । (१८) वेणु बाजा । (१९) जलाई । (२०) न्यारी ।

सिव नगरी[१] महि आसणु अउधू[२] अलखु अगंमु अपारी।
काइआ नगरी एहु मनु राजा पंच वसहि वीचारी॥
सबदि रबै[३] आसणि घरि राजा अदलु[४] करे गुणकारी[५]।
कालु विकराल[६] कहे केहि बपुरे[७] जीवत मूआ मनु मारी॥
ब्रह्मा बिसन महेस इक मूरति आपे करता कारी।
काइआ सोधि[८] तरै भवसागरु आतम ततु वीचारी॥
गुर सेवा ते सदा सुखु पाइआ अंतरि सबदु रविआ[९] गुणकारी।
आपे मेलि लए[१०] गुण दाता हउमै त्रिसना मारी॥
त्रैगुण[११] मेटै चउथै[१२] वरतै एहा[१३] भगति निरारी।
गुरमुखि जोग सबदि[१४] आतमु चीनै हिरदै एक मुरारी॥
मनुआँ असथिरु[१५] सबदे राता[१६] एहा करणी सारी।
वेदु वादु[१७] न पाखंड अउधू गुरमुखि सबदि वीचारी॥
गुरमुखि जोग कमावै अउधू जतु सतु सबदि वीचारी।
सबदि मरे मन मारे अउधू जोग जुगति वीचारी॥
माइआ मोह भवजलु है अवधू सबदि तरै कुल तारी।
सबदि सूर[१८] जुग चारे अवधू वाणी भगति वीचारी॥
एह मनु माइआ मोहिआ अउधू निकसै सबदि वीचारी।
आपे बखसे[१९] मेलि मिलाए नानक सरणि तुमारी॥

॥ मारू, महला १ ॥ (शब्द १०)

काम क्रोध परहरु[२०] पर निंदा।
लबु[२१] लोभु तजि होहु निचिंदा[२२]॥
भ्रम का संगलु[२३] तोड़ि निराला[२४] हरि अन्तरि हरि रस पाइआ ॥१॥
निसि दामनि[२५] जिउ चमकि चंदाइणु[२६] देखै।

(१) कल्याण की नगरी । (२) साधु, जीव । (३) रमै । (४) हुकूमत। (५) गुणवान । (६) भयंकर । (७) तुच्छ । (८) शोधकर, मलिनता दूर कर । (९) रमकर । (१०) मिला लिए । (११) तीन गुण। (१२) चौथे पद, सतलोक । (१३) यह । (१४) शब्दयोग । (१५) स्थिर, थिर । (१६) अत्यन्त लवलीन होना । (१७) बहस । (१८) सूर्य। (१९) देवे, दान करे । (२०) त्यागो । (२१) लालच। (२२) निश्चिन्त । (२३) जञ्जीर । (२४) न्यारा । (२५) बिजली । (२६) चाँदनी ।

अहिनिसि जोति निरन्तरि[१] पेखै[२]।
आनन्द रूपु अनूपु सरूपा गुरि पूरै देखाइआ ।।२।।
सतिगुर मिलहु आपे प्रभ तारे।
ससि घरि सूर दीपक गैणारै[३]।।
देखि अदिसट[४] रहहु लिव[५] लागी सभु त्रिभवणि ब्रह्म सबाइआ[६] ।।३।।
अंम्रत रस पाए त्रिसना भउ[७] जाए[८]।
अनभउ पदु[९] पावै आपु गवाए।।
ऊची पदवी ऊचो ऊचा निरमल सबदु कमाइआ ।।४।।
अद्रिसटि अगोचरु नाम अपारा।
अति रसु मीठा नामु पिआरा।।
नानक कउ जुगि-जुगि हरि जसु दीजै हरि जपिऐ अंतु न पाइआ ।।५।।
अन्तरि नामु परापति हीरा।
हरि जपते मनु मन ते धीरा[१०]।।
दुघट[११] घट भउ भंजनु पाइऐ बाहुड़ि जनमि न जाइआ ।।६।।
भगति हेतु गुर सबद तरंगा[१२]।
हरि जसु नामु पदारथु मंगा।।
हरि भावै गुर मेलि मिलाए हरि तारे जगतु सबाइआ ।।७।।
जिनि जपु जपिउ सतिगुर मति वाके।
जम कंकर[१३] कालु सेवक पग ताके।।
ऊतम संगति गति मति ऊतम जगु भउजलु पारि तराइआ ।।८।।
इहु भवजलु जगतु सबदि गुर तरीऐ।
अन्तर की दुविधा अन्तरि जरीऐ।।
पंच वाण[१४] ले जम कउ मारै गगनंतरि[१५] धणखु[१६] चड़ाइआ ।।९।।
साकत[१७] नरि सबद सुरति किउ पाइऐ।
सबद सुरति बिनु आइऐ जाइऐ।।
नानक गुरमुख मुकति पराइणु[१८] हरि पूरे भागि मिलाइआ ।।१०।।

(१) सर्वदा। (२) देखै। (३) सितारे, तारे। (४) देखने के परे। (५) लौ। (६) समाया। (७) डर। (८) जाता रहा। (९) आत्मपद। (१०) पिण्डी मन को निजमन से धीरज मिलता है। (११) दुर्घट। (१२) उमंग। (१३) किंकर। (१४) पाँच ध्वनियाँ। (१५) अन्तर-गगन के भीतर। (१६) धनुष। (१७) निगुरा। (१८) प्रवृत्त, लगा हुआ।

निरभउ सतिगुरु है रखवाला।
भगति परापति गुर गोपाल।।
धुनि अनंदु अनाहदु बाजै गुरि सबदि निरंजनु पाइआ ।।११।।
निरभउ सो सिरी नाहीं लेखा।
आपि अलेखु कुदरति है देखा।।
आपि अतीतु[१] अजोनी संभउ[२] नानक गुरमति सो पाइआ ।।१२।।
अन्तर की गति सतगुरु जाणै।
सो निरभउ गुर सबदि पछाणै।।
अन्तरु देखि निरंतरि[३] बूझै अनत न मनु डोलाइआ ।।१३।।
निरभउ सो अभअन्तरि[४] बसिआ।
अहिनिसि नामि निरंजन रसिआ।।
नानक हरिजसु संगति पाइऐ हरि सहजे सहजि मिलाइआ ।।१४।।
अन्तर बाहरि सो प्रभु जाणै।
रहै अलिपतु[५] चलते[६] घरि आणै।।
ऊपरि आदि सरब तिहु लोई[७] सचु नानक अंम्रित रसु पाइआ ।।१५।।

॥ प्रभाती असट पदीआ महला १ विभास ॥ (शब्द ११)

१ॐ सतिगुरु प्रसादि

दुबिधा बउरी मनु बउराइआ।
झूठे लालचि जनमु गवाँइआ।।
लपटि रहि फुनि[८] बंधनु[९] पाइआ।
सतिगुरि राखे[१०] नाम दिड़ाइआ।।
ना मनु मरै न माइआ मरै।
जिनु कीछु कीआ सोई जाणै।।
सबदु विचारि भउसागरु तरै।
माइआ संचि[११] राचै[१२] अहंकारी।।
माइआ साथि न चलै पियारी।
माइआ ममता है बहुरंगी।।

(१) न्यारा। (२) अज, अजन्मा। (३) लगातार, सघन। (४) अन्तर्गत। (५) निर्लेप। (६) चंचल (मन)। (७) लोक। (८) पुनि, फिर। (९) बन्धन। (१०) रक्षा किए। (११) संग्रह कर। (१२) शोभित होते।

बिनु नावै[१] को[२] साथि न संगी ॥
जिउ मनु देखहि पर मनु तैसा ।
जैसी मनसा तैसी दसा[३] ॥
जैसा करमु[४] तैसी लिव लावै ।
सतिगुरु पूछि सहज घरु पावै ॥
रागि[५] नादि[६] मनु दूजै[७] भाइ[८] ।
अन्तरि कपटु महा दुखु पाइ ॥
सतिगुरु भेटै सोझी[९] पाइ ।
सचै नामि रहै लिव लाइ ॥
सचै सबदि सचु कमावै ।
सची वाणी हरि गुण गावै ॥
निज घरि वासु अमर पदु पावै ।
ता दरि[१०] साचै सोभा पावै ॥
गुर सेवा बिनु भगति न होई ।
अनेक जतनु करै जो कोई ॥
हउमै मेरा सबदे खोई ।
निरमल नाम वसै मनि सोई[११] ॥
इसु जग महि सबदु करणी है सारु ।
बिनु सबदै होर[१२] मोह गुवारु ॥
सबदै नाम रखै उरि धार ।
सबदे गति मति मोख दुआर ॥
अवर नाहीं करि देखणहारो ।
साचा आपि अनूपु[१३] अपारो ॥
राम नाम ऊतम गति होई ।
नानक खोजि लहै जनि कोई ॥

(१) नाम । (२) कोई । (३) हालत । (४) कर्म । (५) प्रेम, अनुराग। (६) शब्द । (७) दूसरा भाव । (८) हे भाई ! (९) सूझ। (१०) दरवाजा । (११) शब्द-अभ्यास करके जो अहंकार को गवाँ देता है, उसी के मन में पवित्र नाम बसता है । (१२) और । (१३) उपमा-रहित ।

॥ रामकली, महला १ ॥ (शब्द १२)

सागर महि बूंद बूंद महि सागरु कवणु बुझै विधि[१] जाणै ।
उतभुज[२] चलत[३] आपि करि चीनै आपे ततु[४] पछाणै ॥१॥
ऐसा गिआन विचारै कोई ।
तिसते मुकति परम गति होई ॥
दिन महि रैणि रैणि महि दीनी अरु उसन[५] सीति विधि सोई ।
ताकी गति[६] मति अवरु न जाणै गुर बिन समझ न होई ॥२॥
पुरख महि नारि नारि महि पुरखा[७] बूझहु ब्रह्म गिआनी ।
धुनि महि धिआनु धिआन महि जानिआ गुरमुखि अकथ कहानी ॥४॥
मन महि जोति जोति महि मनुआँ पंच[८] मिले गुरभाई ।
नानक तिनकै सद[९] बलिहारी जिन एक[१०] सबदि लिवलाई ॥५॥

॥ धनासरी, महला १ ॥ (शब्द १३)

नदरि[११] करे ता सिमरिआ जाई ।
आतमा द्रवै रहै लिवलाई ॥
आतमा परातमा एकौ करै ।
अंतरि की दुविधा अंतरि मरै ॥१॥
गुर परसादी पाइआ जाइ ।
हरि सिउ चितु लागै फिरि कालु न खाइ ॥
सचि सिमरिऐ होवै परगासु ।
ताते विखिया महि रहै उदासु ॥
सतिगुर की ऐसी बड़िआई ।
पुत्र कलत्र[१२] बिचै गति[१३] पाई ॥२॥
ऐसी सेवकु सेवा करै ।
जिसका जीउ तिसु आगै धरै ॥
साहिब भावै सो परवाणु ।
सो सेवक दरगह[१४] पावै माणु[१५] ॥३॥

(१) युक्ति । (२) अद्‌भुत । (३) चरित्र । (४) सार वस्तु । (५) दृष्टि-योग करे। दिन=उसन=उष्म=सूर्य=गंगा=पिंगला। रैणि=सीत=रात=चन्द्र= यमुना=इड़ा । (६) चाल । (७) पुरुष में प्रकृति और प्रकृति में पुरुष। (८) पंच गुरभाई=पंच नाद। (९) सदा । (१०) केवल, सिर्फ । (११) देखे, दृष्टि योग करे । (१२) पत्नी, स्त्री । (१३) मुक्ति । (१४) दरबार । (१५) आदर ।

सतिगुर की मूरति हिरदै बसाए।
जो ईछै सोई फलु पाए॥
साचा साहिबु किरपा करै।
सो सेवक जम ते कैसा डरै॥४॥
भनति[1] नानकु करै विचारु।
साची वाणी सिउ धरै पिआरु॥
ताको पावै मोख दुआर।
जपु तपु सभु इहु सबदु है सारु॥५॥

॥ सलोक महला १ ॥ (शब्द १४)

घरि महि घरु देखाइ देइ सो सतगुरु परखु सुजाणु।
पंच सबदु धुनिकार धुनि तह बाजै सबदु निसाणु[2]॥
दीप लोअ[3] पाताल तह[4] खंड मंडल हैरानु।
तार घोर वाजिंत्र[5] तह साचि तखति सुलतानु॥
सुखमन कै घरि राग सुनि सुन मंडल लिवलाइ।
अकथ कथा वीचारीऐ मनसा मनहि समाइ॥
उलटि कमलु अंम्रित भरिआ इहु मन कतहुँ न जाइ।
अजपा जाप न बीसरै आदि जुगादि समाइ॥
सभि सखिया पंचे[6] मिलै गुरमुखि निज घरि वासु।
सबदु खोज इहु घरु लहै नानकु ताका दासु॥

रागु सूही, महला १ छतं घरु २ ॥ (शब्द १५)

१ ॐ सतिगुरु प्रसादि

हम घरि साजन आए साचै मेलि मिलाए।
सहजि मिलाए हरि मन भाए पंच मिले सुखु पाइआ॥
साई[7] बसतु परापति होई जिसु सेती मनु लाईआ।
अनु दिन मैलु भइआ मनु मानिआ घर मंदर सोहाए॥
पंच सबद धुनि अनहद बाजे हम घरि साजन आए॥१॥
आवहु मीत पिआरे। मंगल गावहु नारे[8]।

(१) कहै। (२) निशान= तीक्ष्ण = तेज। (३) लोक। (४) तहाँ। (५) बाजता। (६) पाँच नादों से। (७) सोई। (८) उच्च स्वर से।

सचु मंगल गावहु ता प्रभु भावहु सोहिलड़ा[1] जुग चारे।
अपने घरु आइआ थानि सुहाइआ कारज सबदि सवारे।
गिआनु महा रसु नेत्री अंजनु त्रिभुवन रूप दिखाइआ।
सखी मिलहु रसि मंगल गावहु हम घरि साजनु आइआ॥२॥
मनु तनु अंम्रित भिंना। अंतरि प्रेमु रतंना।
अंतरि रतनु पदारथु मेरे परम ततु वीचारो।
जंत[2] भेख तू सफलिउ दाता[3] सिरि सिरि देवणहारो।
तू जानु[4] गिआनी अंतरजामी आपे कारणु कीना।
सुनहु सखी मनु मोहनि मोहिआ तनु मनु अंम्रित भीना॥३॥
आतम राम संसारा। साचा खेलु तुमारा।
सचु खेलु तुम्हारा अगम अपारा तुधु बिनु कउण बुझाए।
सिध साधिक सिआणे केते तुधु बिनु कवणु कहाए।
काल विकाल[5] भए देवाने मनु राखिआ गुरि ठाए[6]।
नानक अवगण सबदि जलाए गुण संगमि[7] प्रभु पाए॥४॥

॥ रामकली, महला १, सिध गोसटि ॥ (शब्द १६)

जैसे जल महि कमलु निरालमु[8] मुरगाई[9] नैसाणै[10]।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ नानक नामु बखाणै॥
रहहि एकांति एको मनि बसिआ आसा माहिं निरासो।
अगमु अगोचरु देखि दिखाए नानक ताका दासो॥
बिनु सतिगुर सेवे जोगु न होई।
बिनु सतिगुर भेटे मुकति न कोई॥
बिनु सतिगुर भेटे नामु पाइआ न जाइ।
बिनु सतिगुर भेटे महा दुखु पाइ॥
बिनु सतिगुर भेटे महा गरबि[11] गुबारि[12]।
नानक बिनु गुर मूआ जनमु हारि॥

(१) एक रागिनी। (२) जीव। (३) अच्छा फल देनेवाला। (४) ज्ञाता। (५) विकराल, भयंकर। (६) पास, स्थान में। (७) संग, साथ। (८) असंग, निर्लेप। (९) पनडुब्बी मुर्गी। (१०) बिना सना, निर्लेप। (११) अहंकार। (१२) धुँधला।

प्राण-संगली[1], भाग १

॥ राग रामकली, महला १ ॥ (शब्द १)

ओअंकार निरमल सत वाणि। तांते होई सगली खाणि॥
खाणि खाणि महिं बहु विस्तारा। आपे जाने सिरजनहारा॥
सिरजनहारे के केते भेष। भेष भेष महि रहै अलेष॥१॥
नाम जपहु मन माला। नानक सिमरहु गुरगोपाला॥रहाउ॥
ओअंकार हुआ परगास। साजे धरती धउल[2] आकास॥
साजे मेरु मंदिर कविलास[3]। साजे पिंड धरे बिच सास[4]॥
साज्या काल न छोड़ै पास। छूटै पिंड उड़ावै हांस[5]॥
ओअंकार हुआ चानायल[6]। तदहुँ तीने देव उपायल॥
महादेव कीता भंडारी। ब्रह्मा चारि वेद वीचारी॥
x बिष्नु हढ़ाउन[7] दस औतारी॥
आप निरालम करे तमासा। ज्यों ज्यों हुकम तिवैं परगासा॥३॥
राचै शब्द सुशब्दै जेंह। गुरुमुख ताँकौ मिलै सनेह॥पृ०३॥

(शब्द २)

शब्द सुरति की साखी बूझै, मरमु दशाँ[8] पंचाँ[9] का सूझै।
दशवै द्वारे चोवै[10] भाठी, तीरथ परसै त्रैंसै साठी।
गगनंतरि गगन गवनि करि फिरै, जाय त्रिवेणी मंजनु करै।
सहस निरंतरि धरे ध्यानु, नानक ऐसा ब्रह्म-ज्ञानु॥१३४॥

(शब्द ३)

कर्त्ता भुगता[11] करने जोग। करन[12] करावनहारु सभु होगु।
आदि निरंजनु त्रिभवणु धनी। ताकी उपमा केतक गणी।
निर्गुण-सर्गुण त्रिहुगुणते दूरि। नानक अलिप्तु रहिआ भरपूरि॥१४०॥

(१) यह ग्रन्थ गुरु नानकदेवजी ने सिंहलद्वीप (लंका-Ceylon) में राजा शिवनाभ को बख्स किया था और पाँचवें गुरु अर्जुनदेवजी ने उसको वहाँ से मँगाया था। इसका विशेष वर्णन वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद में प्रकाशित प्राण-संगली, भाग-२ में पढ़िए। (२) स्वच्छ। (३) कैलाश। (४) श्वास। (५) हंस। (६) चाँदनी, प्रकाश। x प्राण-संगली में भी यहाँ स्थान खाली है। (७) फिरनेवाला। (८) दश शब्द। (९) पाँच शब्द। (१०) चूता है, टपकता है। (११) भोक्ता, भोगनेवाला। (१२) करनेवाला।

प्राण-संगली, भाग २, अध्याय ८

शब्द तत्तु बीर्ज संसार। शब्दु निरालमु अपर अपार॥०२॥
शब्द विचारि तरे बहु भेषा। नानक भेदु न शब्द अलेषा॥५८॥
शब्दै सुरति भया प्रगासा। सभ को करै शब्द की आसा॥
पंथी पंखी सिऊँ नित राता। नानक शब्दै शब्दु पछाता॥६१॥
हाट बाट शब्द का खेलु। बिनु शब्दै क्यों होवै मेलु॥
सारी स्रिष्टि शब्द कै पाछै। नानक शब्द घटै घटि आछै॥६२॥
साध संगति महि ऋद्धि सिद्धी बुद्धि ज्ञानु। पंच[1] मिलै तब मुक्त ध्यानु॥
पंच मिलै पावहि प्रभु सोय। नानक गुर मिलिअै कार्य सिद्ध होय॥३५॥
पंच मिलहि परवार[2] सधार[3]। मूल ध्यान धर ओअंकार॥
सतिगुर मिलै भउभंजन गाइअै। नानक अनहद शब्द समाइअै॥
शब्द पछान मिलै गुर ज्ञानु। नानक तारू थाहि पछानु॥३८॥
सचु[4] अस्थिरु[5] पंच सागर[6] मझारे। अदल[7] करै अपने वीचारे॥
पंचा का जो जाने भेउ। ओह अलष निरंजन करता देउ॥
सो अगम[8] निगम[9] का जाणै जाणु[10]। नानक घटि घटि पुरुष सुजानु॥४८॥

॥ रागु रामकली, महला १ ॥

ज्ञान खड़ग ले मनु सिउ लूझे। मरम दशाँ[11] पंचा का बूझे॥
पंच[12] मारि घर बहै[13] संतोष। हउमैं दुविधा मेटै दोष॥

(१) पाँच (शब्द)। (२) परिवार, समूह। (३) साधार = आधार-सहित। पंच मिलहि परवार सधार-पाँच शब्दों वा नादों से आधार-रूप सर्वेश्वर के परिवार-रूप सब सृष्टि मिलती है अर्थात् सबका प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) ज्ञान होता है। (४) सत्य, परम तत्त्व सर्वेश्वर। (५) स्थिर–अचल। (६) पाँच समुद्र वा सृष्टि के अत्यन्त बड़े-बड़े पाँच मण्डल। इन्हीं पाँच मण्डलों को 'मण्डल बाह्मणोपनिषद्' के चतुर्थ ब्राह्मण में आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश; ये पाँच आकाश कहे गए जान पड़ते हैं। सारी सृष्टि पाँच आकाशों में वा स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य–इन पाँच मण्डलों में समाप्त होती है। (७) हुक्म, आज्ञा। (८) आगम–तन्त्रशास्त्र। (९) वेद। (१०) ज्ञान। (११) दश ध्वनियाँ। (१२) पाँचो ज्ञानेन्द्रियों के स्वाद। (१३) संतोष में वर्ते।

पंच[१] अगनि नहिं कायाँ जाले। सतवंता सती[२] बहै धर्मशाले॥
सहजि संतोष की भिक्षा लेइ। नानक जोगी सहजि मिलेइ॥१९॥

अध्याय १०

तदि अपना आपु आप ही उपाया[३]।
नाँ किछुते किछु करि दिखलाया॥

अध्याय ११

आसा मनसा गुर शब्दि निवारि। काम क्रोध ब्रह्म अगनी जारि॥
जरा[४] मरन गतु[५] गरव निवारे। निर्मल जोति अनूप उजारे[६]॥
सचे शब्दि सचि निस्तारे[७]।
लबु[८] लोभ मिटे अभिमानु। जब सचे तषति बैठा परधानु॥
शब्दु अनाहदु बाजे पंजतूरा[९]। सतिगुर मति लै पूरौ पूरा॥
गगनि निवासि आसणु जिसु होई। नानक कहे उदासी सोई॥

॥ अध्याय १५, राग भैरउ, महला १॥

पंच[१०] मिलै अस्थिर मनु पावै। पंच मिलै गरभ जोनि न आवै॥

॥ महला २, पउड़ी॥ (शब्द १)

नउ दरवाजे काइआ[११] कोट[१२] है दसवे गुपतु रखीजै।
बजर कपाट न खुलनी गुर सबदि खुलीजै॥
अनहद बाजे धुनि बजदे गुर सबदि सुणीजै।
ततु घर अंतरि चानणा[१३] करि भगति मिलीजै॥
सभ महिं एकु वरत दा जिनि आपे रचन रचाई।

॥ आसा दी वार, महला २॥ (शब्द २)

जे सउ चंदा उगवहि सूरज चड़हि हजार।
एतै चानण होदिआ[१४] गुर बिनु घोर अंधार॥

(१) पाँच। (२) सत्य; सती बहै—सत्यता में वर्ते। (३) उत्पन्न किया। (४) बुढ़ापा। (५) गया, नाश हुआ। (६) प्रकाश करे। (७) उद्धार करता है। (८) लालच। (९) पाँच नाद, पाँच नौबत। (१०) पाँच शब्द। (११) शरीर। (१२) किला, गढ़। (१३) प्रकाश। (१४) होते हुए।

॥ सारंग की वार, महला २॥ (शब्द ३)

गुरु कुंजी पाहू[१] निबल[२] मनु कोठा तनु छति।
नानक गुर बिनु मन का ताकु[३] न उखड़ै अवर न कुंजी हथि॥१॥

॥ रागु माझ, महला ३, घरु १॥ (शब्द १)

करमु[४] होवै सतिगुरू मिलाए, सेवा सुरति सबदि चितु लाए।
हउमै मारि सदा सुखु पाइआ माइआ मोह चुकावणिआ[५]॥१॥
हउ वारी[६] जीउ वारी सतिगुर कै बलिहारणिआ।
गुरमती परगासु होआ जी अनदिनु हरि गुण गावणिआ॥१॥रहाउ॥
तनु मनु खोजे ता नाऊ[७] पाए। धावतु[८] राखै ठाकि[९] रहाए।
गुर की वाणी अनुदिनु[१०] गावै, सहजे भगति करावणिआ॥२॥
इसु काइआ अंदरि वसतु असंखा[११]। गुरमुखि साचु मिलै ता[१२] वेखा[१३]।
नउ दरवाजे दसवै मुकता[१४] अनहद सबद बजावणिआ॥३॥
सचा साहिबु सची नाई[७]। गुरपरसादी मंनि बसाई।
अनुदिनु सदा रहै रंगि राता, दरि सचै सोझी[१५] पावणिआ॥४॥
पाप पुन की सार न जाणी। दूजै लागी[१६] भरमि भुलाणी।
अगिआनी अंधा मगु[१७] न जाणै। फिरि फिरि आवण जावणिआ॥५॥
गुर सेवा ते सदा सुख पाइआ। हउमै मेरा ठाकि[१८] रहाइआ।
गुर साखी मिटिआ अंधिआरा, बजर कपाट खुलावणिआ॥६॥
हउमै मारि मंनि वसाइआ। गुरचरणी सदा चितु लाइआ।
गुर किरपा ते मनु तनु निरमलु, निरमल नाम धिआवणिआ॥७॥
जीवणु मरणु सभु तुधै[१९] भाई[२०]। जिसु बखसे तिसु[२१] दे बडिआई।
नानक नाम धिआइ सदा तूं, जंमणु मरणु सवारणिआ[२२]॥८॥

(१) प्राप्त करो। (२) निर्बल। (३) ताक, ताखा। (४) दया। (५) नाश किया। (६) न्योछावर। (७) नाम। (८) चंचलता। (९) ठहरा। (१०) दिन-रात। (११) असंख्य। (१२) तिसको। (१३) देखा। (१४) दसवाँ द्वार खोलकर। (१५) सूझ। (१६) द्वैत में लगकर। (१७) रास्ता। (१८) ठहरा। (१९) तुझको। (२०) भाना, पसंद आना। (२१) तिसको। (२२) सम्हाल ले।

॥ माझ, महला ३ ॥ (शब्द २)

इस गुफा[१] महि अखुट[२] भंडारा। तिसु बिचि बसै हरि अलख अपारा।
आपे गुपतु परगट है आपे गुर सबदि आप वंञावणिआ[३] ॥
हउ वारी जीउ वारी अंम्रित नामु मंनि वसावणिआ।
अंम्रित नामु महा रसु मीठा गुरमती अंम्रितु पिआवणिआ॥१॥रहाउ॥
हउमैं मारि बजर कपाट खुलाइआ। नाम अमोलकु[४] गुर परसादी पाइआ।
बिनु सबदै नामु[५] न पाए कोई गुर किरपा मंनि वसावणिआ ॥२॥
गुर गिआन अंजन सचु नेत्री पाइआ अंतरि चानणु अगिआनु अंधेरु गवाइ।
जोती जोति मिली मनु मानिआ हरि दरि सोभा पावणिआ ॥३॥
सरीरहु भालणि[६] को बाहरि जाए। नामु न लहै बहुतु बेगारि[७] दुखु पाए ।
मनमुख अंधे सूझै नाहीं फिरि घरि[८] आइ गुरमुखि वथु[९] पावणिआ ॥४॥
गुर परसादी सचा हरि पाए । मनि तनि वेखै[१०] हउमैं मैलु जाए।
वैसि[११] सुथानी[१२] सद[१३] हरिगुण गावै सचै सबदि समावणिआ ॥५॥
नउ दरि ठाके धावतु रहाए । दसवै निज घरि वासा पाए।
उथै अनहद सबद बजहि दिन राती गुरमति शबदु सुणावणिआ ॥६॥
बिनु शबदै अंतरि आनेरा[१४]। न बसतु लहै न चूकै फेरा।
सतिगुर हथिकुंजी होरतु[१५]दरु[१६]खुलै नाहीं गुर पूरै भागि मिलावणिआ ॥७॥
गुपतु परगटु सभनी थाई। गुर परसादी[१७] मिली सोझी[१८] पाई।
नानक नाम सलाहि[१९] सदा तूं गुरमुखि मंनि वसावणिआ॥८।२४।२५॥

॥ गउड़ी महला ३॥ (शब्द ३)

गुर की सेवा करि पिरा[२०] जीउ हरि नाम धिआए।
मंञहु[२१] दूरि न जाहि पिरा जीउ धरि बैठिआ हरि पाए॥

(१) इस शरीररूपी गुफा। (२) अघट। (३) बजाया है, गँवाया। (४) अनमोल। (५) सारशब्द अथवा सत्यनाम से भिन्न दूसरे शब्दों के बिना कोई नाम नहीं पाए। (६) देखना। (७) बिना मजदूरी के। (८) घर। (९) वस्तु। (१०) देखै। (११) बैठकर। (१२) अच्छी जगह। (१३) सदा। (१४) अंधेरा। (१५) और से। (१६) दरवाजा। (१७) गुरु की कृपा। (१८) सूझ। (१९) साधन करना। (२०) प्यारे। (२१) माँगने को।

घरि बैठिआ हरि पाए सदा चितु लाए सहजे सति सुभाए[१] ।
गुर की सेव खरी[२] सुखाली[३] जिसनो[४] आपि कराए ॥
नामो बीजे[५] नामो जंमै[६] नामो मंनि बसाए[७]।
नानक सचि नाम बडिआई पूरबि लिखिआ पाए ॥

॥ राग सोरठि वार महले ४ की सलोक महला ३॥ (शब्द ४)

घर ही महि अंम्रित भरपूर है मनुखा सादु[८] न पाइआ ।
जिउ कस्तूरी मिरगु न जाणै भ्रमदा[९] भरम भुलाइआ ॥
अंम्रितु तजि विखु संग्रहै करतै[१०] आपि खुआइआ ।
गुरमुखि विरले सोझी[११] पाई तिना अंदरि ब्रह्मु दिखाइआ ॥
तनु मनु सीतलु होइआ रसना हरि सादु आइआ ।
शबदे ही नाऊ ऊपजै शबद मेलि मिलाइआ ॥
बिनु शबदै सभु जगु बउराना बिरथा जनमु गवाइआ ।
अंम्रित एको शबदु है नानक गुरमुखि पाइआ ॥२॥

॥ रामकली, महला २, अनंदु॥ (शब्द ५)

बाजे पंच शबद तितु घरि सभागै।
घरि सभागै शबद बाजे कला[१२] जितु घरि धारिआ ।
पंच दूत तुधु[१३] वसि कीते कालु कंटकु मारिआ ॥
धुरि[१४] करमि पाइआ तुधु जिन कउ सि नामि हरि कै लागै।
कहै नानकु तह सुखु होआ तितु[१५] घरि अनहद बाजे ॥

॥ रामकली, महला ३, अनंदु ॥ (शब्द ६)

भगता की चाल निराली।
चाल निराली भगताह केरी विखम मारगि चलणा ।
लबु लोभु अहंकारु तजि त्रिसना बहुतु नाहीं बोलणा ॥
खंनिअहु[१६] तीखी बालहु नीकी[१७] एतु मारगि जाणा ॥

(१) सोहाया । (२) अच्छी । (३) सुखदायी । (४) जिसकी (५) बीज से । (६) पैदा होता है । (७) स्थिर किए । (८) स्वाद। (९) भरमता। (१०) प्रभु । (११) सूझ । (१२) शक्ति, तेज । १३) उसने, वह । (१४) आदि । (१५) उसके । (१६) तलवार से भी । (१७) महीन ।

गुर परसादी जिनि आपु तजिआ हरि वासना समाणी ॥
कहै नानक चाल भगताह केरी जुगहु जुग निराली ॥

॥ मारु, महला ३ ॥ (शब्द ७)

निहचल एक सदा सचु सोई, पूरे गुर ते सोझी होई।
हरि रसि भीने सदा धिआइनि गुरमति सीलु[१] संनाहा[२] हे ॥१॥
अंदरि रंगु सदा सचिआरा[३], गुरु कै शबदि हरि नामि पिआरा।
नउ निधि नामु वसिआ घट अंतरि छोड़िआ माइआ का लाहा[४] हे ॥२॥
रईअति राजे दुरमति दोई, बिनु सतिगुर सेवे एकु न होई।
एकु धिआइनि सदा सुख पाइनि निहचलु राज तिनाहा हे ॥३॥
आवणु जाणा रखे न कोई, जंमणु मरणु तिसै ते होई।
गुरमुखि साचा सदा धिआवहु गति मुकुति तिसै तै पाहा[५] हे ॥४॥
सचु संजमु सतिगुरू दुआरै, हउमै क्रोधु सबदि निवारै।
सतिगुरु सेवि सदा सुख पाइअै सीलु संतोख सभु ताहा हे ॥५॥
हउमैं मोह उपजै संसारा सभु जगु विनसै नामु विसारा।
बिनु सतिगुर सेवे नामु न पाइअै नामु सचा जगि लाहा हे ॥६॥
सचा अमरु सबदि सुहाइआ, पंच शबद मिलि बाजा वाइआ।
सदा कारज सचि नामि सुहेला[६] बिनु शबदै कारजु केहा हे ॥७॥
खिन महि हसै खिन महि रोवै, दूजी दुरमति कारजु न होवै।
संजोगु विजोगु करतैं लिखि पाए किरतु न चलै चलाहा हे ॥८॥
जीवन मुकति गुरु शबदु कमाए, हरि सिउ सदही रहै समाए।
गुर किरपा ते मिलै बडिआई, हउमै रोगु न ताहा हे ॥९॥
रस[७] कस[८] खाए पिंडु बधाए[९], भेख[१०] करै गुर शबदु न कमाए।
अंतरि रोग महा दुखु भारी, बिसटा माहि समाहा[११] हे ॥१०॥
वेद पड़हि पड़ि बादु बखाणहि। घट महि ब्रह्म तिसु शबदि न पछाणहि।
गुरमुख होवै सु ततु बिलोवै[१२]। रसना हरि रसु ताहा हे ॥११॥
घरि वथु[१३] छोड़हि बाहरि धावहि। मनमुख अन्धे सादु न पावहि।
अन रस राती रसना फीकी बोले हरि रसु मूलि न ताहा हे ॥१२॥

(१) उत्तम स्वभाव। (२) सनाह, कवच। (३) सत्य, सच्चा। (४) लाभ। (५) प्राप्त किया। (६) अच्छा। (७, ८) स्वादिष्ट भोजन। (९) बढ़ाए। (१०) भेष, वेश। (११) समाए। (१२) मथै। (१३) वस्तु।

मनमुख देही भरमु भतारो[१]। दुरमति मरै नित होइ खुआरो[२]॥
कामि क्रोधि मनु दूजै लाइआ। सुपने सुखु न ताहा हे ॥१३॥
कंचन देही सबदु भतारो। अन दिनु भोग भोगे हरि सिउ पिआरो॥
महला[३] अंदरि गैर[४] महलु पाए भाणा[५] बूझि समाहा[६] हे ॥१४॥
आपे देवै देवणहारा। तिसु आगे नहीं किसै का चारा॥
आपे बखसे सबदि मिलाए तिसदा शबदु अथाहा हे ॥१५॥
जीउ पिंडु सभु है तिसु केरा। साचा साहिब ठाकुर मेरा॥
नानक गुरुवाणी हरि पाइआ हरि जपु जापि समाहा हे ॥१६॥५॥१४॥

॥ सलोक, महला ३ ॥ (शब्द ८)

जीआ अंदरि जीउ शबदु है जितु महि मेलावा होई।
बिनु शबदै जगि आनेरु[७] है शबदै परगटु होई ॥
पंडति मौन पड़ि पड़ि थके भेख थके तनु धोइ।
बिनु शबदै किनै न पाइउ दुखिए चले रोइ॥
नानक नदरी पाइए करमि परापति होइ ॥२॥

॥ पउड़ी, महला ४ ॥ (शब्द १)

पंचे शबद बजे मति गुरमति बड़ भागी अनहदु बजिआ।
आनंद मूलु रामु सभु देखिआ गुर शबदी गोबिंदु गजिआ[८]॥
आदि जुगादि वेसु हरि एको मति गुरमति हरि प्रभ भजिआ।
हरि देबहु दानु दइयाल प्रभ जन राखहु हरि प्रभ लजिआ॥
सभि धनु कहहु गुरु सतिगुरू गुरु सतिगुरू।
जितु मिलि हरि पड़दा कजिआ[९] ॥७॥

॥ रागु कलिआन, महला ४, असट पदिआ ॥ (शब्द २)

१ ॐ सतिगुर प्रसादि

रामा रम[१०] रामो सुनि मनु भीजै ॥
हरि हरि नामु अंम्रितु रसु मीठा गुरमति सहिजे पीजै ॥१॥रहाउ॥
कासट[११] महि जिउ है बैसंतरु[१२] मथि[१३] संजमि[१४] काढ़ि कढ़ीजै।

(१) भरा हुआ। (२) लज्जित। (३) मंदिर। (४) दूसरा। (५) बरतन। (६) समाया। (७) अँधेरा। (८) गर्जना। (९) खुल गया। (१०) रमो। (११) काठ। (१२) अग्नि। (१३) रगड़कर। (१४) तरीके से, साधन कर।

राम नामु है जोति सबाई[१] ततु गुरमति काढ़ि लईजै ॥१॥
नउ दरवाजे नवै दर[२] फीके रसु अंम्रितु दसवै चुईजै ॥
क्रिपा क्रिपा किरपा करि पिआरे गुर शबदी हरि रसु पीजै ॥२॥
काइआ नगरु नगरु है नीको बिचि सउदा हरि रसु कीजै ॥
रतन लाल अमोल अमोलक सतिगुर सेवा लीजै ॥३॥
सतिगुर अगमु अगमु है ठाकुर भरि सागर[३] भगति करीजै ॥
क्रिपा क्रिपा करि दीन हम सारिंग[४] इक बूँद नामु मुख दीजै ॥४॥
लालनु[५] लालु लालु है रंगनु[६] मनु रंगन कउ गुर दीजै ॥
राम राम राम रंगि राते रस रसिक गटक[७] नित पीजै ॥५॥
बसुधा सपत दीप है सागर कढ़ि कंचनु काढ़ि धरीजै ॥
मेरे ठाकुर के जन इनहु न बांछहि[८] हरि मांगहि हरि रसु दीजै ॥६॥
साकत नर प्रानी सद भूखे नित भूखन[९] भूख करीजै ॥
धावतु धाइ धावहि प्रीति माइआ लख कोसन[१०] कउ बिथिदीजै ॥७॥
हरि हरि हरि हरि हरिजन ऊतम किआ उपमा तिन्ह दीजै ॥
राम नामु तुलि अउरु न उपमा जन नानक क्रिपा करीजै ॥८॥

॥ राग गुजरी वार सलोक, महला ५ ॥ (शब्द १)

१ ॐ सतिगुर प्रसादि

अंतरि गुरु आराधणा जिह्वा जपि गुर नाउ ॥
नेत्री सतिगुरु पेखणा स्त्रवणी सुनणा गुर नाउ ॥
सतिगुर सेती रतिआ दरगह पाइअै ठाउ ॥
कहु नानक किरपा करे जिसनो एह वथु[११] देइ ॥
जग महि ऊतम काढ़ीअहि[१२] बिरले केई केइ ॥१॥

॥ सलोक, महला ५ ॥ (शब्द २)

नानक सतिगुरु भेटिअै पूरी होवै जुगती ।
हसं दिआ खेलं दिआ पैनं दिआ खावं दिआ बिचे होवै मुकती ॥२॥

(१) सब में । (२) दरवाजा । (३) समुद्र भर के अर्थात् बहुत-सी । (४) पपीहा । (५) लालरंग-प्रकाश । (६) रंग । (७) गटगट करके, बड़े-बड़े घोंट भरकर । (८) चाहते । (९) भूख-ही-भूख । (१०) कोसों । (११) चीज । (१२) निकालना ।

॥ राग गोंड, महला ५ ॥ (शब्द ३)

गुर की मूरति मन महि धिआनु । गुर कै शबदि मंत्र मनु मानु ॥
गुरु के चरन रिदै[१] लै धारउ । गुरु पारब्रह्म सदा नमसकारउ ॥१॥
मत को[२] भरमि भूलै संसारि । गुर बिनु कोई न उतरसि पारि ॥१॥रहाउ॥
भूलै कउ गुरि मारगि पाइआ । अवरि तिआगि हरि भगति लाइआ ॥
जनम मरण की त्रास मिटाई । गुर पूरे की बेअंत बड़ाई ॥२॥
गुर प्रसादि ऊरध[३] कमल विगास । अंधकार महि भइआ प्रगास ॥
जिनि किआ सो गुरते जानिआ। गुर किरपा ते मुगध[४]मनु मानिआ ॥३॥
गुरु करता गुरु करणै जोगु । गुरु परमेसुर है भी[५] होगु[६] ॥
कहु नानक प्रभि इहै जनाई । बिनु गुरु मुकति न पाइअै भाई॥४॥५॥७॥

॥ राग रामकली, महला ५ ॥ (शब्द ४)

पंच शबद तह पूरन नाद । अनहद बाजे अचरज बिसमाद[७] ॥
केल[८] करहि संत हरि लोग । पार ब्रह्म पूरन निरजोग[९] ॥
सूख सहज आनंद भवन । साध संगि बैस गुण गावह तह रोग सोग
नहिं जनम मरन ॥१॥रहाउ॥
ऊहा[१०] सिमरहि केवल नामु । बिरले पावहिं उहू विस्राम ॥
भोजन भाउ कीरतन आधारु । निहचल आसन बेसुमारु ॥२॥
डिगि न डोलै कतहु न धावै । गुर प्रसादि को इहु महलु पावै ॥
भ्रम भै मोह न माइआ जाल । सुंन समाधि प्रभू किरपाल ॥३॥
ता का अंतु न पारावारु । आपे गुपतु आप पासारु ॥
जाके अंतरि हरि हरि सुआदु। कहनु न जाइ नानक बिसमादु । ॥४॥९॥२०॥

॥ राग माझ, महला ५ ॥ (शब्द ५)

सब किछु घर महि बाहरि नाहीं । बाहरि टोलै[११] सो भरमि भुलाहीं ॥
गुर परसादी जिनि अंतरि पाइआ । सो अंतरि बाहरि सुहेला[१२] जीउ ॥१॥
झिमि झिमि बरसै अंम्रित धारा । मनु पीवै सुनि शबदु विचारा ॥
अनद विनोद करे दिन राती । सदा सदा हरि केला[१३] जीउ ॥२॥

(१) हृदय । (२) कोई । (३) ऊपर । (४) मोह प्राप्त, मुग्ध । (५) है भी । (६) होगा भी । (७) आश्चर्य । (८) आनंद । (९) कैवल्य । (१०) वह । (११) टटोले । (१२) सुखी । (१३) आनंद ।

जनम जनम का बिछुड़िआ मिलिआ। साध क्रिपा ते सूका[1] हरिआ ॥
सुमति पाए नामु धिआए। गुरमुखि होए मेला जीउ ॥३॥
जल तरंग जिउ जलहि समाइआ। तिउ जोती संगि जोति मिलाइआ ॥
कहु नानक भ्रम कटे किवाड़ा बहुरि न होइअै जउला[2] जीउ। ।४॥१९॥२६॥

॥ धनासरी, महला ९ ॥ (शब्द १)

१ ॐ सतिगुर प्रसादि

काहे रे वन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई ॥१॥रहाउ॥
पुहप मधि जिउ बासु वसतु है मुकर माहिं जैसे छाई ॥
तैसे ही हरि बसे निरंतरि घटि ही खोजहु भाई ॥१॥
बाहरि भीतरि एको जानहु इहु गुर गिआन बताई ॥
जन नानक बिनु आपा चीनै मिटै न भ्रम की काई ॥२॥

॥ जैतसरी, महला ९ ॥ (शब्द २)

१ ॐ सतिगुर प्रसादि।

भूलिउ मनु माइआ उरझइउ[3]।
जो जो करम कीउ लालच लगि तिह तिह आपु बंधाइउ ॥रहाउ॥
समझ न परी बिखै रस रचिउ जसु हरि को बिसराइउ ॥
संगि सुआमि सो जानिउ नाहिन वनु खोजन कउ धाइउ ॥१॥
रतनु राम घट ही के भीतरि ताको गिआनु न पाइउ ॥
जन नानक भगवन्त भजन बिनु बिरथा जनमु गवाइउ ॥२॥

१ ॐ वाह गुरुजी की फते (श्री मुख वाक
पातिशाही १० अकाल ऊसतत बिचों)
त्व प्रसादि। चउपई

प्रणवो आदि ऐकंकारा । जल थल महीअल कीउं पसारा ॥
आदि पुरुष अवगत अविनासी । लोक चत्रुदस जोति प्रकासी ॥१॥
हसत कीट के बीच समाना । राव रंक जिह इक सर जाना ॥
अद्वै अलख पुरुष अविगामी । सभ घट घट के अंतरजामी ॥२॥
अलख रूप अछै अन भेषा । राग रंग जिह रूप न रेखा ॥
वरन चिहन सभहूँ ते निआरा । आदि पुरुष अद्वै अविकारा ॥३॥

(१) सूखा हुआ। (२) बंधन। (३) ओझरा गया।

वरन चिहन जिह जात न पाता । सँत्र मित्र जिह तात न माता ॥
सभते दूर सभन ते नेरा । जल थल महीअल जाह बसेरा ॥४॥
अनहद रूप अनाहद बानी । चरन सरन जिह बसत भवानी ॥
ब्रह्मा बिसन अन्तु नहिं पाइउ । नेत नेत मुख चार बताइउ ॥५॥
कोट इन्द्र उपइन्द्र बनाए । ब्रह्मा इन्द्र उपाइ खपाए ॥
लोक चत्रदस खेल रचाइउ । बहुर आपही बीच मिलाइउ ॥६॥
सवैया-काहू लै पाहन पूज धरो सिर काहू लै लिंगु गरे लटकाइउ ॥
काहू लखिऊँ हरि अवाची दिसा महि काहू पछाह को शीश निवाइउ ॥
कोउ बुतान कौ पूजत है पसु कोउ मृतान कउ पूजन धाइउ ॥
कूर क्रिया उरझिउ सबही जगु श्री भगवान को भेद न पाइउ ॥१०॥

॥ रामकली, पातशाही १० ॥

रे मन ऐसो करि संनिआसा ।
वन से सदन सभै करि समझहु मन ही माहिं उदासा ।।रहाउ॥
जत की जटा जोग को मज्जन नेम के नखन बढ़ाउ ॥
गिआन गुरू आतम उपदेसहु नाम विभूत लगाउ ।।१॥
अलप अहार सुलप सी निद्रा दया छिमा तन प्रीति ॥
सील संतोष सदा निरवाहबो ह्वैवो त्रिगुन अतीत ।।२॥
काम क्रोध हंकार लोभ हठ मोह न मन सिऊ लयावै ॥
तबही आतम तत को दरसै परम पुरुष कह पावै ।।३॥

॥ रामकली, पातशाही १०॥

रे मन इहि विधि जोग कमाउ ।
सिंगी साँच अकपट कंठला धिआन विभूत चढ़ाउ ।।रहाउ ॥
ताती गहु आतम बसि कर की भिँछा नाम अधारं ।
बाजे परम तार तत हरि को उपजै राग रसारं ।।१॥
उघटै तान तरंग रंगि अति गिआन गीत बंधान ।।
चकि चकि रहे देव दानव मुनि छकि छकि व्योम विवान ॥२॥
आतम उपदेश भेष संयम को जाप सु अजपा जापै ।
सदा रहै कंचन सी काया काल न कबहूँ व्यापै ।।३॥

-- :: ०:: --

हैदराबाद सिन्ध निवासी स्वर्गीय सेठ चिमनदास रूपचंदजी के सुपुत्र भाई गोविन्दराम चिमनदासजी ने अपने पूज्य पिता की पाठ्य पुस्तक

को सर्व उदासीन साधु (नानक शाही बाबा श्रीचन्दजी के अनुयायी) मात्र के पाठ करने के लिए परमार्थ रूप में छपवाकर दान दिया, उसी पुस्तक में से संकलित ।

अथ बीज मंत्रा श्री गुरु नानकजी का लिख्यते--

ओअंकार सबदि ओअंकार बानी । ओअंकार ने गति ओअंकार की जानी। सबदे धरती सबदे आकास । सबदे सबदि भया प्रकास । नीचे धरती ऊपर आकास । ओअं सोहं आपे आप । आप जपाये सोहं का जाप । ओअं अमर पिण्ड अखण्ड काइआ । गिआन सरूप सतिगुरु सुनाइआ । मरै न पिण्ड छीजै न काइआ । सतिगुरु का सबदि उलट हिरदै में समाइआ । पुहपव अलीलं बार बार जाउ असीलं अकोकं अथेबं बीज मंत्र अनंत गुटका श्री नानक देवजी श्रीचंद को सबद करम कर सुनाइआ ।

ॐ मात्राा बाबा श्रीचन्दजी की

कहो जी बाले किसने मूँड़ा, किसने मुँड़ाया। किसका भेजा नगरी आया ॥
सतगुर ने मूँड़ा, लेख मुँड़ाया । गुरु का भेजा नगरी आया ॥
चेतो नगरी तारो गाम । अलख पुरुष का सुमिरो नाम ॥
गुरु अविनाशी खेल रचाया । अगम निगम का पंथ बताया ॥
ज्ञान की गोदड़ी, छेमा की टोपी। जत का आड़बंद, सील लंगोटी ॥
अकाल खिंथा निरास झोली । जुगत का टोप गुरमुखी बोली ॥
धरम का चोला सत की सेली। मरजादा मेखली ले गले में मेली ॥
ध्यान का बटूआँ निरत का सूईदान। ब्रह्म अंचला लै पहिरे सुजान ॥
बहुरंग मोरछड़ निरलेप बिसटी। निरभो जंग डोरा ना को द्विसटी ॥
जाप जंगोटा सिफट उड़ानी । सिंगी सबद अनाहद गुरु बानी ॥
सरम किया मुंद्रा सिव विभूता। हरि भगति म्रिगानी ले पहिरे गुर पूता ॥
संतोष सूत विवेक धागे । अनेक टली तहाँ पर लागे ॥
सुरति की सूई ले सतिगुरु सीवे । जो राखे सो निरभौ थीवे ॥
सयाह सुपैद जरद सुरखाई । जो लै पहिरे सो गुर भाई ॥
त्रैगुण चकमक अगन मत पाई । दुख सुख धूनी देह जलाई ॥
संयम क्रिपाली सोभाधारी । चरण कवल महि सुरत हमारी ॥
भाउ भोजन अंम्रित करि पाइआ । भला बुरा मन नाहीं बसाइआ ॥
पात्र विचार फरुआ बहु गुणा । कर मंडल तूंबा किसती घणा ॥
अंम्रित पियाला उदक मनि दइआ । जो पीवै सो सीतलु भइआ ॥
इड़ा में आवे पिंगला में धिआवै । सुखमना के घरि सहिज समावै ॥

निरास मठ निरन्तर ध्यान । निरभै नगरी गुर दीपक गिआन ॥
असथिर रिधि अमर पद डंडा । धीरज फहुड़ी तप करि खंडा ॥
बस करि आसा सम द्रिसट चौगान। हरष सोग मन महिं नहिं आन ॥
सहिज विरागी करे विराग । माया मोहणी सगल तिआग ॥
नाम की पाषर पौन का घोरा । निहकरम जीन तत का जोड़ा ॥
निरगुण ढाल गुर सबद कमान । अकल संयोग प्रीती के बान ॥
अकल की बरछी गुण की कटारी । मन के मार करो असवारी ॥
विषम गढ़ तोड़ निरभौ घर आइआ । नउवत संख नगारा वाइआ ॥
गुर अविनासी सूछम वेद । निरवाण विद्या अपार भेद ॥
अखण्ड जनेऊ निरमल धोती । सोहं जाप सच माल परोती ॥
सिषिया गुर मंत्र गाइत्री हर नाम । निसचल आसण कर विसराम ॥
तिलक सम्पूरण तरपणि जस । पूजा प्रेम भोग महा रस ॥
निरवैर संध्या द्रसन छापा । वाद विवाद मिटावे आपा ॥
प्रीत पितंबर मन मृगछाला । चीत चितंबर रुणझुण माला ॥
बुध बाघंवर कुला पुसतीन । षउस षड़ावा ऐ मति लीन ॥
तोड़ा चूड़ा अवर जंजीर । ले पहिरे नानक साहि फकीर ॥
जटा जूट मुकत सिर होइ । मुकता फिरे बंधन नहिं कोइ ॥
नानक पूता श्रीचंद बोले । जुगत पछाणे तत विरोले ॥
ऐसी मात्र लै पहिरे कोइ । आवा गमन मिटावै सोइ ॥

दादू साहब की वाणी

॥ साखी, गुरुदेव का अंग ॥

साचा सतगुर जे मिलै, सब साज सँवारै ।
दादू नाव चढ़ाइ करि, लै पार उतारै ।।१।।
सतगुर पसु माणस करै, माणस थैं सिध सोइ ।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होइ ।।२।।
दादू काढ़ै काल मुख, अंधे लोचन देइ ।
दादू ऐसा गुर मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ ।।३।।
सतगुरु मिलै तो पाइये, भग्ति मुक्ति भण्डार ।
दादू सहजै देखिये, साहिब का दीदार ।।४।।

साईं सतगुर सेविए, भग्ति मुक्ति फल होइ।
अमर अभय पद पाइये, काल न लागै कोइ ।।५।।

॥ सुमिरन ॥

दादू सिरजनहार के, केते नाँव अनन्त।
चित्त आवै सो लीजिये, यौं साधू सुमिरै सन्त ।।१।।

॥ परचा को अंग ॥

निराधार निज देखिये, नैनहु लागा बन्द।
तहँ मन खेलै पीव सौं, दादू सदा अनंद ।।१।।
नैनहुँ आगें देखिये, आतम अन्तर सोइ।
तेज पुंज सब भरि रह्या, झिलमिल-झिलमिल होइ ।।२।।
अनहद बाजे बाजिये, अमरापुरी निवास।
जोति सरूपी जगमगै, कोइ निरखै निज दास ।।३।।
सबद अनाहद हम सुन्या, नख सिख सकल शरीर।
सब घटि हरि हरि होत है, सहजै ही मन थीर ।।४।।
सबदैं सबद समाइले, पर आतम सों प्राण।
यहु मन मन सौं बाँधि ले, चित्तैं चित्त सुजाण ।।५।।
दृष्टै दृष्टि समाइ ले, सुरतैं सुरत समाइ।
समझैं समझि समाइ ले, लै सों लै ले लाइ ।।६।।

॥ लय को अंग ॥

जोग समाधि सुख सुरति सौं, सहजै सहजै आव।
मुक्ता द्वारा महल का, इहै भगति का भाव ।।१।।
सहज सुन्नि मन राखिये, इन दुन्यूँ के माहिं।
लय समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नाहिं ।।२।।
सुन्नहिं मारग आइया, सुन्नहिं मारग जाइ।
चेतन पैंड़ा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ ।।३।।
सुरत समाइ सनमुख रहै, जुगि जुगि जन पूरा।
दादू प्यासा प्रेम का, रस पीवै सूरा ।।४।।
दादू उलटि अपूठा[१] आप में, अंतर सोधि सुजाण।
सो ढिग तेरी बाबरे, तजि बाहिर की बाण[२] ।।५।।
सुरति अपूठी फेरि कर, आतम माहैं आण।
लागि रहै गुरुदेव सौं, दादू सोइ सयाण ।।६।।

(१) पीछे। (२) आदत।

सुरति सदा सनमुख रहै, जहाँ तहाँ लैलीन।
सहज रूप सुमिरण करै, निहकर्मी दादू दीन ।।७।।
सुरति सदा स्यावित रहै, तिनके मोटे भाग।
दादू पीवै राम रस, रहै निरंजन लाग ।।८।।

॥ मन को अंग ॥

सब काहू को होत है, तन मन पसरै जाइ।
ऐसा कोई एक है, उल्टा माहिं समाइ ।।१।।
क्यों करि उल्टा आणिये, पसरि गया मन फेरि।
दादू डोरी सहज की, यौं आणै घेरि घेरि ।।२।।
साध सबद सौं मिलि रहै, मन राखै बिलमाइ।
साध सबद बिन क्यौं रहै, तबहीं बीखरि जाइ ।।३।।
तन में मन आवै नहीं, निसदिन बाहरि जाइ।
दादू मेरा जिव दुखी, रहै नहीं ल्यौ लाइ ।।४।।
कोटि जतन करि करि मुए,यहु मन दह दिसि जाइ।
राम नाम रोक्या रहै, नाहीं आन उपाइ ।।५।।
मनहीं सन्मुख नूर है, मन हीं सन्मुख तेज।
मनहीं सन्मुख जोति है, मन हीं सन्मुख सेज ।।६।।
मनहीं सौं मन थिर भया, मन ही सौं मन लाइ।
मनहीं सौं मन मिलि रह्या, दादू अनत न जाइ ।।७।।

॥ शब्द को अंग ॥

सबदैं बंध्या सब रहै, सबदैं सबही जाइ।
सबदैं ही सब ऊपजै, सबदैं सबै समाइ ।।१।।
सबदैं ही सूषिम भया, सबदैं सहज समान।
सबदैं ही निर्गुण मिलै, सबदैं निरमल ज्ञान ।।२।।
एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
आगैं पीछैं तौ करै, जे बल हीणा होइ ।।३।।
जंत्र बजाया साजि करि, कारीगर करतार।
पंचौं कारज नाद है, दादू बोलणहार ।।४।।

पंच ऊपना[१] सबद थैं, सबद पंच सौं होइ।
साईं मेरे सब किया, बूझै विरला कोइ ।।५।।
सबद जरै सो मिलि रहै, एकै रस पूरा।
काइर भाजे जीव ले, पग माँड़े सूरा ।।६।।

॥ कस्तूरिया मृग को अंग ॥

सब घट में गोविन्द है, संगि रहै हरि पास ।
कस्तूरी मृग में बसै, सूँघत डोले घास ।।१।।
केई दौड़े द्वारिका, केई काशी जाहिं।
केई मथुरा कौं चलै, साहब घटही माहिं ।।२।।

॥ सजीवन को अंग ॥

जीवत छूटै देह गुण, जीवत मुक्ता होइ।
जीवत काटै कर्म सब, मुकति कहावै सोइ ।।१।।
जीवत जगपति कौं मिलै, जीवत आतम राम।
जीवत दरसन देखिये, दादू मन विसराम ।।२।।
जीवत मेला ना भया, जीवत परस न होइ।
जीवत जगपति ना मिले, दादू बूड़े सोइ ।।३।।
मूआँ पीछैं मुकति बतावैं, मूआँ पीछैं मेला।
मूआँ पीछैं अमर अभै पद, दादू भूले गहिला ।।४।।
जे जन राखै रामजी, अपणौ अंग लगाइ।
दादू कुछ व्यापे नहिं, जे कोटि काल झखि जाइ ।।५।।

॥ शब्द १ ॥

काहे रे नर करौ डफाँड़[२]। अंति काल घर गोर[३] समाण ।टेक॥
पहलै बलवंत गये बिलाइ । ब्रह्मा आदि महेसुर जाइ ।।१॥
आगै होते मोटे मीर[४] । गये छाड़ि पैगम्बर पीर ।।२॥
काची देह कहा गरवाना । जे उपज्या सो सबै बिलाना ।।३॥
दादू अमर उपावणहारा । आपै आप रहै करतारा ।।४॥

॥ शब्द २ ॥

भाई रे घर ही में घर पाया ।
सहजि समाइ रह्यौ ता माहीं, सतगुर खोज बताया ।टेक॥

(१) उत्पन्न हुआ। (२) दम्भ। (३) कब्र। (४) अमीर।

ता घर काज सबै फिर आया, आपै आप लखाया।
खोलि कपाट महल के दीन्हे, थिर अस्थान दिखाया ।।१।।
भय और भेद भरम सब भागा, साच सोई मन लाया।
प्यंड परे जहाँ जिव जावै, ता में सहज समाया ।।२।।
निहचल सदा चलै नहि कबहूँ, देख्या सब में सोई।
ताही सूँ मेरा मन लागा, और न दूजा कोई ।।३।।
आदि अंत सोई घर पाया, इब मन अनत न जाई।
दादू एक रंगै रंग लागा, ता में रह्या समाई ।।४।।

॥ शब्द ३ ॥

नीके राम कहतु है बपुरा।
घर माहैं घर निर्मल राखै, पंचौं धोवै काया कपरा ।।टेक।।
सहज समरपण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट संयम सपरा।
सुन्दरि सन्मुख जागण लागी, तहँ मोहन मेरा मन पकरा ।।१।।
बिन रसना मोहन गुण गावै, नाना वाणी अनभै अपरा।
दादू अनहद ऐसैं कहिये, भगति तत्त यहु मारग सकरा ।।२।।

॥ शब्द ४ ॥

जोगिया बैरागी बाबा । रहै अकेला उनमनि[१] लागा ।टेक॥
आतमा जोगी धीरज कंथा । निहचल आसण आगम पंथा ।।१॥
सहजैं मुद्रा अलख अधारी । अनहद सिंगीं रहणि हमारी ।।२॥
काया बनखंड पाँचौं चेला । ज्ञान गुफा में रहै अकेला ।।३॥
दादू दरसन कारनि जागै । निरंजन नगरी भिष्या माँगै ।।४॥

॥ शब्द ५ ॥

ये हौं बूझ रही पिव जैसा, तैसा कोइ न कहै रे ।
अगम अगाध अपार अगोचर, सुधि बुधि कोइ न लहै रे।।टेक॥
वारपार कोइ अंत न पावै, आदि अंत मधि नाहीं रे ।
खरे सयाने भये दिवाने, कैसा कहाँ रहावै रे ।।१।।
ब्रह्मा बिसुन महेसुर बूझै, केता कोइ बतावै रे ।
सेख मसाइख पीर पगंबर, है कोइ अगह गहै रे ।।२।।

(१) मनोलय, मन का संकल्प-विकल्पहीन होना।

अंबर धरती सूर ससि बूझै, बाव बरण सब सोधै रे ।
दादू चक्रित है हैराना, को है करम दहै रे ॥३॥

॥ शब्द ॥

नाँउ रे नाँउ रे , सकल सिरोमणि नाँउ रे ,
मैं बलिहारी जाँउ रे ।टेक॥
दूतर तारै पार उतारै, नरक निवारै नाँउ रे ॥१॥
तारणहारा भौजल पारा, निर्मल सारा नाँउ रे ॥२॥
नूर दिखावै तेज मिलावै, जोति जगावै नाँउ रे ॥३॥
सब सुख दाता अमृत राता, दादू माता नाँउ रे ॥४॥

॥ शब्द ७ ॥

मेरा मनके मन सौं मन लागा । सबद के सबद सौं नाद बागा ।टेक॥
स्रवण के स्रवण सुणि सुख पाया। नैन के नैन सौं निरखि राया ॥१॥
प्राण के प्राण सौं खेलि प्राणी । मुख के मुख सौं बोलि वाणी ॥२॥
जीव के जीव सौं रंगि राता । चित्त के चित्त सौं प्रेम माता ॥३॥
सीस के सीस सौं सीस मेरा । देखिरै दादूवा भाग तेरा ॥४॥

॥ शब्द ८ ॥

आरती जग जीवन तेरी । तेरे चरन कँवल पर वारी फेरी ।टेक॥
चित चाँवरी हेत हरि ढारै । दीपक ज्ञान जोति विचारै ॥१॥
घंटा शब्द अनाहद बाजै । आनन्द आरति गगना गाजै ॥२॥
धूप ध्यान हरि सेती कीजै । पुहुप प्रीति हरि भाँवरि लीजै ॥३॥
सेवा सार आतमा पूजा । देव निरंजन और न दूजा ॥४॥
भाव भगति सौं आरति कीजै । इहि विधि दादू जुग जुग जीजै ॥५॥

॥ शब्द ९ ॥

[यह शब्द 'संत-संग्रह, भाग २' (राधास्वामी मत से प्रकाशित) में और घटरामायण में भी है , परन्तु वेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित दादू दयालजी की वाणी में नहीं है ।]

दादू जानै न कोई, संतन की गति गोई ।टेक॥
अविगत अन्त अन्त अन्तर पट, अगम अगाध अगोई ।
सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा, अगुन सगुन नहिं दोई ॥१॥

अंड न पिंड खंड ब्रह्मण्डा, सूरत सिंध समोई ।
निराकार आकार न जोती, पूरन ब्रह्म न होई ॥२॥
इनके पार सार सोइ पइहैं, मन तन गति पति खोई ।
दादू दीन लीन चरनन चित, मैं उनकी सरनोई ॥३॥

संत चरणदासजी की वाणी

(भाग १)

॥ सतगुरु-महिमा, दोहा ॥

पितु सूँ माता सौ गुना, सुत को राखै प्यार ।
मन सेती सेवन करै, तन सूँ डाँट अरु गार ॥१॥
माता सूँ हरि सौ गुना, जिनसे सौ गुरुदेव ।
प्यार करैं औगुन हरैं, चरणदास शुकदेव ॥२॥

॥ अष्टपदी १ ॥

गुरु बिन और न जान मान मेरो कहो ।
चरणदास उपदेश विचारत ही रहो ॥१॥
वेद रूप गुरु होहिं कि कथा सुनावहीं ।
पंडित को धरि रूप कि अर्थ बतावहीं ॥२॥
कल्पवृच्छ गुरुदेव मनोरथ सब सरैं ।
कामधेन गुरुदेव छुधा तृस्ना हरैं ॥३॥
गुरु ही सेस महेस तोहि चेतन करैं ।
गुरु ब्रह्मा गुरु बिस्नु होय खाली भरैं ॥४॥
गंगा सम गुरु होय पाप सब धोवहीं ।
सूरज सम गुरु होय तिमिर हरि लेवहीं ॥५॥
गुरु ही को धरि ध्यान नाम गुरु को जपो ।
आपा दीजै भेंट पुजन गुरु ही थपो ॥६॥
समरथ श्री शुकदेव कहा महिमा करौं ।
अस्तुति कही न जाय सीस चरनन धरौं ॥७॥

दोहा– हरि सेवा कृत सौ बरस, गुरु सेवा पल चार ।
तौभी नहीं बराबरी, वेदन किया विचार ॥३॥

॥ विरह और प्रेम ॥

दोहा– प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान ।
प्रेम भक्ति बिन साधिवो, सबही थोथा ध्यान ॥१॥

[अनहद शब्द की महिमा और उसकी प्राप्ति का विलास]

॥ अष्टपदी ॥

अनहद शब्द अपार दूर सूँ दूर है ।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है ॥१॥
निःअच्छर है ताहि और निःकर्म है ।
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है ॥२॥
या के कीने ध्यान होत है ब्रह्म ही ।
धारै तेज अपार जाहिं सब भर्म ही ॥३॥
वा पटतर कोइ नाहिं जो यों ही जानिये ।
चाँद सूर्य्य अरु सृष्टि के माहिं पिछानिये ॥४॥
या को छोड़ै नाहिं सदा रहै लीन हीं ।
यही जो अनहद सार जान परवीन हीं ॥५॥
यों जिव आतम जानि जो अनहद लीन हो ।
सो परमातम होय जीवता जाय खो ॥६॥
ध्यानी को मन लीन होय अनहद सुनै ।
आप अनाहद होय वासना सब भुनै ॥७॥
पाप पुन्य छुटि जायँ दोऊ फल ना रहैं ।
होय परम कल्याण जो तिरगुण ना गहैं ॥८॥

॥ दोहा ॥

करते अनहद ध्यान के, ब्रह्म रूप हो जाय ।
चरणदास यों कहत हैं, बाधा सब मिट जाय ॥१॥
गगन मध्य जो कँवल है, बाजत अनहद तूर ।
दल हजार को कँवल है, पहुँचै गुरु मत सूर ॥२॥
गगन मण्डल के कँवल में, सतगुरु ध्यान निहार ।
चरणदास शुकदेव परस के, मेटै सकल विकार ॥३॥
अनहद के सम और ना, फल बरन्यो नहिं जाय ।
पटतर कुछ ना दे सकूँ, सब कुछ है वा माँय ॥४॥
पाँच थके आनंद बढ़े, अरु मन ही वश होय ।
शुकदेव कही चरणदास से, आप अपन जाय खोय ॥५॥
नाड़िन में सुषुम्ना बड़ी, सो अनहद की मात ।
कुंभक में केवल बड़ा, वह वाही का तात ॥६॥

मुद्रा बड़ी जो खेचरी, वा की बहिनी जान ।
अनहद सा बाजा नहीं, और न या सम ध्यान ॥७॥
सेवक से स्वामी होवे, सुने जो अनहद नाद ।
जीव ब्रह्म हो जाय हैं, पावे अपनी आद ॥८॥
खिड़की खोली नाद की, मिला ब्रह्म में जाय ।
दसो नाद के लाभ की, महिमा कही न जाय ॥९॥*

॥ छप्पय १ ॥

नौ नाड़ी को खैंचि पवन लै उर में दीजै ।
बज्जर ताला लाय द्वार नौ बंद करीजै ॥१॥
तीनों बंद लगाय अस्थिर अनहद आराधै ।
सुरत निरत का काम राह चल गगन अगाधै ॥२॥
सुन्न शिखर चढ़ि रहै, दृढ़ जहाँ आसन करै ।
भन चरनदास ताड़ी लगै, सो राम दरस कलिमल हरै ॥३॥

॥ छप्पय २ ॥

जहाँ चंद नहिं सूर जहाँ नहिं जगमग तारे ।
जहाँ नहीं त्रैदेव त्रिगुण माया नहिं लारे ॥१॥
जहाँ वेद नहिं भेद जहाँ नहिं जोग जज्ञ तप ।
जहाँ पवन नहिं धरनि अगिन नहिं जहाँ गगन अप ॥२॥
जहाँ रात नहिं दिवस है, पाप पुन्य नहिं व्यापई ।
आदि अंत अरु मध्य है, कहै चरणदास ब्रह्म आपही ॥३॥

॥ छप्पय ३ ॥

जहाँ आतम देव अभेव सेव कबहूँ न करावै ।
इच्छा दुई न द्रोह कर्म नहिं भ्रम सतावै ॥१॥
जहँ जाप ताप नहिं आप तहाँ नहिं रूप न रेखा ।
जासु जाति नहिं पाँति नारि नहिं पुरुष विसेखा ॥२॥
पारब्रह्म पूरन सदा, है अखण्ड नहिं खंडिता ।
भन चरणदास ताड़ी लगै, जो सुन्न शिखर में मंडिता ॥३॥

* ४ से ९ तक कल्याण योगांक, पृष्ठ २७१ से लिया गया है ।

॥ दोहा ॥

मन पवना वश कीजिये, ज्ञान युक्ति सों रोक।
सुरति बाँधि भीतर धसै, सूझै काया लोक ।।१०॥
चरणदास यहि विधि कही, चढ़िबे कूँ आकास।
सोध साधि साधन अगम, पूरन ब्रह्म विलास ।।११॥

॥ शब्द १ ॥

वह अच्छर कोइ बिरला पावै ।
जा अच्छर के लाग न बिन्दी, सतगुरु सैनहिं सैन बतावै ।।१।।
छर ही नाद वेद अरु पंडित, छर ज्ञानी अज्ञानी।
बांचन अच्छर छर ही जानो, छर ही चारो बानी ।।२।।
ब्रह्मा सेस महेसर छर ही, छर ही त्रैगुण माया।
छर ही सहित लिये औतारा, छर ह्वाँ तक जहँ माया ।।३।।
पाँचो मुद्रा जोग युक्ति छर, छर ही लगै समाधा।
आठो सिद्धि मुक्ति फल छर ही, छर ही तन मन साधा ।।४।।
रवि ससि तारा मंडल छर ही, छर ही धरनि अकासा।
छर ही नीर पवन अरु पावक, नर्क स्वर्ग छर वासा ।।५।।
छर ही उत्पति परलय छर ही, छर ही जाननहारा।
चरणदास शुकदेव बतावैं, निःअच्छर सब सूँ न्यारा ।।६।।

॥ शब्द २ ॥

जब से अनहद घोर सुनी।
इन्द्री थकित गलित मन हूआ, आशा सकल भुनी ।।१।।
घूमत नैन शिथिल भइ काया, अमल जो सुरत सनी।
रोम रोम आनन्द उपज करि, आलस सहज भनी ।।२।।
मतवारे ज्यों शब्द समाये, अंतर भींज कनी।
करम भरम के बन्धन छूटे, दुविधा विपति हनी ।।३।।
आपा विसरि जक्त कूँ विसरो, कित रहि पाँच जनी।
लोक भोग सुधि रही न कोई, भूले ज्ञानि गुनी ।।४।।
हो तहँ लीन चरण ही दासा, कहै शुकदेव मुनी।
ऐसा ध्यान भाग सूँ पैये, चढ़ि रहै शिखर अनी ।।५।।

(शब्द ३)

॥ राग वसंत ॥

वह वसंत रे वह वसंत ।।टेक।।
कोइ बिरला पावै वह वसंत। जाकी अद्भुत लीला रँग अनंत ॥१॥
जहँ झिलिमिलि झिलिमिलि है अपार। जहँ मोती बरसै निराधार ॥२॥
जहँ फूलन की लागी फुहार । जहँ अनहद बाजै बहु प्रकार ॥३॥
जहँ ताल जो बाजै बिना हाथ। जहँ शंख पखावज एक साथ ॥४॥
जहँ बिन पग घुघरू की टकोर। जहँ बिन मुख मुरली घनाघोर ॥५॥
जहँ अचरज बाजे और और। जहँ चंद सूर नहिं साँझ भोर ॥६॥
जहँ अमृत दरवै कामधेन। जहँ मान क्रोध नहिं मोह मैन ॥७॥
जहँ पाँचों इन्द्री एक रूप। जहँ थकित भये हैं मनुष भूप ॥८॥
शुकदेव बतावैं ऐसा खेल। चरणदास करो क्यूँ न वासूँ मेल ॥९॥

॥ दोहा ॥

दिन को हरि सुमिरन करो, रैनि जागि कर ध्यान।
भूख राखि भोजन करो, तजि सोवन को बान ।।१।।
चारि पहर नहिं जगि सकै, आधि रात सूँ जाग।
ध्यान करो जप हीं करो, भजन करन कूँ लाग ।।२।।
जो नहिं सरधा दोपहर, पिछले पहरे चेत।
उठ बैठो रटना रटो, प्रभु सूँ लावहु हेत ।।३।।
जागै ना पिछले पहर, करै न गुरु मत जाप।
मुँह फारे सोवत रहै, ताकूँ लागै पाप ।।४।।

॥ श्री ब्रह्मज्ञान-सागर से ॥

नाभि मध्य वाणी परा, हिय पश्यन्ती सुख्य।
कंठ मध्यमा जानिये, कहूँ वैखरी मुख्य ॥

सन्त चरणदासजी की शिष्या सहजोबाई की वाणी

॥ कुण्डलिया ॥

पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन को ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ॥
रहिये ना पड़ि सोय, बहुरि नहिं मनुखा देही।
आपुन ही कूँ खोज, मिलै जब राम सनेही ॥
हरि कूँ भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार।
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरेगो करतार ॥

॥ राग सोरठ ॥

भया जी हरि रस पी मतवारा ।
आठ पहर झूमत ही बीते, डारि दियो सब भारा ॥
इड़ा पिंगला ऊपर पहुँचे, सुखमन पाट उघारा ।
पीवन लगे सुधा रस जब ही, दुर्जन पड़ी बिडारा ॥
गंग जमुन बिच आसन मार्‌यो, चमक चमक चमकारा ।
भँवर गुफा में दृढ़ ह्वै बैठे, देख्यो अधिक उजारा ॥
चित स्थिर चंचल मन थाका, पाँचो का बल हारा ।
चरणदास किरपा सूँ सहजो, भरम करम भयो छारा ॥

॥ हरि तें गुरु की विशेषता ॥ (दोहा)

हरि किरपा जो होय तो, नाहीं होय तो नाहिँ ।
पै गुरु किरपा दया बिनु, सकल बुद्धि बहि जाहिँ ॥११॥

॥ चौपाई ॥

राम तजूँ पै गुरु न विसारूँ । गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं । गुरु ने आवागमन छुटाहीं ॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा । गुरु ने लई छुटाय अनाथा ॥
हरि ने कुटुँब जाल में गेरी । गुरु ने काटी ममता बेरी[१] ॥
हरि ने रोग भोग उरझायौ । गुरु जोगी कर सबै छुटायौ ॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायौ । गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥
हरि ने मो सूँ आप छिपायौ । गुरु दीपक दे ताहि दिखायौ ॥
फिर हरि बंधमुक्ति गति लाये । गुरु ने सबही भर्म मिटाये ॥
चरणदास पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ ॥१२॥

॥ गुरु-विमुख ॥ (दोहा)

गुरु आज्ञा मानै नहीं, गुरुहिं लगावै दोष।
गुरु निन्दक जग में दुखी, मुए न पावै मोष॥२४॥

॥ उपदेश गुरु-भक्ति का ॥ (दोहा)

सिष का माना सतगुरु, गुरु झिड़कै लख बार ।
सहजो द्वार न छोड़िये, यही धारना धार ॥३१॥
गुरु दरसन कर सहजिया, गुरु का कीजै ध्यान ।
गुरु की सेवा कीजिये, तजिये कुल अभिमान ॥३२॥

(१) बेड़ी ।

सतगुरु दाता सर्व के, तू किर्पिन कंगाल ।
गुरु महिमा जाने नहीं, फस्यौ मोह के जाल ॥३३॥
गुरु सूँ कछु न दुराइये, गुरु सूँ झूठ न बोल ।
बुरी भली खोटी खरी, गुरु आगे सब खोल ॥३४॥
सहजो गुरु रच्छा करैं, मेटैं सब दुख दुन्द ।
मन की जानैं सब गुरू, कहा छिपावै अन्ध ॥३५॥

॥ गुरु-महिमा ॥ (दोहा)

सहजो कारज जगत के, गुरु बिन पूरे नाहिँ ।
हरि तो गुरु बिन क्यों मिलैं, समझ देख मन माहिँ ॥३६॥
परमेसर सूँ गुरु बड़े, गावत वेद पुरान ।
सहजो हरि के मुक्ति है, गुरु के घर भगवान ॥३७॥
अष्टादस और चार षट, पढ़ि पढ़ि अर्थ कराहिँ ।
भेद न पावैं गुरु बिना, सहजो सब भर्माहिँ ॥३८॥
सहजो गुरु परसन्न ह्वै, मूँद लिये दोउ नैन ।
फिर मोसूँ ऐसे कही, समझ लेहि यह सैन ॥५१॥
चिउटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय ।
सहजो कूँ वा देश में, सतगुरु दई बसाय ॥५३॥
सहजो सिष ऐसा भला, जैसे माटी मोय ।
आपा सौंपि कुम्हार कूँ, जो कछु होय सो होय ॥५५॥
सहजो गुरु बहुतक फिरैं, ज्ञान ध्यान सुधि नाहिँ ।
तार सकै नहिँ एक कूँ, गहैं बहुत की बाहिँ ॥६१॥

॥ साध-लक्षण ॥

तीनों बंध लगाय के, अनहद सुनै टकोर ।
सहजो सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिँ भोर ॥३५॥
ना सुख विद्या के पढ़े, ना सुख वाद विवाद ।
साध सुखी सहजो कहै, लागै सुन्न समाध ॥३६॥

॥ वैराग-उपजावन का अंग ॥ (दोहा)

सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह ।
अपनो तो कोइ है नहीं, अपनी सगी न देह ॥१॥
यही कही गुरुदेव जू, यही पुकारैं सन्त ।
सहजो तज या जगत कूँ, तोहि तजैगो अन्त ॥२॥

दरिया साहब, बिहारी

॥ चौपाई ॥

मन अब मीन चंचल है भाऊ। चंचल लोचन चहु दिसि धाऊ ॥१॥
दृष्टि भीतर अब दृष्टि समोऐ । लागी झरी अमृत रस पोऐ ॥२॥
इमि करि ईस होय उजियारा । ममता मद सभे मेटि डारा ॥३॥
अजहु चेतु चेतनि चित लाई । दयावन्त गुन कहा न जाई ॥४॥
मीन मासु त्यागो रस भोगा । सतगुरु चरन सुमिरु निजु जोगा ॥५॥

दो०- साधु भोजन नहिं भवन में, नहिं सतगुरु से प्रीत ।
सागर को जल अचवन, बारुन चाहत नीत ॥२॥

चौ०-साधु सोई निर्मल गुन सारा । बारै दृष्टि करै उजियारा ॥१॥
जौं मराल मन कबहुँ न मैला। मन अब ज्ञान तोला में तौला ॥२॥
कड़ी कमान घीचै दिन राती। तेहि नहिं काल करै उतपाती ॥३॥
ताके पास कामिनि नहिं पाई। मस्त हाल देखि दूरि पराई ॥४॥
भाँग अफीम पान नहिं खाई। झरै अमी चाखै लौ लाई ॥५॥

॥ ग्रंथ अमरसार से ॥

साखी-सतगुरु चरन सुधा सम, विमल मुक्ति को मूल ।
पद पंकज लोचत हिया, अजर अनूपम फूल ॥१॥
जब लगि प्रेम न पाइये, तब लगि पिया न नेह ।
प्रेम सुरति साँची बसै, मिलिगो शब्द स्नेह ॥२॥

चौ०- ऐन पैठि जो देखु अँजीरा । सुरति झरोखा अहै शरीरा ॥१॥
ऐन अँजीर एक करु मेला। देखहु अविगत आपु एकेला ॥२॥
पीवै प्रेम होय मस्त देवाना । राव रंक एक सम जाना ॥३॥
जिअतहि मुक्ति जानै सो ज्ञानी। भव जल लाँघि चलै सो प्रानी ॥४॥

सो०- सुखसागर निजु ज्ञान, सत्त शब्द जाके बसै ।
निर्मल निर्भै ध्यान, सतगुरु मिलै तो पाइये ॥

चौ०-जो बाहर सो भीतर देखो । बाहर भीतर एके लेखो ॥१॥

॥ ग्रंथ सरोदय से ॥

चौ०-जौं तुम नाम अमल शुचि चहहू। मिलै तबै सतगुरु पद गहहू ॥१॥
प्रेम प्रीति से देहिं पियाई। करि के साफ दिल रोशन भाई ॥२॥
दिन दिन अधिक मस्त संसारा। रहै सो कल्प कोटि मतवारा ॥३॥
महा प्रलय की डर नहिं आवै। जा कहँ सतगुरु ढारि पिलावै ॥४॥
ब्रह्म साफ जैसे ध्रुव तारा । परा परद में घटा पसारा ॥५॥

दोहा– दरिया तन से नहिं जुदा, सब किछु तन के माहिं ।
जोग जुगत से पाइये, बिना जुगुति किछु नाहिं ॥

चौ०-जो कोइ जोग जुगति में आवै । दीदम दरस देखि सो पावै ॥१॥
तुमहीं सुभग मुकुर है भाई । तोहि में साहेब सुरति देखाई ॥२॥

दोहा–है खुशबोई पास में, जानि पड़ै नहिं सोय ।
भरम लगे भटकत फिरै, तीरथ व्रत सभ कोय ।।२॥

चौ०-जौं तुम निज आपन घर चहहू। आपु में आपु देखि मिलि रहहू ॥१॥
सभ तोहि पास जुदा कछु नाहीं। मानुख तन अनुपम जग माहीं ॥२॥

दोहा–दरिया दिल दरियाव है, अगम अपार बेअन्त ।
सभ में तोहि तोहि में सभे, जानु मरम कोइ सन्त ।

॥ ग्रंथ दरिया सागर से ॥

चौ०-काया परचै निजु कहौं बुझाई। गुरु गमि ज्ञान बुझौ चित लाई ॥१॥
अष्टदल कमल रंग है सोई । मध्य बीच तेहि बोलता होई ॥२॥
अग्र नख तहाँ पैठे जाई । तिल भरि चौकी विलसै भाई ॥३॥
छव चक्र तहाँ मनि उजियारा । अझर झरै तहाँ जोति निजु सारा ॥४॥
अमृत बुन्द तहाँ झरि आवै । पीअत हंस अमर पद पावै ॥५॥

दोहा-अमी ततु घर अमृत पिवै, देखो सुरति लगाय ।
कहत सुनत नहिं बनि आवै, जो गति काहु लखाय ।।१॥

चौ०-नाम बान जब हिरदय लागा। निफरि निरंतर सूरति जागा ॥१॥
कोटि तीरथ तहाँ जल परगासा । कोटिन्ह इन्द्र मेघ घन वासा ॥२॥
कोटिन्ह तेज जोति परगासा । कोटिन पंडित वेद निवासा ॥३॥

छन्द– कोटि ज्ञानी ज्ञान गावहिं, शब्द बिन नहिं बाचहीं।
शब्द सजीवन मूल ऐनक, अजपा दरस देखावहीं॥
सत्त शब्द संतोष धरि धरि, प्रेम मंगल गावहीं।
मिलहिं सतगुरु शब्द पावहिं, फेरि न भौ जल आवहीं॥१॥
सो०– ज्ञान रतन की खानि, मनि मानिक दीपक बरै।
शब्द सजीवन जानि, अमरपूर अमृत पिवै॥१॥
दोहा– प्रेम प्रीति लगाय के, सत्तै शब्द अधार।
सत्त बिना नहिं बाँचिहौ, नर कोटिन्ह करु व्यापार॥२॥
चौ०–सत्तै शब्द विचारै कोई। अभै लोक सिधारै सोई॥१॥
अभै निसान धुनि तहाँ होई। अजर अमर पद पावै सोई॥२॥
कहन सुनन किमि करि बनि आवै। सत्तनाम निजु परचै पावै॥३॥
गहै मूल तब निर्मल बानी। दरिया दिल बिच सुरति समानी॥४॥
सार शब्द कहा समुझाई। सतगुरु मिलहिं तो देहि देखाई॥५॥
जौं लगि मूल शब्द नहिं पावै। तौं लगि हंस लोक नहिं जावै॥६॥
दोहा– अष्टदल कमल भँवर तहाँ गूँजै, देखहु शब्द विचारि।
कहै दरिया चित्त चेतहू, देहु भरम सभ डारि॥३॥
चौ०– मूल शब्द धुन होत अँजोरा। सुरति बाँधि राखै एक ठौरा॥१॥
सुरति डोरि चेतो चित लाई। मूल शब्द की यही उपाई॥२॥
सूर चन्द एक घर आवै। तबहि डोरी ले बिलमावै॥३॥
मूल शब्द धुनि होत उचारा। तहमा जाय करौ पैसारा॥४॥
जो सत शब्दहिं करै विचारा। सोई हंस भौ सिन्धु उबारा॥५॥
अकह बात कहा नहिं जाई। अगम गमी तहाँ सुरति लगाई॥६॥
छन्द– आगे मारग झीन अति है, शब्द सुरति विचारहीं।
अजर जोति अनूप बानी, देखि तहाँ सुख पावहीं॥
अगम गमि तहाँ अति झलाझलि, नेकु मन ठहरावहीं।
सत सुकृत की सीढ़ी पगु दे, अमृत फल तहाँ चाखहीं॥
सो०– अजरा जोति बराय, मूल शब्द निजु सार है।
गहो सुरति चित लाय, कहै दरिया भौ रहित है॥२॥
दोहा– सत्त नाम निजु सार है, अमर लोक के जाय।
कहै दरिया सतगुरु मिलै, संसे सकल मेटाय॥४॥

चौ०– सत्तनाम है निर्गुन अधारा। ताके काल न करै अहारा॥१॥
माया तेजि शब्द लौ लावै। ताके माथा जगत नवावै॥२॥
दोहा– सतगुरु ज्ञान दीपक बरै, जो मन होखै थीर।
कहै दरिया संसै मिटै, हरै सकल सभ पीर॥५॥
चौ०–कहै दरिया जिन केवल जाना। सोई जन साहब पहचाना॥१॥
जब निजु ज्ञान गमि करि पेखै। अवगति जोति दृष्टि में देखै॥२॥
अनहद की धुनि करै विचारा। ब्रह्म दृष्टि होय उजियारा॥३॥
यह कोई गुरु ज्ञानी बूझै। शब्द अनाहद आपहिं सूझै॥४॥
ज्ञान मत है सब ते भीना। पुरुष नाम निजु हिरदय चीन्हा॥५॥
हिरदय ध्यान नाम लौ लावै। विमल चरन पद पंकज पावै॥६॥
दोहा– जाके पूँजी नाम है, कबहिं न होखै हान।
नाम बिहूना मानवा, जम के हाथ बिकान॥६॥
चौ०–सतगुरु ध्यान रहौ लौ लाई। मिटहिं जरा जीव जम नहिं खाही॥१॥
जनम जनम के प्राछित जावै। निर केवल होय छपलोक समावै॥२॥
करहु ध्यान सतगुरु के सेवा। सकल मही का पूजहु देवा॥३॥
संत सेवा करिहैं चित लाई। ताके जम निकट नहिं जाई॥४॥
दोहा–अँधियारे दीपक दीजिये, तब होखै परकाश।
ज्ञान समुझि करि लीजिये, उतरि जाय भौ पार॥७॥
चौ०–शब्दै तारै शब्द उबारै। शब्दै चढ़ि छपलोक सिधारै॥१॥
शब्दै घोड़ा हंस सवारा। शब्दै चाबुक ज्ञान करारा॥२॥
शब्दै पैठे माँझ मँझारा। शब्दै पीवै प्रेम अधारा॥३॥
कहै दरिया जिन शब्द निमेरा। ताके हंसा पहुँच सबेरा॥४॥
दोहा–शब्द सरासन बान है, सत्तै शब्द निसान।
कहै दरिया नर बाचिया, सतगुरु की पहचान॥८॥
दोहा–शब्द विचार करै नर लोई। अमर लोक पहूँचै सोई॥१॥
शब्द विवेखी भक्त कहावै। बिन शब्दै जग में भरमावै॥२॥
शब्दै निरगुन नाह हमारा। ताके खोजहु ज्ञान करारा॥३॥

शब्दै धरती शब्दै अकाशा । शब्दै भग्ति प्रेम परगासा ॥४॥
शब्दै रचल सकल संसारा । शब्दै बंधन लोक विस्तारा ॥५॥
चौथा लोक शब्द की बानी । शब्द समुन्दर बाँधल ज्ञानी ॥६॥
शब्द बिना होय नहिं पारा । शब्दै पंडित करौ विचारा ॥७॥
ॐ वेद जगत फैलाई । मूल वेद बिरला केहु पाई ॥८॥
मूल वेद शब्द निजु सारा । करनी कथा ज्ञान विस्तारा ॥९॥

दोहा– मूल शब्द निजु सार है, कहनी कथा अपार ।
शिव शक्ति मन राधि के, उतरि जाय भौ पार ॥९॥

॥ ग्रंथ प्रेम मूला से ॥

दोहा–सत्त शब्द जाके बसे, अमर लोक के जाय ।
अमृत फल जहँ प्रेम रस, जुग जुग छुधा बुताय ॥

चौ०– अब कहौं चुम्बक कर भाऊ। चुम्बक देखत गाँसी आऊ ॥१॥
चुम्बक सत्त शब्द है भाई। चुम्बक शब्द लोक ले जाई ॥२॥
मृतु अन्ध जबही नियरावै । चुम्बक शब्द जीव मुक्तावै ॥३॥
लेइ निकारि होखै नहिं पीरा । सत्तशब्द जो बसै शरीरा ॥४॥

-- : ० : --

अबरि के बार बकसु मोरे साहेब, जनम जनम के चेरि हे ॥१॥
चरण कमल में हृदय लगायेब, कपट कागज सब फाड़ि हे ॥२॥
मैं अबला किछुओ नहिं जानौं, परपंचन के साथ हे ॥३॥
पिया मिलन बेरि इन्ह मोरा रोकल, तब जिव भयल अनाथ हे ॥४॥
जब दिल में हम निहचे जानल, सूझि पड़ल जम फन्द हे ॥५॥
खूलल दृष्टि दिया मनि नेसल, मानहु शरद के चन्द हे ॥६॥
कह दरिया दरसन सुख उपजल, दुख सुख दूरि बहाय हे ॥७॥

-- : ० : --

भीतर मैल चहल* के लागी, ऊपर तन का धोवै है ॥१॥
अविगत मूरति महल के भीतर, वाका पन्थ न जोवै है ॥२॥
जुगति बिना कोइ भेद न पावै, साधु संगति का गोवै है ॥३॥
कहै दरिया कुटने बे** गीदी***, शीश पटकि का रोवै है ॥४॥

*कीचड़। **अबे, अरे (सम्बोधन)। ***डरपोक, कायर, बेहया, बेगैरत।

घट-घट कपाट खोलिये रे, अखण्ड ब्रह्म को देखना है ॥१॥
देवल दरस महल मूरति, पथल का पूजना पेखना है ॥२॥
आतम पूजा नहीं देव दूजा, सो जाति जनेऊ लेखना है ॥३॥
कहै दरिया दिल देखि विचारि के, सतनाम भजो सत देखना है ॥४॥

॥ आरती ॥

संझा आरति समरथ की है । सिर पर छत्र सुगन्ध सही है ॥१॥
नहिं तहँ चौका चन्दन पानी । अविगत ज्योति है अमृत बानी ॥२॥
नहिं तहँ तिलक जनेउ न माला, पूरण ब्रह्म अखण्डित काला ॥३॥
नहिं तहँ जाति बरन कुल कोई। बरसत अमृत चाखहिं सोई ॥४॥
अजर अमर घर लेहिं निवासा। नहिं तहँ काल कुबुधि के त्रासा ॥५॥
आवागमन गर्भ नहिं वासा । कहै दरिया सोइ सतगुरु दासा ॥६॥

-:०:-

आरति समरथ करौं तुम्हारी । दीन-दयाल भगत हितकारी ॥१॥
ज्ञान दीपक लै मन्दिर बारौं । तन मन धन लै आगे वारौं ॥२॥
चित चन्दन लै रगड़ि बनावौं । ब्रह्म पुहुप ले आनि चढ़ावौं ॥३॥
अनहद धुनि गहि घंट बजावौं। शब्द सिंहासन चरण मनावौं ॥४॥
आपहि छत्र चँवरि सिर छाजै । कहै दरिया तहँ सन्त विराजै ॥५॥

-:०:-

सत्य पुरुष दाया किन्ह मोही । चरण कमल चित्त रहौं समोई ॥१॥
सुख-सागर दुख मेटनिहारा । दीनदयालु उतारहिं पारा ॥२॥
जहँ-जहँ गाढ़ सन्तन्ह कहँ डारा । समरथ बन्दि छोड़ावनिहारा ॥३॥
जाके डर काँपे धर्म धीरा । बुड़त उबारेउ दास कबीरा ॥४॥
दयासिन्धु गुण गहिर गंभीरा । कहै दरिया मेटे दुख पीरा ॥५॥

-:०:-

सुमिरहु सतपद प्राण-अधारा । सत्त शब्द ले उतरहु पारा ॥१॥
गुरु के वचन पावल जब बीरा। अचल अमर निश्चय घर थीरा ॥२॥
हंसा जाय मिले करतारा । बहुरि न आवै एहि संसारा ॥३॥
तीन लोक से न्यारे डेरा । पुरुष पुराण जहँ हंस घनेरा ॥४॥
गुरु के वचन शिष्य जो धरई । जाय छपलोक नरक नहिं परई ॥५॥
कहै दरिया जब बीरा पावै । जाय सतलोक बहुरि नहिं आवै ॥६॥

मैं कुलवन्ती खसम पियारी । पाँच तत्त्व ले दीपक वारी ॥१॥
गंधा सुगंध थार भरि लीन्हा । चंदन चर्चित आरति कीन्हा ॥२॥
फूलन सेज सुगंध बिछायो । आपन पिया पलंग पौढ़ायो ॥३॥
सेवत चरण रैनि गइ बीती । प्रेम प्रीति तुमही सों रीती ॥४॥
कहै दरिया ऐसो चित लागा । भई सुलच्छनि प्रेम अनुरागा ॥५॥

॥ शब्द १॥

याफ्त तदबीर है दिल के बीच में कुदरत मस्जीद बनाय दीता ।
दोय बीच जो लाल अजब लागे तहाँ जोति का नूर परगट्ट कीता ॥१॥
यह चित्त के चोभ में बाँग देवै यह नाम नीसान नजर लीता ।
कहै दरिया दाना दिल के बीच अलफ अलह को याद कीता ॥२॥

॥ शब्द २ ॥

सन्तो सुमिरहु निर्गुन अजर नाम। सब विधि पूँजी सुफल काम ॥१॥
निर्गुन नाह से करहु प्रीति । लेहु काया गढ़ काम जीति ॥२॥
ऐनक मूल है शब्द सार । चहुँ ओर दीसै रंग करार ॥३॥
झरत झरी तहाँ झमके नूर । चित चकमक गहि बाजु तूर ॥४॥
झलकत पदम गगन उजियार । दिव्य दृष्टि गहु मकर तार ॥५॥
द्वादश इँगला पिंगला जाय । परिमल बास अग्र सो पाय ॥६॥
बंक कमल मध हीरा अमान । स्वेत बरन भौंरा तहाँ जान ॥७॥
खोजहु सतगुरु सत्त निसान। जुगति जानि जिन्ह कथहिं ज्ञान ॥८॥
कहै दरिया यह अकह मूल । आवा गमन के मेटै सूल ॥९॥

॥ शब्द ३ ॥

जानि ले जानि ले सत्त पहिचानि ले सुरति साँची बसै दीद दाना ।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै पलक परवीन दिव दृष्टि ताना ॥१॥
ऐन के भवन में बैन बोला करै चैन चंगा हुआ जीति दाना ।
मनी माथे बरै छत्र फीरा करै जागता जिन्द है देखु ध्याना ॥२॥
पीर पंजा दिया रसद दाया किया मसत माता रहै आपु ज्ञाना ।
हूआ बेकैद यह और सभ कैद में झूमता दिव्य निशान बाना ॥३॥
गगन घहरान वए जिन्द अमान है जिन्हि यह जगत सब रचा खाना ।
कहै दरिया सर्वज्ञ सब माहिं है कफा सब काटि के कुफुर हाना ॥४॥

-- :: ० :: --

दरिया साहब, मारवाड़ी

॥ साखी ॥

सोई कन्थ कबीर का, दादू का महराज ।
सब सन्तन का बालमा, दरिया का सिरताज ॥

॥ सतगुरु का अंग ॥

डूबत रहा भव सिन्ध में, लोभ मोह की धार ।
दरिया गुरु तैरू मिला, कर दिया पैले पार ॥१॥
दरिया मिरतक देखकर, सतगुरु कीनी रीझ ।
नाम सजीवन मोहि दिया, तीन लोक को बीज ॥२॥
तीन लोक को बीज है, ररो ममो दो अंक ।
दरिया तन मन अर्पि के, पीछे होय निसंक ॥३॥
जन दरिया गुरुदेव जी, सब विधि दई बताय ।
जो चाहो निज धाम को, तो साँस उसाँसो ध्याय ॥४॥
सोता था बहु जन्म का, सतगुरु दिया जगाय ।
जन दरिया गुर शब्द सों, सब दुख गये बिलाय ॥५॥
सतगुर शब्दाँ मिट गया, दरिया संसय सोग ।
औषद दे हरिनाम का, तन मन किया निरोग ॥६॥
दरिया सतगुर कृपा करि, शब्द लगाया एक ।
लागत ही चेतन भया, नेत्तर खुला अनेक ॥७॥
दरिया गुर पूरा मिला, नाम दिखाया नूर ।
निसा* भई सुख ऊपजा, किया निशाना दूर ॥८॥
शब्द गहा सुख उपजा, गया अन्देशा मोहि ।
सतगुर ने किरपा करी, खिड़की दीनी खोहि ॥९॥

॥ सुमिरन का अंग ॥

दरिया नर तन पाय कर, किया न राम उचार ।
बोझ उतारन आइआ, सो लिये चले सिर भार ॥१॥
जो कोइ साधू गृही में, माहिं राम भरपूर ।
दरिया कह उस दास की, मैं चरनन की धूर ॥२॥

* तसल्ली ।

बाहर बाना भेष का, माहिं राम का राज।
कह दरिया वे साधवा, हैं मेरे सिर का ताज ॥३॥
दरिया दूजे धर्म से, संसय मिटे न सूल।
राम नाम रटता रहै, सर्व धर्म का मूल ॥४॥

॥ नाद परचे का अंग ॥

दरिया त्रिकुटी संध में, मन ध्यान धरै कर धीर।
अवस चलत है सुषमना, चलत प्रेम की सीर ॥१॥
घुरै नगारा गगन में, बाजे अनहद तूर।
जन दरिया जहाँ थिवि रची, निसि दिन बरसै नूर ॥२॥
सुरत गगन में बैठकर, पति का ध्यान सँजोय।
नाड़ि नाड़ि रूँ रूँ विषे, ररंकार धुन होय ॥३॥
नौबत बाजै गगन में, बिन बादल घन गाज।
महल विराजै परम गुरु, दरिया के महराज ॥४॥

॥ ब्रह्म परचे का अंग ॥

मन बुध चित हंकार की, है त्रिकुटी लग दौड़।
जन दरिया इनके परे, ब्रह्म सुरत की ठौर ॥१॥
मन बुध चित हंकार यह, रहैं अपनी हद माहिं।
आगे पूरन ब्रह्म है, सो इनकी गम नाहिं ॥२॥
काया अगोचर मन्न अगोचर, शब्द अगोचर सोय।
जन दरिया लवलीन होय, पहुँचेगा जन कोय ॥३॥
आँखों से दीखै नहीं, शब्द न पावै जान।
मन बुध तहाँ पहुँचैं नहीं, कौन कहै सेलान* ॥४॥

केशव दासजी की अमीघूँट

॥ राग मंगल ॥ (शब्द १)

धनि सो घरी धनि बार, जबहिं प्रभु पाइये।
प्रगट प्रकास हजूर, दूर नहिं जाइये ॥१॥
छंद– नहिं जाइ दूर हजूर साहिब, फूलि सब तन में रह्यो।
अमर अछय सदा जुगन जुग, जक्त-दीपक उगि रह्यो ॥२॥

* निशान।

निरखि दसो दिसि सर्व सोभा, कोटि चन्द सुहावनं।
सदा निरभय राज नित सुख, सोई केसो ध्यावनं ॥३॥
पूरन सर्व निधान, जानि सोइ लीजिये।
निर्मल निर्गुन कंत, ताहि चित्त दीजिये ॥४॥
छंद– दीजिये चित रीझि के उत, बहुरि इतहिं न आइये।
जहँ तेजपुंज अनंत सूरज, गगन में मठ छाइये ॥५॥
लिये घट पट खोलि के प्रभु, अगम गति तब गति करी।
बढ़ो अधिक सुहाग केसो, बीछुरत नहिं इक घरी ॥६॥
अद्‌भुत भेख बनाय, अलेख मनाइये।
निसि बासर करि प्रेम, तो कंठ लगाइये ॥७॥
छंद– लाइये घट छाड़ि के मठ, उमँगि सोहं भरि रहो।
बढ़ो अधिक सुहाग सुंदरि, अलख स्वामी रमि रहो ॥८॥
मिल्यो प्रभु अनूप उदै अति, सर्व गति जा सों भई।
आदि अंत अरु मध्य सोई, मिलि पिया केसो मई ? ॥९॥
फूलि रह्यो सब ठाँव, तो धरनि अकास में।
सो त्रिभुवन पति नाथ, निरखि लियो आप में ॥१०॥
छंद– निरखि आपु अघात नाहीं, सकल सुख रस सानिये।
पिवहिं अमृत सुरति भर करि, संत बिरला जानिये ॥११॥
कोटि विस्नु अनंत ब्रह्मा, सदा सिव जेहि ध्यावहीं।
सोइ मिल्यो सहज सरूप केसो, अनंद मंगल गावहीं ॥१२॥

॥ शब्द २ ॥

निरखि रूप मन सहज समाना। मैं तैं मिटि गो भर्म पराना[१] ॥१॥
अच्छर माहिं निअच्छर देखा। सोई सब जीवन का लेखा ॥२॥
ऐसो भेद जो जानै कोई। ताको आवागमन न होई ॥३॥
जैसे उग्र ऋनि कहवाया। मिटि गा रूप भेष नहिं माया ॥४॥
ऐसे निर्मल हैं ब्रह्म ज्ञानी। सदा बखानहिं अमृत बानी ॥५॥
उदित पुरुष निरमल जेहि काया। सोई साहिब केसो छाया ॥६॥

॥ शब्द ३ ॥

छाया काया तें प्रभु न्यारा। धरनि अकास के बाहर पारा ॥१॥
अगम अपार निरंतर वासी। हलै न टलै अगम अविनासी ॥२॥

(१) भाग गया।

वा कहँ अद्‌भुत रूप न रेखा । अगम पुरुष प्रभु सब्द अलेखा ॥३॥
निज जन जाय तहाँ प्रभु देखा । आदि न अंत नाहिं कछु भेखा ॥४॥
मिलि अंगम सुख सहज समाया। या बिधि केसो बिसरी काया ॥५॥

॥ शब्द ४ ॥

गगन मगन धुनि लगन लगी । सुनत सुनत तन तृप्त भई ॥१॥
जगर मगर नहिं डगर बगर[१] नहिं । रवि ससि निसु दिन भाव नहीं ॥२॥
प्रान गवन हरि पवन मवन [२] करि । मिलि सन्मुख पिय बाँह गही ॥३॥
सत रति सत्त पती हम पावल । केसो दास सुहाग सही ॥४॥

॥ साखी ॥

सात दीप नौ खंड के, ऊपर अगम अवास ।
सब्द गुरू केसो भजे, सो जन पावै वास ।।१॥
आसा मनसा सब थकी, मन निज मनहिं मिलान ।
ज्यों सरिता समुन्दर मिली, मिटिगो आवन जान ।।२॥
केसो दुविधा डारि दे, निर्भय आतम सेव ।
प्रान पुरुष घट-घट बसै, सब महँ सब्द अभेव ।।३॥

बाबा धरनीदासजी

॥ शब्द १ ॥

सुमिरो हरि नामहिं बौरे ।टेक॥
चक्रहुँ चाहि चलै चित चंचल, मूल मता गहि निस्चल कौरे ।
पाँचहुँ तें परिचै करु प्राणी, काहे के परत पचीस के झौरे[३] ॥१॥
जौं लगि निरगुन पंथ न सूझै, काज कहा महि मंडल दौरे ॥२॥
शब्द अनाहद लखि नहिं आवे, चारोपन चलि ऐसहि गौरे ॥३॥
ज्यों तेली को बैल बेचारा, घरहिं में कोस पचासक भौरे ॥४॥
दया धरम नहिं साधु की सेवा, काहे के सो जनमे घर चौरे ॥५॥
धरनीदास तासु बलिहारी, झूठ तजो जिन्ह साँचही धौरे[४] ॥६॥

॥ शब्द २ ॥

नाम नौका चढ़ो चित दे, बिना वाद विवाद ।
तहाँ लै मन पवन राखो, जहाँ अनहद नाद ॥

(१) राह-कुराह। (२) चुप। (३) झमेला। (४) धारण किया, गहा।

थकित होइहैं पाँच, अरु पचीस रहिहैं थीर ।
दसे द्वारे झलमले, मनि मोति मानिक हीर ॥

॥ शब्द ३ ॥

सेत झलाझल झलकै जहाँ । सुरति निरति लव लावो तहाँ ॥
सहजहिं रहो गहो सेवकाई । सन्मुख मिलिहैं आतम राई ॥

॥ शब्द ४, पहाड़ा ॥

एका एक मिलै गुरु पूरा, मूल मंत्र जो पावै ।
सकल संत की बानी बूझै, मन परतीत बढ़ावै ॥१॥
दूआ दूइ तजै जो दुविधा, रज गुन तम गुन त्यागै ।
सतगुरु मारग उलटि निरखै, तब सोवत उठि जागै ॥२॥
तीया तीन त्रिवेणी संगम, सो बिरले जन जाना ।
तृष्णा तामस छोड़ि दे भाई, तब करु वहँ प्रस्थाना ॥३॥
चौथे चारि चतुर नर सोई, चौथे पद कहँ लागी ।
हँसि कै परम हिंडोलना झूलै, निरखत भा अनुरागी ॥४॥
पंचयें पाँच पचीसहिं बस करि, साँच हिये ठहरावै ।
इंगला पिंगला सुखमन सोधै, गगन मंडल मठ छावै ॥५॥
छठयें छवो चक्र को बेधे, सुन्न भवन मन लावै ।
विगसत कमल काया करि परचै, तब चन्दा दरसावै ॥६॥
सतयें सात सहस धुनि उपजै, सुनि धुनि आनंद बाढ़ै ।
सहजहिं दीन दयाल दया करि, बूड़त भव जल काढ़ै ॥७॥
अठयें आठ अकासहिं निरखो, दृष्टि अलोकन होई ।
बाहर भीतर सर्व निरंतर, अंतर रहै न कोई ॥८॥
नवें नवो दुवारहिं निरखै, जगमग जगमग जोती ।
दामिनि दमकै अमृत बरसै, निझर झरै मनि मोती ॥९॥
दसयें दस दहाइ पाइ के, पढ़ि ले एक पहारा ।
धरनीदास तासु पद बंदे, अहि निसु बारम्बारा ॥१०॥

॥ साखी, ध्यान ॥

धरनी ध्यान तहाँ धरो, उलटि पसारो दृष्टि ।
सहज सुभावहिं होत जहँ, पुहुप माल की वृष्टि ॥१॥

धरनी ध्यान तहाँ धरो, जहवाँ खुलहिं किवार।
निरखि निरखि परखत रहो, पल पल बारम्बार ।।२।।
धरनी ध्यान तहाँ धरो, प्रगट जोति फहराहिँ।
मनि मानिक मोती झरै, चुगि चुगि हंस अघाहिँ ।।३।।
धरनी ध्यान तहाँ धरो, त्रिकुटी कुटी मझार।
धर के बाहर अधर है, सनमुख सिरजनहार ।।४।।
धरनी अधरे ध्यान धरु, निसिवासर लौ लाइ।
कर्म कीच मगु बीच है, (सो) कंचन गच ह्वै जाइ ।।५।।
धरनी निर्मल नासिका, निरखो नयन के कोर।
सहजै चन्दा ऊगिहैं, भवन होइ उजियोर ।।६।।

जगजीवन साहब की वाणी

॥ भाग १, शब्द १ ॥

मन रे प्रभु सों चित्त लाव ।
छाड़ि दे जंजाल को, गुरु मारग माँ आव ।।१।।
गुरु के वचन हृदय धरु मूरख, ज्ञान ध्यान मन लाव ।
अष्ट कमल दल भीतर राजा, पाँच तत्त को राव ।।२।।
त्रिकुटी मध्य दृष्टि करु नैनन, ताड़ी तहाँ लगाव ।
मनि समान दीपक करु मनसा, जोति में जोति मिलाव ।।३।।
मन औ पवन होत जब इकतर, नाहीं बीच बराव ।
जगजीवन के प्रभु सिर नायक, आनंद मंगल गाव ।।४।।

॥ शब्द २ ॥

साधो सुमिरन भजन करो ।
मन महँ दुविधा आनहु नाहीं, सहजहिं ध्यान धरो ।।१।।
धीरज धरि संसय नहीं राखहु, नाम भरोसे रहो ।
जगजीवन सतगुरु को भेंटो, भवजल पार तरो ।।२।।

॥ शब्द ३ ॥

महिमा प्रभु मो सो बरनि न जाय ।टेक ॥
अनहद बानी मूरति बोलै, सुनहु संत चित लाय ।

अनहद ताल पखावज बाजै, तहाँ सुरति चलि जाय ।।१।।
अबरन रूप कहाँ लगि बरनौं, सब छवि रहे समाय।
जगजीवन साईं कहँ लहि बरनौं, रहै चरन चित लाय ।।२।।

॥ भाग २, शब्द १ ॥

मन गुरु चरण धरि रहु ध्यान ।टेक॥
अमर अहै अडोल अचलं मानि ले परमान ।।१।।
लाइ संकर रहै तारी कहत वेद पुरान ।।२।।
तत्त्व सारं इहै आहै अवर नाहीं जान ।।३।।
निराकारं निराधारं निर्गुनं निर्वान ।।४।।
जगजीवन तू निरखि सूरति चरन रहु लपटान ।।५।।

॥ शब्द १ ॥

जाके लगी अनहद तान हो, निरवान निरगुन नाम की ।।१।।
जिकर करके सिखर हेरे, फिकर रारंकार की ।।२।।
जाके लगी अजपा झलकै, जोत देख निसान की ।।३।।
मद्ध मुरली मधुर बाजै, बाएँ किंगरी सारंगी ।।४।।
दाहिने जो घंटा संख बाजै, गैब धुन झनकार की ।।५।।
अकह को यह कथा न्यारी, सीखा नहीं आन है ।।६।।
जगजीवन प्रान सोध के, मिल रहे सतनाम है ।।७।।

पलटू साहब की वाणी

॥ भाग १, शब्द १ ॥

कुण्डलिया – धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव ॥
सो मेरा गुरुदेव सेवा मैं करिहौं वाकी ।
शब्द में है गलतान[१] अवस्था ऐसी जाकी ॥
निस दिन दसा अरूढ़ लगै ना भूख पियासा ।
ज्ञान भूमि के बीच चलत है उलटी स्वासा ॥
तुरिया सेति अतीत सोधि फिरि सहज समाधी ।
भजन तेल की धार साधना निर्मल साधी ॥
पलटू तन मन वारिये मिलै जो ऐसा कोउ ।
धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव ॥

(१) मस्त

॥ शब्द २ ॥

सतगुरु सिकलीगर मिलैं तब छुटै पुराना दाग ॥
छुटै पुराना दाग गड़ा मन मुरचा माहीं ।
सतगुरु पूरे बिना दाग यह छूटै नाहीं ॥
झाँवाँ लेवै जोग तेग को मलै बनाई ।
जौहर देय निकार सुरत को रंद चलाई ॥
शब्द मस्कला करै ज्ञान का कुरँड[1] लगावै ।
जोग जुगत से मलै दाग तब मन का जावै ॥
पलटू सैफ को साफ करि बाढ़ धरै वैराग ।
सतगुरु सिकलीगर मिलैं तब छुटै पुराना दाग ॥

॥ शब्द ३ ॥

संत सनेही नाम है नाम सनेही संत ॥
नाम सनेही संत नाम को वही मिलावैं ।
वे हैं वाकिफकार मिलन की राह बतावैं ॥
जप तप तीरथ बरत करै बहुतेरा कोई ।
बिना वसीला संत नाम से भेंट न होई ॥
कोटिन करै उपाय भटक सगरो से आवै ।
संत दुवारे जाय नाम को घर तब पावै ॥
पलटू यह है प्राण पर आदि सेती और अंत ।
संत सनेही नाम है नाम सनेही संत ॥

॥ शब्द ४ ॥

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥
महल भया उजियार नाम का तेज विराजा ।
शब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा ॥
दसो दिसा भई सुद्ध बुद्ध भई निर्मल साँची ।
छुटी कुमति की गाँठि सुमति परगट होय नाची ॥
होत छतीसो राग दाग तिरगुन का छूटा ।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा ॥
पलटू अँधियारी मिट गई बाती दीन्ही टार ।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥

(१) एक तरह का पत्थर, जो सिकल करने के काम में आता है ।

॥ शब्द ५ ॥

साध महातम बड़ा है जैसो हरि यस होय ॥
जैसो हरि यस होय ताहि को गरहन कीजै ।
तन मन धन सब वारि चरन पर तेकरे दीजै ॥
नाम से उत्पति राम संत अनाम समाने ।
सब से बड़ा अनाम नाम की महिमा जाने ॥
संत बोलते ब्रह्म चरन कै पिये पखारन ।
बड़ा महा परसाद सीत संतन कर छाड़न ॥
पलटू संत न होवते नाम न जानत कोय ।
साध महातम बड़ा है जैसो हरि यस होय ॥

॥ शब्द ६ ॥

बैरागिन भूली आप में जल में खोजै राम ॥
जल में खोजै राम जाय के तीरथ छानै ।
भरमै चारिउ खूँट नहीं सुधि अपनी आनै ॥
फूल माहिं ज्यों बास काठ में अगिन छिपानी ।
खोदे बिनु नहिं मिलै अहै धरती में पानी ॥
दूध मँहै[1] घृत रहै छिपी मिँहदी में लाली ।
ऐसे पूरन ब्रह्म कहूँ तिल भरि नहिं खाली ॥
पलटू सत्संग बीच में करि ले अपना काम ।
बैरागिन भूली आप में जल में खोजै राम ॥

॥ शब्द ७ ॥

कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान ॥
सो ध्यानी परमान सुरत से अंडा सेवै ।
आप रहै जल माहिं सूखे में अंडा देवै ॥
जस पनिहारी कलस भरे मारग में आवै ।
कर छोड़े मुख वचन चित्त कलसा में लावै ॥
फनि मनि धरै उतारि आपु चरने को जावै ।
वह गाफिल ना पड़ै सुरति मनि माहिं रहावै ॥
पलटू सब कारज करै सुरति रहै अलगान ।
कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान ॥

(१) में ही, अंदर ।

॥ शब्द ८ ॥

साहिब साहिब क्या करै साहिब तेरे पास ॥
साहिब तेरे पास याद करु होवे हाजिर ।
अन्दर धसि के देखु मिलैगा साहिब नादिर ॥
मान मनी हो फना नूर तब नजर में आवै ।
बुरका डारै टारि खुदा बाखुद दिखरावै ॥
रुह करै मेराज[१] कुफर का खोलि कुलाबा[२] ।
तीसो रोजा रहै अन्दर में सात रिकाबा[३] ॥
लामकान में रब्ब को पावै पलटू दास ।
साहिब साहिब क्या करै साहिब तेरे पास ॥

॥ शब्द ९ ॥

बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर ॥
मगन भया मन मोर महल अठवें पर बैठा ।
जहाँ उठै सोहंगम सब्द सब्द के भीतर पैठा ॥
नाना उठैं तरंग रंग कुछ कहा न जाई ।
चाँद सुरज छिपि गये सुषमना सेज बिछाई ॥
छूटि गया तन गेह नेह उनही से लागी ।
दसवाँ द्वारा फोड़ि जोति बाहर ह्वै जागी ॥
पलटू धारा तेल की मेलत ह्वै गया भोर ।
बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर ॥

॥ शब्द १० ॥

ऐसा ब्राह्मण मिलै जो ताके परछौं पायँ ॥
ताके परछौं पायँ ब्रह्म अपने को पावै ।
भर्म जनेऊ तोड़ि प्रेम तिरसूत बनावै ॥
सब कर्मन को करै कर्म से रहता न्यारा ।
दुतिया देइ बहाय ब्रह्म का करै विचारा ॥
ज्ञान दिवस में शयन मोह रजनी में जागै ।
पार ब्रह्म भगवान ताहि घर भिच्छा माँगै ॥

(१) चढ़ाई । (२) जंजीर, सिकरी । (३) पद, स्थान ।

चेतन देय जगाय ब्रह्म की गाँठि को खोलै ।
करै गायत्री गुप्त शब्द ब्रह्माण्ड में बोलै ॥
पलटू तजै अठारह सहस वरन ह्वै जाय ।
ऐसा ब्राह्मण मिलै जो ताके परछौं पायँ ॥

॥ भाग २, शब्द ११, रेखता ॥

कोटि हैं बिस्नु जहँ कोटि सिव खड़े हैं, कोटि ब्रह्मा तहाँ कथैं बानी ।
कोटि देवी जहाँ खड़ी हैं चेरियाँ, कोटि फन सहस ना मरम जानी ॥
कोटि आकास पाताल फिरि कोटि हैं, कोटि ब्रह्माण्ड सौ कोटि ज्ञानी ।
दास पलटू कहै बड़े दरबार में, इन्द्र हैं कोटि तहँ भरैं पानी ॥

॥ शब्द १२ ॥

पूरब में राम है पश्चिम में खुदाय है,
उत्तर और दक्खिन कहो कौन रहता ।
साहिब वह कहाँ है कहाँ फिर नहीं है,
हिन्दू और तुरक तोफान करता ॥
हिन्दू और तुरक मिलि परे हैं खैंचि[१] में,
आपनी वर्ग[२] दोउ दीन[३] कहता ।
दास पलटू कहै साहिब सब में रहै,
जुदा ना तनिक मैं साँच कहता।।

॥ शब्द १३ ॥

घट औ मठ ब्रह्माण्ड सब एक है, भटकि कै मरत संसार सारा ।
मृगा की वासना वही छूटै नहीं, आपको भूलि बहु बार हारा ॥
आपको खोज तू भर्म को छोड़ि दे, कोटि बैकुण्ठ ससि भानु तारा ।
दास पलटू कहै बहुत तहकीक[४] करि, बोलता ब्रह्म है राम प्यारा ॥

॥ शब्द १४, झूलना ॥

जो गया साहिब के खोजने को, सो आपै गया हेराय है जी ।
समुन्दर के बीच में बुन्द परा, उसी में गया समाय है जी ॥
पानी लहरि लहरि पानी, को भेद सकै अलगाय है जी ।
पलटू हरफ मसी[५] दोय नाहीं, यह बात ले ठीक ठहराय है जी ॥

(१) तरफदारी। (२) दर्जा, पक्ष। (३) फिरका, मजहब। (४) खोज। (५) स्याही।

॥ शब्द १५ ॥

मुक्ति मुक्ति सब खोजत है, मुक्ति कहो कहँ पाइये जी।
मुक्ति को हाथ औ पाँव नहीं, किस भाँति सेति दिखलाइये जी।।
ज्ञान ध्यान की बात बूझिये, या मन को खूब समझाइये जी।
पलटू मुए पर किन्ह देखा, जीवत ही मुक्त हो जाइये जी।।

॥ शब्द १६, अरिल ॥

जो कोइ चाहै नाम सो नाम अनाम है ।
लिखन पढ़न में नाहिं निअच्छर काम है ॥
रूप कहौं अनरूप पवन अनरेख ते ।
अरे हाँ पलटू गैब दृष्टि से सन्त नाम वह देखते ॥

॥ शब्द १७ ॥

जो तुझको है चाह सजन को देखना ।
करम भरम दे छोड़ि जगत का पेखना[1] ॥
बाँध सुरत की डोरि शब्द में पिलेगा[2] ।
अरे हाँ पलटू ज्ञान ध्यान के पार ठिकाना मिलेगा ॥

॥ शब्द १८ ॥

अं अः औङै ओअं एक और नाहीं कोइ दूजा ।
एक ब्रह्म संसार करौं मैं किसकी पूजा ॥
समुझ पड़ा करतार करम को किया भगूरा[3] ।
अरे हाँ पलटू दुरमति भागी दूति, मिला जब सतगुरु पूरा ॥

॥ भाग ३, शब्द १९ ॥

पिया है प्रेम का प्याला । हुआ मन मस्त मतवाला ॥१॥
भया दिल होस से भाई । बेहोसी जगत विसराई ॥२॥
बिंद में नाद का मेला । उलटि के खेल यह खेला ॥३॥
जोग तजि जुक्ति को पाई । जुक्ति तजि रूप दरसाई ॥४॥
रूप तजि आपु को देखा । आपु में पवन की रेखा ॥५॥
उसी की गिरह संसारा । पलटू दास है न्यारा ॥६॥

(१) तमाशा । (२) घुसेगा । (३) कर्म को भगा दिया ।

॥ शब्द २० ॥

नहीं मुख राम गाओगे। आगे दुख बड़ा पाओगे ॥१॥
राम बिन कौन तारेगा । पकड़ जमदूत मारेगा ॥२॥
कबौं[1] सत्संग ना कीन्हा। भूखे को नाहिं कुछ दीन्हा ॥३॥
माया औ मोह में झूले। कुटुम परिवार लखि फूले ॥४॥
पुछै धर्मराज जब भाई। वचन मुख नाहिं कहि आई ॥५॥
पलटू दास लखि रोया। सुघर तन पाय के खोया ॥६॥

॥ शब्द २१॥

पलटू कहै साच कै मानौ । और बात झूठ कै जानौ ॥
जहवाँ धरती नहिं अकासा । चाँद सुरुज नाहीं परगासा ॥
जहवाँ ब्रह्मा विष्णु न जाहीं । दस अवतार न तहाँ समाहीं ॥
जहवाँ पवन जाय नहिं पानी । वेद कितेब मरम ना जानी ॥
आदि जोति ना बसै निरंजन । जहवाँ शून्य शब्द नहिं गंजन ॥
निरंकार ना उहाँ अकारा । सत्य शब्द नाहीं विस्तारा ॥
जहवाँ जोगी जोग न पावै । महादेव ना तारी लावै ॥
जहवाँ हद अनहद नहिं जावै । बेहद वह रहनी ना पावै ॥
जहवाँ नाहिं अगिनि परगासा । पाँच तत्त ना चलता स्वाँसा ॥
ब्रह्मज्ञान ना पहुँचै उहवाँ । अनभौ पद ना बोलै तहवाँ ॥
सात सर्ग अपवर्ग न कोई । पिण्ड उहाँ ब्रह्मण्ड न होई ॥
जहँवा करता करै न पावै । सिद्धि समाधि ध्यान ना लावै ॥
अजपा गिरा लंबिका[2] नाहीं । जगमग झिलमिल उहाँ न जाहीं ॥
सोहं सोहं उहाँ न बोलै । चलै न जुक्ति सुरति ना डोलै ॥
उहवाँ नहीं रहै अविनासी । पूरन ब्रह्म सकै ना जासी ॥
निर्भौ नाद नहीं वंकारा । निर्गुन रूप नहीं विस्तारा ॥
पलटू दास तहाँ चलि गया । आगे होइ पाछे ना भया ॥
पलटू देखि हाथ को मलै । आगे कहौं तो परदा खुलै ॥
दोहा– आदि न अंत मध्य नहि, रंग रूप नहिं रेख ।
गुप्त बात गुप्तै रही, पलटू तोपा देख ॥

(१) कभी । (२) हठयोग की एक क्रिया ।

॥ शब्द २२ ॥

छंद– भक्त के मैं कहूँ लच्छन साधू करहु विचारनं ।
प्रथम दासातन कर के सन्त से हित लावनं ॥
रहत चलिकै सन्त सेवा द्रव्य तन मन वारनं ।
तिलक कै स्नान पूजा कर्म में चित लावनं ॥
इक पहर एकांत ह्वै के सुन्न ध्यान लगावनं ।
इक पहर सुन स्त्रवन हरिजस अर्थ सहित मिलावनं ॥
पहर भरि कै नाद रसना सकल जंत्र बजावनं ।
इक पहर कै कर्मकिरिया रैन दिवस कटावनं ॥
चढ़ै गगन अकास गरजै द्वार दसम निकासनं ।
जोति झिलमिल झरै मोती हंस कँहै[1] चुगावनं ॥
सुरत से जब निरत होवै सुरत शब्द कहावनं ।
दिव्य दृष्टि विलोकि सरवन शब्द सुरत मिलावनं ॥
भूख और पियास निद्रा काम क्रोध विसारनं ।
आँख मूँदि के ध्यान लावै द्वार दसवाँ खोलनं ॥
नाम कै सुर नाद अनहद शब्द के झनकारनं ।
गैब कँहै स्त्रवण सूच्छम शब्द कहै सुनावनं ॥
भजन में है जुगल मारग विहंग और पपीलनं ।
पपील मद्धे सिद्ध कहिये विहंग संत कहावनं ॥
अनेक जन्म जब सिद्ध होवे अन्त सन्त कहावनं ।
सिद्ध से जब सन्त होवै आवागमन मिटावनं ॥
सन्त हरि के निकट रहते सिद्ध से हरि दूरिनं ।
सिद्ध चिन्ता रहत निसि दिन सन्त भजन अचिन्तनं ॥
बिन्दु में तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं ।
दास पलटू होय ऐसन सोई विस्नु सरूपनं ॥

साखी– राम नाम जेहि मुखन तें, पलटू होय प्रकास ।
तिनके पद वन्दन करौं, वो साहिब मैं दास ॥१॥
राम नाम जेहि उच्चरै, तेहि मुख देहुँ कपूर ।
पलटू तिनके नफर[2] की, पनही का मैं धूर ॥२॥

(१) को ही । (२) सेवक ।

राम का मिलना सहज है, सन्त का मिलना दूर ।
पलटू सन्त के मिले बिनु, राम से परै न पूरि ॥३॥

संत गरीबदासजी की वाणी

साखी– निरगुन निरमल नाम है, अवगत नाम अबंच ।
नाम रते सो धनपती, और सकल परपंच ॥१॥
ऐसा सतगुरु हम मिला, सुरत सिंधु की सैल ।
बजर पौरि[1] पट खोलि कर, ले गया झीनी गैल ॥२॥
सतगुरु के लच्छन कहूँ, अचल विहंगम चाल ।
हम अमरापुर ले गया, ज्ञान शब्द के नाल[2] ॥३॥
साहिब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये साध ।
ये तीनों अंग एक हैं, गति कछु अगम अगाध ॥४॥
साहब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये संत ।
धर धर भेष विलास अंग, खेलैं आद अरु अन्त ॥५॥
ऐसा सतगुरु सेइये, शब्द समाना होय ।
भव सागर में डूबते, पार लगावै सोय ॥६॥
ऐसा सतगुरु सेइये, सोहं शब्द मिलाप ।
तुरिया मध आसन करै, मेटै तीनों ताप ॥७॥
तुरिया पर पुरिया[3] महल, पार ब्रह्म का देश ।
ऐसा सतगुरु सेइये, शब्द विज्ञाना नेस[4] ॥८॥
सुन बेसुन से अगम है, पिंड ब्रह्मण्ड से न्यार ।
सब्द समाना सब्द में, अवगत वार न पार ॥९॥
सतगुरु को कुरबान जाँ, अजब लखाया देश ।
पारब्रह्म परवान है, निरालंब निज वेश ॥१०॥
अल्लह अविगत राम है, बेचगून[5] चित माहिं ।
सब्द अतीत अगाध है, निरगुन सरगुन नाहिं ॥११॥
अल्लह अविगत राम है, बेचगून निरबान ।
मेरा मालिक है सही, महल मढ़ीं नहिं थान ॥१२॥

(१) दरवाजा। (२) साथ। (३) बनाया। (४) निष्ठावान। (५) अनुपम।

बिन रसना ह्वै बंदगी, बिन चस्में दीदार ।
बिन सरबन बानी सुनै, निर्मल तत्त निहार ॥१३॥
अविनासी के नाम में, कौन नाम निज मूल ।
सुरत निरत से खोज ले, बास बड़ी अक[१] फूल ॥१४॥
ऐसा नाम अगाध है, निरभय निःचल पीर ।
अनहद नाद अखंड धुन, तन मन हीन शरीर ॥१५॥
ऐसा नाम अगाध है, बाजीगर भगवंत ।
निरसंध निरमल देखिया, वार पार नहिं अंत ॥१६॥
सोहं ऊपर और है, कोउ का जानै भेव ।
गोप गुसाईं गैब धुन, ताकी कर ले सेव ॥१७॥
सुरत लगै अरु मन लगै, लगै निरत धुन ध्यान ।
चार जुगन की बन्दगी, एक पलक परमान ॥१८॥
अधम उधारण भगति है, अधम उधारण नावँ ।
अधम उधारण संत हैं, जिनके मैं बल जावँ ॥१९॥
जाके नाद न बिन्दु है, घट मठ नहीं मुकाम ।
गरीबदास सेवन करै, आदि अनादं राम ॥२०॥
गगन गरज घन बरसहीं, बाजै दीरघ नाद ।
अमरापुर आसन करै, जिन्हके मते अगाध ॥२१॥
गगन गरज घन बरसहीं, बाजै अनहद तूर ।
लै लागी तब जानिये, सन्मुख सदा हजूर ॥२२॥
गगन गरज घन बरसहीं, दामिन खिमै अखण्ड ।
दास गरीब कबीर है, सकल दीप नौ खण्ड ॥२३॥
अनंत कोटि धुन होत है, अनंत कोटि झनकार ।
एती सुन जरना जरै, सो जोगी करतार ॥२४॥
निरगुन सरगुन सब कला, बहुरंगी वरियाम[२]।
पिंड ब्रह्माण्ड पूरन पुरुष, अवगत रमता राम ॥२५॥
शब्द अनाहद जो रतै, दूजा नहीं उपाव ।
सुन्न मंडल में रम रहा, ना जहँ करम लगाव ॥२६॥

(१) कि, या । (२) सर्वश्रेष्ठ ।

॥ अरिल ॥ (१)

मौला मगन मुरारि बिसंभर चीन्ह रे ।
दिल अंदर दीदार अरस दुरबीन रे ॥१॥
इला पिंगला फेर सुखमना ध्यावहीं ।
त्रिकुटि झरोखे बैठि परम पद पावहीं ॥२॥
झलकै सिंध अपार मुक्ति का धाम रे ।
अचल अगोचर देख पुरुष वरियाम रे ॥३॥
निकट निरंजन नूर जहूर जुहारिये ।
मीनी मारग खोज सिंधु यूँ फारिये ॥४॥
नैनों ही में लाल बिसाल अलेख है ।
अरे हाँ रे कहता दास गरीब रूप नहिं रेख है ॥५॥

॥ मंगल ॥ (१)

नारद पूरै नाद, सकल सुर आवहीं ।
सुन्न मंडल सतलोक, अगम घर छावहीं ॥१॥
जहाँ सेत धजा फहराहि, अरस[१] तम्बू तना ।
अनहद नाद अगाध, लाये नूरी[२] बना[३] ॥२॥
नाद तूर डफ झाँझ, संख मुरली बजै ।
मिरदंग झालर[४] भेरि, अजब तुरही सजै ॥३॥
रंग महल में रास, विलास अपार है ।
चलो सखी उस धाम, सु कंत हमार है ॥४॥
दस प्रकार अपार, अजब धुनि ध्यान है ।
दूलह बर बरियाम, पिया निःकाम है ॥५॥
बिषम दुहेली[५] बाट, पंथ नहिं पाइये ।
सुन्न मंडल सतलोक, कौन विधि जाइये ॥६॥
सुन्न मंडल सतलोक, दुलहिनी दूर है ।
सब्द अतीत पिछान, नूर भरपूर है ॥७॥
नूर रहा भरपूर, दिवाना देश है ।
दुलहिन दास गरीब, तखत जिस पेस[६] है ॥८॥

(१) अर्श-सहस्त्रदल कमल । (२) प्रकाशवन्त । (३) बन्ना-दूल्हा। (४) झाल। (५) मुश्किल । (६) आगे ।

संत यारी साहिब

॥ झूलना ॥ (२)

दोउ मूँदि के नैन अन्दर देखा, नहिं चाँद सुरज दिन राति है रे ।
रोसन[१] समा बिनु तेल बाती, उस जोति सों सबै सिफाति[२] है रे ॥
गोता मारि देखो आदम, कोउ अवर नाहिं सँग साथि है रे ।
यारी कहै तहकीक[३] किया, तू मलकुलमौत[४] की जाति है रे ॥

॥ कवित्त ॥ (२)

गहने के गढ़े तें कहीं सोना भी जातु है ।
सोनो बीच गहनो और गहनो बिच सोन है ॥
भीतर भी सोनो और बाहर भी सोन दीसै ।
सोनो तो अचल अंत गहनो को मीच[५] है ॥
सोन को तो जानि लीजै गहनो बरबाद कीजै ।
यारी एक सोनो ता में ऊँच कवन नीच है ॥

संत दूलनदासजी

॥ शब्द १ ॥

कोइ बिरला यहि विधि नाम कहै ॥ टेक ॥
मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै ॥१॥
होठ न डोलै जीभ न बोलै, सुरति धरनी दिढ़ाइ गहै ॥२॥
दिन और राति रहै सुधि लागी, यहि माला यहि सुमिरन है ॥३॥
जन दूलन सतगुरन बतायो, ताकी नाव पार निबहै ॥४॥

॥ शब्द २ ॥

बाजत नाम नौबति आज ।
ह्वै सावधान सुचित्त सीतल, सुनहु गैब आवाज ॥१॥
सुख कंद अनहद नाद सुनि, दुख दुरित क्रम भ्रम भाज ।
सतलोक बरसो पानि, धुनि निर्बान यहि मन बाज ॥२॥
तोहं चेत चित दै प्रेम मगन, अनंद आरति साज ।

(१) प्रकाश। (२) गुण । (३) ठीक-ठीक खोज ।
(४) यम। (५) मृत्यु।

घर राम आये जानि, भइनि सनाथ बहुरा राज ॥३॥
जगजीवन सतगुरु कृपा पूरन, सुफल भे जन काज ।
धनि भाग दूलन दास तेरे, भक्ति तिलक विराज ॥४॥

॥ शब्द ३ ॥

चलो चढ़ो मन यार महल अपने ॥ टेक॥
चौक चाँदनी तारे झलकैं, बरनत बनत न जात गने ॥१॥
हीरा रतन जड़ाव जड़े जहँ, मोतिन कोटि कितान बने ॥२॥
सुखमन पलँगा सहज बिछौना, सुख सोवो को करै मने ॥३॥
दूलनदास के साईं जगजीवन, को आवै यह जग सुपने ॥४॥

संत बुल्ला साहिब

॥ शब्द १ ॥

सोहं हंसा लागलि डोरि । सुरति निरति चढ़ु मनवाँ मोर ॥१॥
झिलमिल-झिलमिल त्रिकुटी ध्यान। जगमग-जगमग गगना तान ॥२॥
गहगह अनहद निसान । प्राण पुरुष तहँ रहत जान ॥३॥
लहरि लहरि उठि पछिंव घाट । फहरि फहरि चले उतर बाट ॥४॥
सेत बरन तहँ आपै आप । कह बुल्ला सोई माइ बाप ॥५॥

॥ शब्द २ ॥

सुखमनि सुरति डोरि बनाव ।
मिटिहैं सब कर्म जिव के, बहुरि इतहि न आव ॥१॥
पैठि अंदर देखु कंदर, जहाँ जिय को वास ।
उलटि प्रान अपान मेटो, सेत सबद निवास ॥२॥
गंग जमुना मिलि सरसुति, उमँगि शिखर बहाव ।
लवकंति बिजली दामिनी, अनहद्द गरज सुनाव ॥३॥
जीति आया आपुहीं, गुरु यारि सबद सुनाव ।
तब दास बुल्ला भक्ति ठानो, सदा रामहिं गाव ॥४॥

अरिल (१)

श्याम घटा घन घेरि चहूँ दिसि आइया ।
अनहद बाजे घोर जो गगन सुनाइया ॥
दामिनि दमकि जो चमकि त्रिवेनी न्हाइया ।
बुल्ला हृदय विचारि तहाँ मन लाइया ॥

॥ २ ॥

सामहिं उगवै सूर भोर ससि जागई ।
गंग जमुन के संगम अनहद बाजई ॥
अजपा जापहिं जाप सोहं डोरि लागई ।
बुल्ला ता में पैठि जोति में जागई ॥

संत गुलाल साहिब

उलटि देखो घट में जोति पसार ।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै, विगसि कमल कचनार ॥१॥
पैठि पताल सूर ससि बाँधौ, साधौ त्रिकुटी द्वार ।
गंग जमुन के वारपार बिच, भरतु है अमिय करार ॥२॥
इंगला पिंगला सुखमन सोधो, बहत शिखर-मुख धार ।
सुरति निरति ले बैठ गगन पर, सहज उठै झनकार ॥३॥
सोहं डोरि मूल गहि बाँधो, मानिक बरत लिलार ।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो, भरो है मुक्ति भंडार ॥४॥

सन्त सुन्दरदासजी

(सुन्दर-विलास)

॥ श्री गुरुदेव को अंग, मनहर छन्द ॥

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा को गहै ।
गुरु के प्रसाद भव दुःख विसराइये ॥
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीतिहु अधिक बाढ़ै ।
गुरु के प्रसाद राम नाम गुण गाइये ॥
गुरु के प्रसाद सब योग की युगति जानै ।
गुरु के प्रसाद शून्य में समाधि लाइये ॥
सुन्दर कहत गुरुदेव जू कृपालु होइ ।
तिन के प्रसाद तत्त्वज्ञान पुनि पाइये ॥

॥ मनहर छन्द ॥

गोविन्द के किये जीव, जात है रसातल को ।
गुरु उपदेशै सो तो, छूटै यम फन्द तैं ॥
गोविन्द के किये जीव, वश परे कर्मन के ।
गुरु के निवारे सूँ, फिरत है स्वछंद तैं ॥

गाविन्द के किये जीव, डूबत भवसागर में ।
सुन्दर कहत गुरु, काढ़ै दुख द्वन्द्व तें ॥
औरहू कहाँ लौं कछु, मुख तें कहूँ बनाय ।
गुरु की तो महिमा, अधिक है गोविन्द तें ॥

॥ ज्ञान-समुद्र, पमंगल छन्द ॥

शब्दब्रह्म परिब्रह्म, भली विधि जानिये ।
पाँच तत्त्व गुण तीन, मृषा[1] करि मानिये ॥
बुद्धिवन्त सब सन्त, कहैं गुरु सोइ रे ।
और ठौर शिष जाइ, भ्रमे जिनि कोइ रे ॥

॥ चाणक को अंग, इंदव छन्द ॥

कोउक जात प्रयाग बनारस, कोउ गया जगनाथहि धावै ।
कोउ मथुरा बदरी हरिद्वार जु, कोउ गंगा कुरुक्षेत्र नहावै ॥
कोउ पुष्कर ह्वै पँच तीरथ, दौरिहि दौरि जु द्वारका आवै ।
सुन्दर वित्त गड्यो घर माहिंसु, बाहिर ढूँढ़त क्यूँ करि पावै ॥

॥ सांख्य ज्ञान को अंग, मनहर छन्द ॥

क्षिति जल पावक, पवन नभ मिलि करि ।
शब्द अरु सपरस, रूप रस गंध जू ॥
श्रोत्र त्वक चक्षु घ्राण, रसना रस को ज्ञान ।
वाक पाणि पाद पायु[2], उपस्थहि[3] बंध जू ॥
मन बुद्धि चित्त अहंकार, ये चौबीस तत्त्व ।
पंचविंश जीवतत्त्व, करत है द्वन्द्व जू ॥
षटविंश जानु ब्रह्म, सुन्दर सु निहकर्म ।
व्यापक अखण्ड एक, रस निरसंध जू ॥

-------- :: ०:: -------

॥ मनहर छन्द ॥

ब्रह्म तें पुरुष अरु, प्रकृति प्रगट भई ।
प्रकृति तें महतत्त्व, पुनि अहंकार है ॥
अहंकारहू तें तीन गुण-सत्त्व रज तम ।
तमहू तें महाभूत, विषय पसार है ॥

(१) मिथ्या, झूठ । (२) गुदा । (३) मूत्रेन्द्रिय ।

रजहू तें इन्द्री दश, पृथक पृथक भई।
सत्त्वहू तें मन आदि, देवता विचार है॥
ऐसे अनुक्रम करि, शिष्य सूँ कहत गुरु।
सुन्दर कहत यह, मिथ्या भ्रम जार है॥

-- :: ० :: --

तू तौ कछु भूमि नाहिं, अप तेज वायु नाहिं।
व्योम पंच विष नाहिं, सो तौ भ्रम कूप है॥
तू तौ कछु इन्द्रिय रु, अन्तःकरण नाहिं।
तीन गुण तू तौ नाहिं, न तौ छाहिं धूप है॥
तू तौ अहंकार नाहिं, पुनि महतत्त्व नाहिं।
प्रकृति पुरुष नाहिं, तू तौ स्वअनूप है॥
सुन्दर विचार ऐसे, शिष्य सूँ कहत गुरु।
नाहिं नाहिं कहत रहै, सोई तेरो रूप है॥

--:: ० :: --

भूमि पर अप आपहू के, परे पावक है।
पावक के परे पुनि, वायुहू बहत है॥
वायु के परे व्योम, व्योमहू के परे इन्द्री दश।
इन्द्रिन के परे अन्तःकरण रहत है॥
अन्तःकरण पर, तीनों गुण अहंकार।
अहंकार पर, महतत्त्व कूँ लहत है॥
महतत्त्व पर मूल माया, माया पर ब्रह्म।
ताहितें परातपर, सुन्दर कहत है॥

-- : : ० : : --

अन्नमयकोश सो तौ, पिण्ड है प्रकट यह।
प्राणमयकोश पंच, वायु ही बखानिये॥
मनोमयकोश पंच, कर्म इन्द्रि है प्रसिद्ध।
पंच ज्ञान इन्द्रिय, विज्ञानमय जानिये॥
जाग्रते स्वप्न विषे, कहिये चत्वार कोश।
सुषुपति माँहि कोश, आनन्दमय मानिये॥

पंचकोश आतमा को, जीव नाम कहियत।
सुन्दर शांकर-भाष्य, सांख्य ये बखानिये॥

-- :: ० :: --

जैसे व्योम कुम्भ के, बाहिर रु भीतर है।
कोऊ नर कुम्भ कूँ, हजार कोश लै गयो॥
ज्यूँ ही व्योम इहाँ त्यूँ ही, उहाँ पुनि है अखण्ड।
इहाँ न विछोह, न वहाँ मिलाप के भयो॥
कुम्भ तो नयो पुरानो, होइ के विनशि जाइ।
व्योम तो न ह्वै पुरानो, न तो कछू ह्वै नयो॥
तैसे ही सुन्दर देह, आवै रहै नाश होइ।
आतमा अचल, अविनाशी है अनामयो॥

-- :: ० :: --

॥ मनहर छन्द ॥

भावै देह छूटि जाहु, काशी माहिँ गंगा तट।
भावै देह छूटि जाहु, क्षेत्र मगहर में॥
भावै देह छूटि जाहु, विप्र के सदन मध्य।
भावै देह छूटि जाहु, श्वपच के घर में॥
भावै देह छूटै देश, आरय अनारय में।
भावै देह छूटि जाहु, वन में नगर में॥
सुन्दर ज्ञानी के कछु, संशय रहत नाहिं।
स्वरग नरक सब, भागि गयो भरमें॥
भावै देह छूटि जाहु, आज ही पलक माहिँ।
भावै देह रहु चिरकाल, युग अन्त जू॥
भावै देह छूटि जाहु, ग्रीषम पावस ऋतु।
शरद शिशिर शीत, छूटत वसंत जू॥
भावै दक्षिणायनहु, भावै उत्तरायणहु।
भावै देह सर्प सिंह, बिजली हनत जू॥
सुन्दर कहत एक, आतमा अखण्ड जानि।
याही भाँति निरसंशै, भये सब सन्त जू॥

[आत्म-अनुभव को अंग]

॥ इंदव छंद ॥

है दिल में दिलदार सही अखियाँ, उलटी करि ताहि चितैये ।
आब[1] में खाक[2] में बाद[3] में आतश[4], जान में सुन्दर जानि जनैये ॥
नूर[5] में नूर है तेज में तेजहि, ज्योति में ज्योति मिले मिलि जैये ।
क्या कहिये कहते न बने कछु, जो कहिये कहते हि लजैये ॥१॥
व्योम को व्योम अनंत अखण्डित, आदि न अंत सुमध्य कहाँ है ।
को परमान करै परिपूरन, द्वैत अद्वैत कछू न जहाँ है ॥
कारण कारज भेद नहीं कछु, आप में आपहिं आप तहाँ है ।
सुन्दर दीसत सुन्दर माहिं सु, सुन्दरता कहि कौन उहाँ है ॥२॥

॥ मनहर छन्द ॥

जबही जिज्ञासा होइ चित्त एक ठौर आनि,
मृग ज्यूँ सुनत नाद श्रवण सो कहिये।
जैसे स्वाति बूँदहू कूँ चातक रटत पुनि,
ऐसेहि मनन करै कब बूँद लहिये।।
राति में चकोर जैसे चन्द्रमा को धरै ध्यान,
ऐसे जानी निदिध्यास दृढ़ करि गहिये।
यहै अनुभव यहै कहिये साक्षातकार,
सुन्दर पारे ते गलि पानी होइ रहिये॥१॥

[ज्ञान-समुद्र; पराभक्ति-वर्णन]

॥ छप्पय छन्द ॥

श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै ।
रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै ॥
नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै ।
अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढ़ावै ॥
बिनु शीश नवे जहँ सेव्य को, सेवक भाव लिये रहै ।
मिलि परमातम सों आतमा, परा भक्ति सुन्दर कहै ॥

(१) पानी । (२) मिट्टी । (३) हवा । (४) अग्नि । (५) रोशनी ।

॥ दोहा ॥

तुरिया साधन ब्रह्म को, अहं ब्रह्म सो होय ।
तुरियातीत अनुभव यहै, मैं तूँ रहै न कोय॥

परमहंस लक्ष्मीपतिजी महाराज के दोहे

अनहद अपने साथ है, अजपा ताको नाम ।
अमल करो अपनाय के, अमर नाम घर ठाम ॥
आतम में आतम लखो, आठ पहर लौलाय ।
आनन्द रस तब चाखि के, आवागमन नसाय ॥
चंचल चित्त को थीर कर, चौथी में चित लाव ।
चन्द्र सुधा रस चाखि के, चिन्तामणि पद पाव ॥
शब्द ब्रह्म साध्यो नहीं, शान्ति सील नहिं कीन ।
श्रद्धा अरु संतोष बिन, शब्द शक्ति सब हीन ॥

–आकारादि दोहावली से

राम विमल रस औषधी, रहत सन्त के पास ।
लक्ष्मीपति अनुपान से, करत व्याधि को नास ॥
राम आदि अरु अंत है, मध्य राम परिपूर ।
लछन सन्त को लखि परत, दुर्जन को अति दूर ॥

–राम रत्नावली से

शिवनारायण स्वामी के वचन

॥ ग्रन्थ शब्दावली से ॥

(१)

तू ऐसो मन गगन में मगन रहो ॥
आवत जात उर्ध मुख पीवत संसा दाम दियो ।
सुरति सम्हारि ब्रह्म परगासो द्वादस मध्य गयो ॥
इंगला पिंगला दुइ नारि सिधारो सुषमन आनि दियो ।
ताटक नाटक घंट बजावत श्रवण सुधारि धरो ॥
शब्द अनाहत होत महाधुनि मकरा तार दियो ।
शिवनारायण बड़े भाग्य सों अजपा जाप पायो ॥

(२)

सुरतिया हो नैना से न टरै ।
यह सुरतिया मेरो मन हर लीन्हा नाहिं जरै न मरै ॥
जब देखत तब सन्मुख दरसै क्रोटिन रूप धरै ।
शिवनारायण कहि समुझावत बिरलहि सूझि परै ॥

(३)

मन रे तू लागि रहो यहि ओर ॥
सार शब्द कपाल भीतर होत अनहद शोर ।
सुनि समुझहिं मन मुदित नेहारत पलक परो जनि भोर ॥
मिलै गंगा सहित जमुना सुषमना की ओर ।
उलटि नैन निहारो भीतर क्रोटिन होत इंजोर ॥
सुन्न आसन आपु साईं बसन रँग रस भोर ।
शिवनारायण कहि समुझावल चितवत नैन के कोर ॥

(४)

निहारो यारो गुरु मूरति की ओर ।
गुरु मूरति सूरति बिच निरखो तब उर होत इंजोर ॥
छूटत कर्म तार सब टूटत फूटत कठिन कठोर ।
शुभ अरु अशुभ कर्म ना लागे जागि धरो गृह चोर ॥
ससि ना सूर्य दिवस ना रजनी नहीं शाम नहिं भोर ।
आप देखै तो कर्म मिटावत शिवनारायण ओर ॥

॥ ग्रन्थ गुरु अन्यास से ॥

दोहा– निसि बासर से ध्यान धरु, पलक न लावहु भोर ।
राह समारहु सुरति सों, तब पहुँचत सारशब्द की ओर ॥

चौपाई– द्वादस अंगुली से ध्यान परवाना ।
पैसत सोई जन चतुर सुजाना ॥

-- :: ० :: --

॥ चोर-खंड ॥

चौपाई- मारत सेंध प्रीति अति आवै ।
मगन रूप से ध्यान लगावै ॥
द्वादस अंगुल सेंध परमाना ।
पैसत सेइ जे चतुर सुजाना ॥

--- :: ० :: ---

॥ ज्ञान चौंतीसा ॥

मूल है मस्तक पर सुन में गुपुत ।
पिया पहिचाने जो जाने जुगुत ॥
कलबुद में करसमा[1] कहर[2] ।
जरूर से जरा उड़ाना है लहर ॥
रेखे ना रूपे सरूपे ना अंग ।
चौ जुग का जुग है जगत है पतंग ॥
लागी है कुंजी केवाड़ी ताला ।
लखाई हंसा जाको गुरु मिला ॥
बरता है बाती बिना तेल से ।
खेलता है खेलवाड़ी बिना खेल से ॥
सकल है निरंकार सुनकार सुझता ।
काहू का डर नहीं सो जम से लड़ता ॥
सुनके मंदिल में अनहद के धमक ।
दामिन में दो मिल में बिजुली की छटक ॥
छटक जोति चाँद सुरज के शिवनारायण ।
आजमाबै जो कोई करेगा धियान ॥

॥ चाँचरी ॥

चौपाई– सुनहु साधु तुम मन चित लाई ।
भोजन भेद कहूँ समझाई ॥
जीव पाले ओ मारे नाहीं ।
गो विप्र माने मन माहीं ॥
पर की नारि मातु सम धरहू ।
बिना सुवास के भोजन करहू ॥
गुरु के वचन सदा मन मानो ।
संत साधु से प्रीति लगानो ॥
राम नाम निरंतर से गावे ।
राम का द्रोही गुरु न बचावे ॥
गुरु का द्रोही सरन न पावै ।
मन बच करम से ध्यान लगावै ॥
नेम पूजा में दुनिया अटकी ।
सारी भगति हिरदे से खटकी ॥

(१) करतूत । (२) जुल्मी, अचरजी ।

पाँच तत्त के माला लाओ ।
पाँच बीस सब सखी बनाओ ॥
तीन गुनन के रोटी खाओ ।
सुखमनि घाट में ताड़ी लाओ ॥
आगे जोति एक झिलमिल बारो ।
सुरति डोरि ताकि के धारो ॥
द्वादस बीच एही परमाना ।
होत संत जो करे पयाना ॥
संसा सोच सकल विसराऊ ।
भजहु नाम अमर पद पाऊ ॥

॥ ग्रन्थ लौ परमाना ॥

शब्द निरभै, शब्द निरमल है। शब्द आदि और अन्त,
शब्द संत का मंत, शब्द सुरति तार, शब्द है निरधार ।
शब्द से शब्द निरखे, शब्द उतरे पार ॥
शब्द फल गुन करम, शब्द वेद का धरम ।
शब्द हिया महँ शब्द बेधे, शब्द जानत मरम ॥
शब्द निरगुन सरगुन सरूप, शब्द वक्ता चूप ।
शब्द हिया महँ शब्द बेधे, शब्द निरखे रूप ॥
शब्द आवे जाय, शब्द सल* समाय ।
शब्द रूप सरूप अपना, शब्द रूप लखाय ॥
शब्द अण्ड अरु खण्ड, शब्द भरि ब्रह्मण्ड ।
शब्द गुरु सिष साधक, शब्द से प्रचण्ड ॥
शब्द सायर सूर, शब्द बाजे तूर ।
शब्द होय मन पूर, तब सखी अनन्त हजूर ॥
शब्द सब विधि शक्ति, शब्द सेवा भक्ति ।
शब्द जागता ज्योति, शब्द गति और मुक्ति ॥
शब्द वेद विचार, शब्द मिले तार ।
शब्द मथि कर शब्द पीवे, शब्द उतरे पार ॥
शब्द आदि अरु अंत, शब्द से प्रसंग ।
शब्द सखी अनन्त, शिवनारायण कन्त ॥

* शल = भाला।

दोहा– संत शब्द से सकल सभ, भये आप आय ।
शब्द सब मो मिलि रहे, शब्द सुरति धरि जाय ॥
शब्द आए याद नहिं, शब्द रूप सरूप ।
शब्द आपहु आपु है, शब्द नाम के रूप ॥

॥ ग्रन्थ बीजक मूल ॥

दोहा– आसन पदुम लगाय के, सुरत सँवारहु बाट ।
नयन नासिका बीच रखु, उतरे त्रिकुटी घाट ॥

॥ ग्रन्थ ब्रह्म-प्रकाश ॥

चौपाई– द्वादश अंगुल अग्र परवाना ।
नयन नासिका सन्मुख जाना ॥

॥ ग्रन्थ हुकुमनामा, मुरदा का जवाब ॥

दोहा– मुर्दा मन ठहराय ले, अंते मति कहिं जाउ ।
अदग रूप देखि आपना, दिल चाहे सो खाउ ॥
पंथ बराबरि सामने, निराधार धरु राह ।
राह रूप निज चढ़ि चलो, रस अनन्त गुन खाह ॥

॥ ग्रन्थ पाप-खण्डन ॥

नयन नासिका के आगे दोनों दृष्टि इकट्ठा कर दृष्टि अपना देखे,
यही अंजोर जो है सोई दृष्टि है, सोई रूप है, सोई शब्द है, सोई नाम है ।
चौपाई– शिवनारायण सुनो दे काना । शब्द डोरि है नाम अपाना ॥
सोहं तार का खबर जो जाना । सोई पावे नाम अपाना ॥
जपे नाम गहे मन लाई । आपु देखे घर अपनो जाई ॥
शब्द सुरति के तार लगाई । तेहि चढ़ि आपन देश को जाई ॥
दोहा– लगा तार है शब्द का, जोउ सुरति धरि होइ।
रवि के रस्मि[१] समेटि के, गगन विराजै सोइ॥
नयन नासिका आगरे, खड़ा सुरति गहो तार ।
मन के राखे हाथ में, देखते लागु न बार॥
चौ०– तन मन समेटि के एक बनावे । शब्दे ही ते शब्द मिलावे॥
मिले शब्द में तब होय न्यारा । जरा मरन से होत निबेरा॥
शब्द है देश शब्द रूप होई । शब्द आपहु आप कहाई॥
सब मिलि के एक होई । कहाँ हम कहाँ तुम कहाई॥

१. किरण

दोहा- शब्द आदि अरु अंत है, शब्द रूप सरूप।
शब्द आपही आप है, शब्द नाम का रूप॥

ग्रन्थ ३ बानी-सभ मत मथि महरमी होय, देखि परखि सब बात।
ब्रह्मज्ञान मन बसि करे, तब देखो निज गात॥

●

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज

॥ दोहावली से ॥

हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट[१] सम्पुट[२] लसत, तुलसी ललित[३] ललाम[४]॥
राम नाम कलि काम तरु, राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग, गुरु पद-पंकज-रेनु॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार॥
वेष विसद बोलनि मधुर, मन कटु करम मलीन।
तुलसी राम न पाइये, भये विषय-जल-मीन॥
ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकाश।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥
पर-सुख सम्पति देखि सुनि, जरहिं जे जड़ बिनु आगि।
तुलसी तिनके भाग तें, चलै भलाई भागि॥
तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोइ।
तिनके मुँह मसि लागिहैं, मिटिहि न मरिहै धोइ॥
सहि कुबोल साँसति सकल, अँगह अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गये सुजान॥
पात पात कै सींचवो, बरी बरी के लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके[५] कहु को न॥

(१) सोना। (२) डब्बा। (३) सुन्दर। (४) रत्न, भूषण। (५) ठगे।

॥ विनय-पत्रिका से, राग रामकली ॥

ऐसी आरती राम की करहि मन।
हरन दुख द्वन्द्व गोविन्द आनन्द घन॥१॥
अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा,
वसत इति वासना धूप दीजै।
दीप निज बोध गत क्रोध मद मोह तम,
प्रौढ़ अभिमान चित्तवृत्ति छीजै॥२॥
भाव अतिसय विसद प्रवर नैवेद्य सुभ,
श्री रमन परम सन्तोषकारी।
प्रेम ताम्बूल गत सूल संसय सकल,
विपुल भव वासना-बीज हारी॥३॥
असुभ-सुभ कर्म घृत पूर्न दस बर्तिका,
त्याग-पावक सतोगुन प्रकासं।
भक्ति वैराग्य विज्ञान दीपावली,
अर्पि नीरांजनं[१] जगनिवासं॥४॥
विमल हृदि-भवनकृत सान्तिपर्यंक[२] सुभ,
सयन विश्राम श्रीराम राया।
छमा करुना[३] प्रमुख तत्र परिचारिका[४],
यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥५॥
आरती निरत[५] सनकादि स्रुति सेष सिव,
देवरिषि अखिल[६] मुनि तत्त्व दरसी।
जो करइ सो तरइ परिहरइ काम सब,
वदत इति अमल मति दास तुलसी॥६॥

॥ राग विलावल ॥

माधव मोह फाँस क्यों टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय, अभिअन्तर ग्रन्थि न छूटै॥१॥

(१) आरती उतारना। (२) पलंग। (३) दया। (४) दासी। (५) विषेश रत। (६) सब।

घृत पूरन कराह अन्तर्गत, ससि प्रतिबिम्ब दिखावै।
ईंधन[1] अनल लगाइ कलप सत, अवटत नास न पावै॥२॥
तरु कोटर महँ बस विहंग, तरु काटे मरइ न जैसे।
साधन करिय विचारहीन, मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥३॥
अन्तर मलिन विषय मन अति, तनु पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन, बलमीक[2] विविध विधि मारे॥४॥
तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु, विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर-निधि[3], पार न पावइ कोई॥५॥

-- :: ० :: --

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयाल दास हित, मोह न छूटइ माया॥१॥
वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन, भव पार न पावइ कोई।
निसि गृह-मध्य दीप की बातन्हि, तम निवृत्त नहिं होई॥२॥
जैसे कोउ एक दीन दुखित अति, असन बिना दुख पावै।
चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह, लिखे न विपति नसावै॥३॥
षटरस बहु प्रकार व्यंजन कोउ, दिन अरु रैन बखानै।
बिनु बोले सन्तोष जनित सुख, खाइ सोई पै जानै॥४॥
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु विषय आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जग जोनि, भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥५॥

-- :: ० :: --

चौपाई—सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्री रघुवीर चरन लय लागै॥
देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज सरूप अनुरागै॥
छंद— अनुराग सो निज रूप जो, जग तें विलच्छन देखिये।
सन्तोष सम सीतल सदा दम, देहवन्त न लेखिये॥
निर्मल निरामय एकरस तेहि, हरष सोक न व्यापई।
त्रयलोक पावन सो सदा, जाकी दसा ऐसी भई॥

॥ राग विलावल ॥

ते नर नरक-रूप जीवत जग, भव-भंजन पद विमुख अभागी॥

(१) जलावन। (२) बिल। (३) भयानक संसार-समुद्र।

निसि वासर रुचि पाप असुचि मन, खल मति मलिन निगम पथ त्यागी॥१॥
नहीं सतसंग भजन नहिं हरि को, स्रवन न राम-कथा अनुरागी।
सुत वित दार भवन ममता निसि, सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥२॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि, सठ हठि पियत विषय-विष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन, जनमत जगत जननि दुख लागी॥३॥

॥ राग सोरठ ॥

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार, जानइ सो जेहि बनि आई॥१॥
जो जेहि कला कुसल ता कहँ, सो सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह, सुरसरी बहइ गज भारी॥२॥
ज्यों सर्करा मिलइ सिकता महँ, बल तें नहिं बिलगावै।
अति रसज्ञ सूछम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै॥३॥
सकल दृस्य निज उदर मेलि, सोवइ निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरि-पद अनुभवइ परम सुख, अतिसय द्वैत वियोगी॥४॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास एहि दसा हीन, संसय निर्मूल न जाहीं॥५॥

॥ राग असावरी ॥

श्री हरि गुरु पद-कमल भजहिं, मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि, सुख-निधान भगवान॥१॥
परिवा प्रथम प्रेम बिनु, राम मिलन अति दूर।
जद्यपि निकट हृदय निज, रहै सकल भरपूर॥२॥
दुइज द्वैत-मत छाड़ि चरहि[1], महि मंडल धीर।
विगत मोह माया मद, हृदय सदा रघुवीर॥३॥
तीज त्रिगुन पर परम पुरुष, श्री रमन मुकुन्द[2]।
गुन सुभाव त्यागे बिना, दुरलभ परमानन्द॥४॥
चौथ चारि परिहरहु, बुद्धि मन चित अहंकार।
विमल विचार परमपद, निज सुख सहज उदार॥५॥

(१) विचरते हैं। (२) मोक्षदाता।

पाँचइ पाँच परस रस, सब्द गन्ध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भवकूप ॥६॥
छठि षड[१] वरग[२] करिय जय, जनक-सुता पति लागि।
रघुपति कृपा वारि बिनु, नहिं बुझाइ लोभागि ॥७॥
सातइँ सप्तधाातु[३] निरमित[४] तनु, करिय विचार।
तेहि तनु केर एक फल, कीजिये पर उपकार ॥८॥
आठइँ आठ प्रकृति[५] पर, निरविकार श्री राम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय वसहिं बहु काम ॥९॥
नवमी नवद्वार-पुर वसि, न आपु भल कीन।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत, दारुन दुख दीन ॥१०॥
दसइँ दसहु कर संजम, जौं न करिय जिय जानि।
साधन वृथा होइ सब, मिलहिं न सारँग पानि ॥११॥
एकादशी एक मन, बस कैसहुँ करि जाइ।
सो व्रत कर फल पावइ, आवागमन नसाइ ॥१२॥
द्वादसि दान देहु अस, अभय होय त्रय लोक।
परहित-निरत सुपारन, बहुरि न व्यापइ सोक ॥१३॥
तेरसि तीन अवस्था, तजहु भजहु भगवन्त।
मन क्रम वचन अगोचर, व्यापक[६] व्याप्य[७] अनन्त ॥१४॥
चौदसि चौदह भुवन, अचर चर रूप गोपाल।
भेद गये बिनु रघुपति, अति न हरहिं जग जाल ॥१५॥
पूनो प्रेम भगति रस, हरि रस जानहिं दास।
सम सीतल गत-मान, ज्ञान-रत विषय उदास ॥१६॥
त्रिविध सूल होली जारिय, खेलिय अस फागु।
जौं जिय चहसि परम सुख, तौ यहि मारग लागु ॥१७॥
स्तुति पुरान बुध सम्मत, चाँचरि चरित मुरारि।

(१) छह। (२) वर्ग, जाति। षडवरग-छह जातियों (वा किस्मों) के विकार-काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। (३) सात धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य)। (४) बना हुआ। (५) प्रकृति-मिट्टी, जल, अग्नि, हवा, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। (६) फैला हुआ। (७) व्याप्त (वा भरा हुआ) होने लायक, मोहात।

करि विचार भव तरिय, परिय न कबहुँ जमधारि ॥१८॥
संसय समन दमन दुख, सुख निधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं नहिं, करिय उपाय अनेक ॥१९॥
भवसागर कहँ नाव सुद्ध, सन्तन्ह के चरन।
तुलसीदास प्रयास बिनु, मिलहिं राम दुख हरन ॥२०॥

॥ राग कल्याण ॥

एहि तें मैं हरि ज्ञान गँवायो।
परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहिं, बाहर फिरत विकल भय धायो ॥१॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद, अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल, परम सुगन्ध कहाँ तें आयो ॥२॥
ज्यों सर विमल वारि परिपूरन, ऊपर कछु सेवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजिहौं सठ, चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ॥३॥
व्यापित त्रिविध ताप तन दारुन, तापर दुसह दरिद्र सतायो।
अपने धाम नाम सुरतरु तजि, विषय बबूर बाग मन लायो ॥४॥
तुम्ह सम ज्ञान निधान मोहि सम, मूढ़ न आन पुरानन्हि गायो।
तुलसिदास प्रभु यह विचारि जिय, कीजै नाथ उचित मन भायो ॥५॥

सूरदासजी महाराज के वचन

दोहा—नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को वास।
अविनासी विनसै नहीं, हो सहज जोति परकास।
(कल्याण के वेदान्त-अंक, १९९३ वि० सं०, पृ० ५८५ में उद्धृत)

॥ सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, राग कान्हरा, पद्य २, भक्त-अंग ॥

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगहिं मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ॥
परम स्वाद सबही जू निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातें 'सूर' सगुन लीला पद गावै ॥

॥ राग विलावल ॥

अपने जान मैं बहुत करी।
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी, सो स्वामी समुझी न परी ॥
दूरि गयो दरसन के ताईं, व्यापक प्रभुता सब विसरी।

मनसा वाचा कर्म अगोचर, सो मूरति नहिं नैन धारी ॥
गुण बिनु गुणी स्वरूप रूप बिनु, नाम लेत श्री स्याम हरी।
कृपा सिन्धु अपराध अपरमित, क्षमो 'सूर' तें सब बिगरी ॥५०॥

॥ राग कान्हरा ॥

ताते सेइये यदुराई।
सम्पति विपति विपति सौं सम्पति देह धरे को यहै सुभाई ॥
तरुवर फूलै फलै परिहरै अपने कालहिं पाई।
सरवर नीर भरै पुनि उमड़ै सूखे खेह उड़ाई ॥
द्वितिय चन्द्र बाढ़त ही बाढ़े घटत घटत घटि जाई।
सूरदास सम्पदा आपदा जिनि कोऊ पतिआई ॥

॥ स्कन्ध २, राग बिहाग ॥

जो मन कबहुँक हरि को जाँचै ।
आन प्रसंग उपासना छाड़ै मन वच क्रम अपने उर साँचै ॥
निसिदिन स्याम सुमिरि यश गावै कल्पन मेटि प्रेम रस पाचै।
यह व्रत धरै लोक में विचरै सम करि गनै महामणि काँचै ॥
शीत उष्ण सुख दुख नहिं मानै हानि भये कछु सोच न राचै।
जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै ॥

॥ राग केदारा ॥

जा दिन सन्त पाहुने आवत ।
तीरथ कोटि अन्हान करे फल दरसन ते ही पावत ॥
नेह नयो दिन दिन प्रति उनको चरन कमल चित लावत।
मन वच कर्म और नहिं जानत सुमिरत औ सुमिरावत ॥
मिथ्यावाद उपाधि रहित ह्वै विमल विमल जस गावत।
बन्धन कठिन कर्म जो पहिले सोऊ काटि बहावत ॥
संगति रहै साधु को अनुदिन भव दुख दूरि नसावत।
सूरदास या जनम मरण तें तुरत परम गति पावत ॥

॥ राग नट ॥

अपुनपौ आपुन ही विसर्‌यो ।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूकि मर्‌यो ॥
हरि सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृन सूँघि मर्‌यो।

ज्यों सपने में रंक भूप भयो तस करि अरि पकर्‌यो ॥
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्‌यो।
जैसे गज लखि फटिक शिला में दसननि जाइ अर्‌यो ॥
मरकट मूठि छाँड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्‌यो।
सूरदास नलनी को सुवटा कहि कौने जकर्‌यो ॥२६॥

॥ राग नट ॥

जौं लौं सत स्वरूप नहिं सूझत ।
तौं लौं मृग मद नाभि विसारे फिरत सकल वन बूझत ॥
अपनो ही मुख मलिन मन्दमति देखत दर्पन माहिं।
ता कालिमा मेटिबे कारन पचत पखारत छाहिं ॥
तेल तूल पावक पुट भरि धरि बनै न बिना प्रकासत।
कहत बनाइ दीप की बतियाँ कैसे धौं तम नासत ॥
सूरदास यह गति आये बिनु, सब दिन गये अलेखे।
कहा जाने दिनकर की महिमा, अन्ध नयन बिनु देखे ॥२५॥

(पुनः दूसरा पाठ–ग्रन्थ सूरपंचरत्न, विनय ४८, पृ० २२, राग नट, संकलयिता–लाला भगवान दीन, प्रकाशक–रामनारायण लाल पब्लिशर तथा बुक्सेलर–इलाहाबाद)

जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत ।
तौं लौं मनु मणि कण्ठ विसारे, फिरत सकल वन बूझत ॥
अपनो ही मुख मलिन मन्द मति, देखत दरपन माँह।
ता कालिमा मेटिबे कारण, पचत पखारत छाँह ॥
तेल तूल पावक पुट भरि धरि, बनै न दिया प्रकासत।
कहत बनाय दीप की बातें, कैसे हो तम नासत ॥
सूरदास जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखे।
कह जाने दिनकर की महिमा, अन्ध नयन बिनु देखे ॥

॥ स्कन्ध ४, राग नया ॥

अपुनपौ आपुन ही में पायो।
शब्दहिं शब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ॥
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायो।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तन छायो ॥

राज कुँआर कण्ठे मणि भूषण, भ्रम भयो कह्यो गँवायो।
दियो बताइ और सतजन तब, तनु को पाप नसायो॥
सपने माहिं नारि को भ्रम भयो, बालक कहूँ हिरायो।
जागि लख्यो ज्यों को त्यों ही है, ना कहुँ गयो न आयो॥
सूरदास समुझे की यह गति, मन ही मन मुसकायो।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यों गूँगो गुर खायो॥

॥ स्कन्ध ६, राग सारंग ॥

गुरु बिनु ऐसी कौन करै।
माला तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरै॥
भव सागर से बूड़त राखै दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में लै उधरै॥
स्कन्ध ७-हरि की भक्ति करै जो कोई। सूर नीच सों ऊँच सु होई॥८॥

॥ कल्याण-साधनांक, पृ० ५८५ ॥

अबके माधव मोहि उधरि।
मगन हौं भव-अंबु-निधि में, कृपा-सिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में, गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सेंवार॥
काम क्रोध समेत तृष्णा, पवन अति झक झोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत, नाक[1] नौका ओर॥
थक्यो बीच बेहाल विहवल, सुनहु करुणा मूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु, 'सूर' ब्रज के कूल॥

॥ संत-संग्रह, भाग २ से उद्धृत ॥

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरवर के, सबै पात झड़ जैहैं॥
या देही का गर्व न करिये, स्यार काग गिध खइहैं।
तीन नाम तन विष्ठा कृम होय, नातर खाक उड़इहैं॥

(१) आकाश।

कहाँ वह नैन कहाँ वह शोभा, कहँ रंग रूप दिखइहैं।
जिन लोगन सों नेह करत हौ, सो तोहि देखि घिनइहैं॥
जिन पुत्रन को बहु विधि पाल्यो, देवी देव मनइहैं।
तेहि ले बाँस दियो खोपड़ी में, शीश फाड़ि बिखरइहैं॥
घर के कहत सबेरे काढ़ो, भूत होय घर खइहैं।
अजहूँ मूढ़ करो सत संगत, सन्तन में कछु पइहैं॥
नर वपु धर जो जन नहिं गुरु के, जम के मारग जइहैं।
सूरदास भगवन्त भजन बिन, वृथा सो जनम गँवइहैं॥

प्रसिद्ध प्रकाण्ड विद्वान श्रीदेवतीर्थ स्वामीजी (श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी) के वचन

(१)

अनगढ़ मत है पूरों का यहाँ न काम धतूरों का॥
कचड़ा और मटमैला रस्ता झूठे कायर कूरों का।
निर्भय साफ अमीरी रस्ता सच्चे साहब शूरों का॥
मुश्किल अगम पंथ का चलना जैसे खाँड़े छूरों का।
अजगैबी यह मता बनाया भेदिया चकनाचूरों का॥
जप तप करके स्वर्ग कमाया सो तो काम मजूरों का।
करना सही न लेना कुछ भी बाना झाखर झूरों का॥
बड़ो 'देव' गादी जब पाई तब क्या ढोना धूरों का।
मस्त हुआ जब अनहद सुनके तब क्या सुनना तूरों का॥
॥ कल्याण, सन्त-अंक, १९९४ सं०, पृ० २५ से उद्धृत॥

(२)

कोई सफा न देखा दिल का,
साँचा बना झिलमिल का॥टेक॥
कोइ बिल्ली कोइ बगुला देखा,
पहिरे फकीरी खिलका[1]।
बाहर मुख से ज्ञान छाँटते,
भीतर कोरा छिलका॥१॥
भजन करन में गजब आलसी,
जैसे थका मँजिल का।
औरन के पीसन में सुरमा,
जैसे बट्टा सिल का॥२॥

(१) गुदड़ी।

पढ़े लिखे कुछ ऐसेहि वैसे,
बड़ा घमण्ड अकिल का ॥
जहरी वचन यों मुख से निकले,
साँप निकलता बिल का ॥३॥
भजन बिना सब जप तप झूठा,
झूठ तवक्का फजल का ॥
क्या कहिये गुरु 'देव' न पाया,
महरम[१] आँख के तिल का ॥४॥

-- :: o :: --

श्री जगन्नाथपुरी, पापड़िया मठ बड़ा अखाड़ा सिंह दरवाजा वैष्णव सम्प्रदाय के साधु श्रीइन्द्रनारायण दासजी ने लिखवाया

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

॥०॥ अथ श्रीराम रक्षा स्तोत्रम् ॥०॥

ॐकार विन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥
ॐ संध्या तारिणी, सर्व दुःख निवारिणी,
संध्या उच्चरै विघ्न टरै, पिण्ड प्राण की रक्षा, श्रीनाथ निरंजन करै ।
ज्ञान धूपं मनः पुष्पं पंचेन्द्रिय हुताशनम् ।
क्षमा जप समाधिश्च नमः देव निरंजनम् ॥
अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥
परम गुरवे नमः परात्पर गुरवे नमः ।
परमात्मा गुरवे नमः आत्मा गुरवे नमः ॥

आदि गुरुदेव, अनादि गुरुदेव, अनन्त गुरुदेव, अखिल गुरुदेव, चरण गुरुदेव, शरण गुरुदेव, श्री गुरु महाराज ! चरणारविन्द नमो नमस्ते । हरत सकल व्याधि, शोक, संताप, दुःख, दारिद्र , कलह, कल्पना, रोग, पीड़ा सकल विघ्न खण्ड खण्ड तस्मै श्री राम रक्षा निराकार वाणी ॥ अनुभव तत्त्व निर्भय मुक्ति जानी ॥ बाँधिया मूल देखिया स्थूल गर्जिया गगन धुन ध्यान लागा ॥ त्रिगुण रहित शील संतोष में राम रक्षा लिये प्राण ॐ कार जागा । पाँच तत्त्व, पाँच

भूत, पचीस प्रकृति, पाँच भूतात्मा, पंच वायु, सम दृष्टि, सम घट और प्राण अपान उदान व्यान समान मिलि अनहद शब्द की खबर पाई ॥ उलटिया सूर गगन भेदी, नव ग्रह डंक छेदन किया, पेखिया चन्द्र जहाँ कला सारी ॥ अग्नि प्रकट भई, जरा वेदन जरि गई । डाकिनी साकिनी घेर मारी । धरणि आकाश बीच पन्थ चलता किया॥ आगम निगम महारस अमृत पिया ॥ भूत प्रेत दैत्य दानव, संधया तथा वज्र की कोठरी वज्र का दण्ड ले वज्र के खड्ग से काल मारा ॥ गरुड़ पक्षी उड़ा, नाग नागिन डस्या, विष की लहर से निद्रा न झपे । पिण्ड निर्मल हुआ पिंजरे पर सुवा रोग पीड़ा मिथ्या नहीं देह व्यापे रूम रूम ररंकार की उचरन्ति वाणी ॥ श्रवण सूँ नाद सुनता रहे सम दृष्टि मिष्टि मिला झिलमिल ज्योति ररंकार झलकता रहे नाद बिन्दु मिला भया रंग रेला । शून्य का नेहरा शून्य सूझता रहे आप से आप मिलि आप जाइ लागा । शरीर से शरीर मिलि शरीर स्वरस्ता रहे जीव सों जीव मिलि ब्रह्म जागा ॥ नयन सों नयन मिलि नयन निरखता रहे। मुख सों मुख मिलि बोल बोल्या, श्रवण सों श्रवण मिलि नाद सुनता रहे, शब्द सों शब्द मिलि शब्द खोल्या ॥ नृत्य सों नृत्य मिलि नृत्य लागी रहे, श्रुति सों श्रुति मिलि श्रुति आवे ॥ ध्यान धर ध्यान धर ध्यान सूझता रहै, ध्यान सों ध्यान मिलि जाप अजपा जपे सो इन्द्रिय मिलाय लेखे, चित्त सों चित्त मिलि चित्त चेतन हुआ । उन्मुनी दृष्टि स्वभाव देखे, द्वार सों द्वार मिलि शीश सों शीश मिलि जीव सों जीव मिलि देह सों देह मिलि भेद भेदा । मिट गया घोर अंधार तिहुँ लोक में स्वतः स्फटिक मणि हीरा भेदा । उघरंत नयन उचरंत वयन ॥ चन्द्र सूर्य दोऊ घर राखि एक स्थिरम् । हाँक हूँकार हनूमान ललकार किलकार मचता रहे, पकड़ि सो किया बावन वीर गंग उलटि चले भानु पश्चिम मिलि निरखिया ब्रह्म प्रकाश किया । आत्मा राम आप महि दीदार दर्शता रहे आप अजर जरि अमर हुआ । कंण कंणि कंण कंणि कुण कंणि हण हणि झुण झुणि नाद नादं ॥ चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मनि पाँच मुद्रा साधते साधु राजा डरो डुगरो जले अरु थले बाटे घाटे अघाटे निरंजन निराकार रक्षा करे । बाघ बाघनी का करो मुख काला, चौसठ योगिनी मारि कूट करे खेचरी भूचरी क्षेत्र पाला । अखिल ब्रह्माण्ड तीन लोक में दोहाई फिरबो करे, अलख पुरुष निरंजन निराकार

के चक्र सूँ बाट बाटिया दृष्टि और मुष्टि छल छिद्र में वीर वैताल में ब्रह्माण्ड नव ग्रह अवधूत दूत पाखण्ड डार्या सोर में पंथ में घोर में चोर में देश में प्रदेश में राजा के तेज में अग्नि की झील में संकट परे तो राम रक्षा करे ॥ पिण्ड ब्रह्माण्ड में खेलते मालते जागते ॥ सोते बैठते उठते श्रीराम रक्षा करे ॥ संत के शीश पै हाथ दिया रहे चरण अरु शीश सों आप रक्षा करे ॥ गुप्त का जाप ले गुप्त साधे, चन्द्र सूर्य दोउ एक घर रहबो करे । जीतिया संग्राम देवादिदेव करि कमल सुधा किया । उलटि अमृत पिया विष का दर्द सब दूर भागा । कमल दल कमल दल ज्योति जले । भँवर गुंजार आकाश लागा, रोम नाड़ी त्वचा रक्त बिन्दु सोखता रहे । गर्जते गगन बाजते वेणु शंख शब्द त्रिकुटी सारंग दास रामानन्द निज तत्त्व विचारं । निज तत्त्वते होय ब्रह्म ज्ञानी श्री रक्षा दीयते उधरते प्राणी राजद्वारे पंथे घोरे संग्रामे शत्रु संकटे जाइ लागा, भनन्ते श्री राम रक्षा रामचंद्र उचरन्ते जानकीजी सुनन्ते, हनुमानजी सुनन्ते पावते लभ्यते मन स्थिर रहन्ते सन्ध्या काले मध्याह्न काले यो नरा मोक्ष फल पावते । पुनर्जन्म न विद्यते ॥

॥ इति रामरक्षा रामानन्दजी की सम्पूर्ण शुभम् ॥

सुतीक्ष्ण दास रामानन्दी साधुजी से सुनकर निम्नलिखित शब्द लिखा गया। ज्ञात होता है कि रामानन्द सम्प्रदाय के किसी अभ्यासी साधु का बनाया हुआ है।

॥ शब्द ॥

अकठ बिकठ रे भाई । कायर उठि चढ़ि नहीं जाई ॥
पश्चिम साँकर घाटी । फौज खड़ी है ठाठी ॥
नाद बिन्दु दोउ हाथी । सतगुरु मिल ले संग साथी ॥
सतगुरु जहाँ साहेब बिराजै । जहाँ नाम के नौबत बाजै ॥
अष्ट कँवल दल फूला । हंसा सरवर में भूला ॥
राग रंग बहु खासे । जहाँ हौए हंसन के बासे ॥
शब्द के सुनले शब्द के बुझले, शब्द से शब्द पहिचान कर भाई ।
शब्द तो हिरदे बसे शब्द तो नैंनों बसे शब्द की महिमा चार वेद गाई ॥
शब्द तो आकाश बसे शब्द तो पाताल बसे शब्द तो पिंड ब्रह्माण्ड छाई ।

आपु में देखले सकल में पेखले आपु मधये विचार कर भाई ॥
कहे श्री गुरु रामानन्द जी सत्य के शब्द सुन ले भाई ।
फकीरी अदल बादशाही कोई बिरले सन्त पाया ॥
सन्तो बन्दगीदार सहजे उतरे सागर पार ।
सोहं शब्द से कर ले प्रीत ।
अनुभव अखाण्ड घर का जीत ॥
जहाँ नगर बसता है खूब । जिसमें करले आतम से मेल ॥
इन्द्रियाँ सिन्धु भूल मिलया । जिस पर परखना पाँव पाँव दहिने मधा को चढ़ना ।
आसन अमरलोक को करना । द्वादस पवन भरि पीना ।
उलटी अधर सीस को चढ़ना । दोनों नैनों के करले बान ।
भौआँ उलटि कस कमान । करले त्रिवेणी स्नान ।
मेट जाय तेरी आवा जान । बाजार उनके बाजे बोल ।
सिंधु रम राजे लगे हैं गीओं के बाजार । सन्तों बन्दों सौदा पार ।
दोउ है सरवर दोउ है पहार । जहाँ है कुदरत की छार ।
नौ लाख काला इनका मूल । आम कटे तो देख मत भूल ।
भौआँ ब्रह्म की ठाठी । पड़ी है प्रेम की फाँसी ।
बाजन बाजे बिना तंतूर । सहजे ऊगे पश्चिम सूर ॥
भौंरा है सुगन्ध के प्यासे । जहाँ है कमल में बासे ।
इन्द्री राम को देना । जिनको चोलना होवै जाल ॥
उनमति छरेद मतल अमोघ वस्य भाव अगनन छाऊ। अमृत निर्झर लाऊ ॥
एहि विधि चढ़नी चौंसठ सिढ़ियाँ तहाँ साहब बैठो थीर ।
निश दिन मोहबत उनसे कीजिये हृतम प्रेम के प्यारे, नहीं है नैनों से न्यारे ।
राम इनमें रम रहे, मरम न जानै कोय ।
जाके सतगुरु मिलया, ताके महरम होय ॥
कहे श्री गुरु रामानन्द जी छन हराग पग उषका देउ सरवर के तीर ।
साधू खोले नटकला दिव्य दृष्टि कों बन्द ॥
साधू परखो सबद को सुरत निरत के खोल ।
मोतिन की झाड़न लगी, हीरन का परगास ।
चाँद सूरज जहाँ गम नहीं तहाँ दरसन पावै दास ॥

कविरंजन (साधक) रामप्रसाद सेन (बंगाली)

मन तोर एत भावना केने । एक बार काली बले बसबे ध्याने ॥
जाँक जमके कर्ले पूजा । अहंकार हय मने मने;
तूमि लूकिये ताँरे कर्बे पूजा । जानबे ना रे जगज्जने ॥
धातू पाषाण माटीर मूर्त्ति । काज की रे तोर से गठने;
तूमी मनोमय प्रतिमा करी । दे बसाऊ हृदि पद्मासने ॥
आलो चाल आर पाका कला, काज की रे तोर आयोजने;
तूमी भक्ति सुधा खाईये ताँरे, तृप्ति कर आपन मने ॥
झाड़ लण्ठन बातीर आलो, काज की रे तोर से रोस्नाइये;
तूमी मनोमय माणिक्य जेले, देउ ना जलूक निशिदिने ॥
मेष छागल महिषादि, काज की रे तोर बलिदाने;
तूमी जयकाली जयकाली बले, बलि दाउ षड़ रिपू गणे ॥
प्रसाद बले ढाके ढोले, काज की रे तोर से बाजने;
तूमी जय काली बलि, देउ कर तालि, मन राख सेई श्रीचरणे ॥

॥ भारती अनुवाद ॥

क्यों तूझे इतना सोच मन में, तू जय काली बोलकर बैठना ध्यान में॥
करने से धूमधाम से पूजन, जो अहंकार आवे तेरे चित्त में।
तू लुकाकर माँ की करोगे पूजा, न जानेगा कोई सारे जग में॥
धातु पत्थर और मिट्टी की मूर्त्ति, क्या काम तेरा वह गठन में।
तू रचि सुन्दर मनोमय प्रतिमा, स्थापित कर ले हृदय आसन में॥
अरवा चावल और पक्का केला, क्या काम तेरा यह आयोजन में।
तू भक्ति सुधारस पिया कर माँ को, तृप्त हो ले आपन मन में॥
झाड़ लालटेन और मोम की बत्ती, क्या काम तेरा उस रौशन में।
तू बार दे मनोमय उज्ज्वल हीरा, जो उज्वलता रहे रातदिन में॥
छाग भेड़ा भैंस इत्यादि, क्या काम तेरा यह बलिदान में।
तू जयकाली जयकाली बोलकर, हो न्योयित छौ रिपु नाश में॥
राम प्रसाद कहे ढाक ढोल, क्या काम तेरा यह बाजन में।
तू जयकाली बोलकर दो करतारी, और लगन करो मन में माँ के ध्यान में॥

हाथरस के तुलसी साहब की वाणी

॥ शब्दावली से ॥

सुरति सिरोमनि घाट, गुमठ मठ मृदंग बजै रे ।टेक॥
किंगरी बीन संख सैनाई, बंक नाल की बाट।
चितवत चाट खाट पर जागी, सोवत कपट कपाट ॥१॥
मुरली मधुर झाँझ झनकारी, रंभा नचत वैराट।
उड़त गुलाल ज्ञान गुन गाँठी, भर-भर रंग रस माट ॥२॥
गाई गैल सैल अनहद की, उठै तान सुर ठाट।
लगन लगाइ जाइ सोइ समझी, सुरति सैल नभ फाट ॥३॥
तुलसी निरख नैन दिन राती, पल-पल पहरौ आठ।
यहि विधि सैल करै निस वासर, रोज तीन सै साठ ॥४॥

-- :: ० :: --

जिन ने नर औतार लिया न लिया, जिनके हिरदे गुरु संत नहीं ।टेक॥
सूरति विमल विरह नहिं जाके, बहु बकि ज्ञान किया न किया ॥१॥
करम काल बस उद्र निहारा, जग बीच मूढ़ जिया न जिया ॥२॥
अगम राह रस रीति न जानी, बहु सत्संग किया न किया ॥३॥
नाम अमल घट घोटि न पीना, अमल अनेक पिया न पिया ॥४॥
मोटे मात जात जिन्दगी में, सिर धर पैर छिया न छिया ॥५॥
तुलसी आद साध नहिं चीन्हा, तन धन मन न दिया न दिया ॥६॥

-- :: ० :: --

सन्त सिरोमनि खेलै फाग । जहाँ अनहद मुरली उठत राग ।टेक॥
जगत आस अघ उड़ै अबीर । गुन गुलाल धरि मारै धीर।
सुरत निरत नित नैन जाग । अलल पच्छि अंड उलट भाग ॥१॥
रितु वसन्त जहाँ विमल ठौर । कंथ पंथ पर अगम और।
हंस भवन अज अमर लाग । संग सखी सज सुरति पाग ॥२॥
जहाँ काल कर्म करता नसाइ । रज सत तम जम जहाँ न जाइ।
निरगुन सरगुन टूट ताग । नहिं पाँच तत्त तन पौन आग ॥३॥
अजर लोक सत पुरुष धाम । सोइ सन्त सुझावत सतनाम।
तुलसी तात सुत भरम त्याग । जहाँ पिण्ड ब्रह्मण्ड उन अगम थाग ॥४॥

॥ शब्द ॥

लख आतम अन्दर परम पास । और सकल तजि जग की आस ।टेक॥
गज मन मकरन्द फन्द डार । फिर न पाँच पचबीस लार ।
क्रोध काम बस लोभ वास । इन सँग रँग रस परत फाँस ॥१॥
करि अदूर सखि मूर जान । सुरति अधर नभ लखै भान ।
सुखमनि सुन धुन धर अकास । इँगल पिंगल बिच विमल वास ॥२॥
जोग ध्यान धर जोति देख । आतम तत आली अलख लेख ।
मंदिर में आली दीप चास । सब ब्रह्मण्ड तकि लखि निवास ॥३॥
संत सैल सखी अंत रीति । अगम गुरू कर पावै प्रीति ।
तुलसी जोगी लखै न नास । तन मन सुरति होत नास ॥४॥
दोहा–गगन गरज नित नादड़ी, खड़ी सुरति सुन कान ।
मान मनोहर रीति को, समझै चतुर सुजान ॥
धुन सुन कै सम दम लई, गई गगन के माहिं ।
नाहिं रही हिये होस में, सकल सोच नसि जाहिं ॥
फंद फाड़ि बाहेर गई, लई जो सतगुरु बाँह ।
जहाँ धूप रवि ससि नहीं, तुलसी पहुँचे ताँह ॥

-- :: o :: --

खेलो री हिरदे हरि होरी, पल में पल सुरति बिहोरी ।टेक॥
उनमुनि संग पवन पिचकारी, सुखमनि मार मचोरी ।
बंकनाल रंग माट भरो है, पिया पर लै छिरको री ,
आज ऐसो मेल मिलो री ॥१॥
चन्द सुरज सुन संजम कीना, इंगल पिंगल पट पौरी ।
आस अबीर गुलाल गुनन को, करि सतसंग उड़ो री ,
मुक्त नर देह धरो री ॥२॥
मेरु डंड तत तारी लागी, स्वासा सिमिटि भरोरी ।
उठत अवाज विमल अनहद की, धधकि धुनि संख बजोरी ,
सखी चित चेत चलो री ॥३॥
तुलसी जोग जुगति जब जानै, करम टकर* उतरो री ।
इन्द्री पाँच प्रपंच पचीसो, लै इनको पकरो री ,
ज्ञान गुर बाँह मरोरी ॥४॥

* टक्कर=चोट

॥ धुरपद अलैयाका ॥

चन्द बन्द बदरहू में, छिपत तेज पद प्रकास ।
स्वास सो अकास बहत, नित न जात येहि न भाति ।टेक॥
पवन थकित चढ़त गगन, भवन माहिं उत समात ।
लखन क्रान्ति उड़न भ्रान्ति, भँवर भनन कन्द्रहू पै ॥१॥
मंदर घोर घनन घनन, मृदुल पवन चलत सनन ।
घड़ड़ घड़ड़ घड़घड़ात, छम छमात तंदर हू पै ॥२॥
मुरली बीन बजत मधुर, मृदंग की टकोर धमक ।
त्रकुट ताल तुलसी हाल, सबद घोर अन्दर हू पै ॥३॥

-- :: o :: --

ततरंग रत रंग लौलाई ।
कंज कमल पर बाजत अनहद, उठत राग धमधम धरन ।टेक॥
दिस निस दिन सखी सुनि धुनि लागी, भागि भवन सुधि पाई ।
संख मृदंग मधुर धुनि धधकत, तादिम तादिम तुम तुम तरन ॥१॥
करत घोर घन घोर पपया पिउ, पलक पलक लख माहीं ।
महेल मरम मंदर घर तुलसी, चढ़त चालि चमचम चरन ॥२॥

-- :: o :: --

आज नर वतन की जतन करौ रे, ये हतन तन ।
घट भटक भूल आदि अपन मूल, जाल जवर सूल बंध बँधाई ।
मन मत न मरोरे ।टेक॥
दो दिन जग में वास बसै, घर बिसार जम फाँस फँसै ।
गुरु को ध्यान धरि करि विधान काया, माया कौ मान तक तोड़ जराई ।
सुरति सज भज भमर अपनाई, द्वार डगर सम समुद्र सत माहीं ।
मछ मथन कछ काढ़ि निकार आई, काल धीमर केरी जाल निकाल ॥
वही पत न डरौरे । उदर बास बसि कौल दियो, धर नर तन नहिं भजन कियो ।
गरभ कर कर मरे भरम जुग, सुग सरम पिया पद न चाही ॥
नाद अचल बिन्द बिमल बिनसाई, अस अमर कर बाट भुलाई जाई ।
पवन तत मत अली असर आई । काली में मन मग चित्त चलन ।
सुनि सत न अड़ौ रे॥

-- :: o :: --

॥ शब्द ॥

पिउ पिउ रटौ सुरति से पपिया प्यारे ।।टेक।।
स्वाति बूंद अधर झरत, नार आस लखि अकाश ।
पिउ की प्यास अमी से बुझा रे ।।१।।
झिरिमिरि झिरिमिरि बरसत मेह, बीज बदर करि विछेह ।
अज अदीद देह से निनारे ।।२।।
बने रे चौ खलक खेल, पावै कोइ पलक सैल ।
गुरु कै वचन कहत हौं पुकारे ।।३।।
सन्त सरन भये अधीन, बूझे कोइ चरन चीन्ह ।
सतसँग करि मरम कौ सिहारे ।।४।।
तुलसी सब तरक कीन, सुँ[१] दर[२] में सबद लीन ।
सुरत मुरति मगन होइ निहारे ।।५।।

-- :: ० :: --

गगन धार गंगा बहै, कहैं संत सुजाना हो ।।टेक।।
चढ़ि सूरति सरवर गई, ससि सूर ठिकाना हो ।
बिरले गुरमुख पाइया, जिन शब्द पिछाना हो ।।१।।
सहस कँवल दल पार में, मन बुद्धि हिराना हो ।
प्रान पुरुष आगे चले, सोइ करत बखाना हो ।।२।।
विमल विमल वाणी उठै, अदबुद असमाना हो ।
निरमल वास निवास में, कर कर कोइ जाना हो ।।३।।
तुलसी तलब तलबी करै, नित सुरति निसाना हो ।
अंड अलख लखिहैं सोई, चढ़ि करि धरि ध्याना हो ।।४।।

॥ रेखता ॥

अजब अनार दो बहिश्त के द्वार पै ।
लखै दुरवेश कोई फकीर प्यारा ।।१।।
ऐनि के अधर दो चश्म के बीच में ।
खसम को खोज जहाँ झलक तारा ।।२।।
उसी बीच फक्त खुद खुदा का तख्त है ।
सिश्त से देख जहाँ भिस्त सारा ।।३।।
तुलसी सत मत मुरशिद के हाथ है ।
मुरीद दिल रूह दोजख न्यारा ।।४।।

१. सुन्न । २. दरवाजा ।

॥ लावनी ॥

पिया दरस बिना दीदार दरद दुख भारी ।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ।।टेक।।
कोइ भेटैं दीन दयाल डगर बतलावैं ।
जेहि घर से आया जीव तहाँ पहुँचावैं ।।
दरसन उनके उर माहिं करैं बड़ भागी ।
तिनके तरने की नाव किनारे लागी ।।
कहिं वे दाता मिल जायँ करैं भव पारी ।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ।।
सत्संग करना मन तोड़ शरण संतन की ।
अन्दर अभिलाषा लगी रहे चरनन की ।।
सूरत तन मन से साँच रहै रस पीती ।
कोइ जावै सज्जन कुफुर काल को जीती ।।
अमृत हरदम कर पान चुवै चौधारी ।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ।।

घटरामायण से

सोरठा& सुति बुन्द सिंध मिलाप । आप अधर चढ़ि चाखिया ।
भाषा भोर भियान । भेद भान गुर सुति लखा ॥

॥ श्रुति सिंध छन्द १ ॥

सत सुरत समझि सिहार साधौ । निरखि नित नैनन रहौ ।।१।।
धुनि धधक धीर गंभीर मुरली । मरम मन मारग गहौ ।।२।।
सम सील लील अपील पेलै । खेल खुलि खुलि लखि परै ।।३।।
नित नेम प्रेम पियार पिउ कर । सुरति सजि पल पल भरै ।।४।।
धरि गगन डोरि अपोड़ परखै । पकरि पट पिउ पिउ करै ।।५।।
सर साधि सुन्न सुधारि जानौ । ध्यान धरि जब थिर थुवा ।।६।।
जहाँ रूप रेख न भेष काया । मन न माया तन जुवा ।।७।।
आली अंत मूल अतूल कँवला । फूल फिरि फिरि धरि धसै ।।८।।
तुलसी तार निहार सूरति । सैल सत मत मन बसै ।।९।।

॥ छन्द २ ॥

हिये नैन सैन सुचैन सुन्दरि । साजि स्तुति पिउ पै चली ॥१॥
गिरि गवन गोह गुहारि मारग । चढ़त गढ़ गगना गली ॥२॥
जहाँ ताल तट पट पार प्रीतम । परसि पद आगे अली ॥३॥
घट घोर सोर सिहार सुनिकै । सिंध सलिता जस मिली ॥४॥
जब ठाट घाट वैराट कीना । मीन जल कँवला कली ॥५॥
आलि अंस सिंध सिहार अपना । खलक लखि सुपना छली ॥६॥
अब सार पार सम्हारि सूरति । समझि जग जुगजुग जली ॥७॥
गुरु ज्ञान ध्यान प्रमान पद बिन । भटकि तुलसी भौ भिली ॥८॥

॥ छन्द ३ ॥

आली अधर धार निहार निजकै । निकरि सिखर चढ़ावहीं ॥१॥
जहाँ गगन गंगा सुरति जमुना । जतन धार बहावहीं ॥२॥
जहाँ पदम प्रेम प्रयाग सुरसरि । धुर गुरू गति गावहीं ॥३॥
जहाँ संत आस विलास वेनी । विमल अजब अन्हावहीं ॥४॥
कृत कुमति काग सुभाग कलिमल । कर्म धोइ बहावहीं ॥५॥
हिये हेरि हरष निहार घर कौ । पार हंस कहावहीं ॥६॥
मिलि तूल मूल अतूल स्वामी । धाम अविचल बसि रही ॥७॥
आली आदि अन्त विचारि पद कौ । तुलसी तब पिउ की भई ॥८॥

॥ छन्द ४ ॥

आली देख लेख लखाब मधुकर । भरम भौ भटकत रही ॥१॥
दिन तीनि तन संग साथ जानौ । अंत आनन्द फिरि नहीं ॥२॥
जग हीन सार असार सखी री । भ्रमत विधि बस भौ मही ॥३॥
धन धाम काम न कनक काया । मुलक माया लै बही ॥४॥
येही समझि बूझि विचारि मन में । निरखि तन सुपना सही ॥५॥
जम जाल जवर कराल सजनी । काल कुल करतब लई ॥६॥
सब तीरथ बरत आचार आली री । कर्म बस बंधन भई ॥७॥
तुलसी तनक तरक विचारि तन मन । संत सतगुरु अस कही ॥८॥

॥ छन्द ५ ॥

सखी सीख सुनि गुनि गाँठि बाँधौ । ठाट ठट सतसंग करै ॥१॥
जब रंग संग अपंग आली री । अंग सत मत मन मरै ॥२॥

मन मीन दिल जब दीन देखै । चीन्ह मधुकर सिर धरै ॥३॥
आली डगर मिलि जब सुरति सरजू । कँवल दल चल पद परै ॥४॥
थिर थोब ठुमुकि टिकाव नैना । नीर थीर जिमि थम थीरै ॥५॥
यहि भाँति साथ सुधारि मन कौ । पलक गिरि गगना भरै ॥६॥
लखि द्वार दिढ़ दरवार दरसै । परसि पद पुनि पिउ धरै ॥७॥
गुरु गैल मेल मिलाप तुलसी । मन्त्र विषधर बस करै ॥८॥

॥ छन्द ६ ॥

जब बल विकल दिल देखि विरहिन । गुरु मिलन मारग दई ॥१॥
सखी गगन गुरु पद पार सतगुरु । सुरति अंस जो आवई ॥२॥
सुरति अंस जो जीव घर गुरु । गगन बस कंजा मई ॥३॥
आली गगन धार सवार आई । ऐनि बस गो गुन रही ॥४॥
सखी ऐन सूरति पैन पावै । नील चढ़ि निर्मल भई ॥५॥
जब दीप सीप सुधार सज कै । पछिम पट पद में गई ॥६॥
गुरु गगन कंज मिलाप करि कै । ताल तज सुनि धुनि लई ॥७॥
सुनि शब्द से लखि शब्द न्यारा । प्रालबद जद क्या कही ॥८॥
जेहि पार सतगुरु धाम सजनी । सुरति सजि भजि मिलि रही ॥९॥
जस अलल अंड अकार डारै । उलटि घर अपने गई ॥१०॥
यहि भाँति सतगुरु साथ भेंटै । कर अली आनन्द लई ॥११॥
दुख दाव कर्म निवास निस दिन । धाम पिया दरसत बही ॥१२॥
सतगुरु दया दिल दीन तुलसी । लखत भै निरभै भई ॥१३॥

॥ सदा ॥

अरे ऐ तकी दीदार[१] आदिल[२] दिल दिलों में तिल में दिल ॥१॥
नैना नजर से जाय मिल खिल खिल खुशी[३] यों कर अमल[४] ॥२॥
चल गेंद तक तू एक पल मुर्शद[५] शकल देखै असल ॥३॥
झोंका[६] न दे दर्दी[७] जलल[८] अरे जाय मिल फिर ना निकल ॥४॥
दिल दूर दुरबीने फजल इस राह से पहुँचै मजल[९] ॥५॥
अरे बुझ ले सूझै असल उसका महल दिल में शकल ॥६॥
मन मार दिल में कर अमल माशूक[१०] आवै यौं निकल ॥७॥

(१) दर्शन । (२) न्यायशील । (३) क्रमशः बढ़-बढ़कर आनन्दित हो । (४) अभ्यास । (५) गुरु । (६) आघात । (७) दयालु, दुःखित । (८) गुमराही, भ्रष्टपथगामीपन । (९) मंजिल, ठहराव । (१०) प्रेम-पात्र ।

ये वक्त फिर आवै न कल मशहूर है ये सच मसल ॥८॥
तुलसी तकी मुर्शद से मिल और आशकी[१] कर बेखलल[२] ॥९॥
अफलाक[३] हफ्तम[४] जाय खुल मुर्शद से हो असली बसल[५] ॥१०॥

॥ गजल ॥

अरे ऐ तकी तकते रहो मुर्शद[६] ने ये पंजा[७] दिया ।
बेहोश हो मत छोड़ियो गर चाहै तू जलवा[८] पिया ॥१।
होगा फजल[९] दर्गाह[१०] तक खौफो[११] खतर[१२] की जा[१३] नहीं ।
सीधे चला जाना वहाँ मुर्शद ने यह फतवा[१४] दिया ॥२॥
मनसूर सरमद, बूअली और शम्श मौलाना हुए ।
पहुँचे सभी इस राह से जिसने कि दिल पुख्ता किया ॥३॥
यह राह मंजिल इश्क[१५] है पर पहुँचना मुश्किल नहीं ।
मुश्किल कुशा[१६] है रोबरू[१७] जिसने तुझे पंजा दिया ॥४॥
तुलसी कहै सुन ऐ तकी यह राज[१८] बातिन[१९] है जुदा[२०] ।
रखना हिफाजत से इसे तुझको निशाँ[२१] ऊँचा दिया ॥५॥

॥ गजल ॥

सुन ऐ तकी न जाइयो जिनहार[२२] देखना ।
अपने में आप जलवए[२३] दिलदार[२४] देखना ॥१॥
पुतली में तिल है तिल में भरा राज कुल का कुल ।
इस परदये सियाह के जरा पार देखना ॥२॥
चौदह तबक का हाल अयाँ[२५] हो तुझे जरूर ।
गाफिल न हो ख्याल से हुशियार देखना ॥३॥

(१) प्रेम, आसक्ति । (२) बिना रोक , बिना बाधा । (३) आसमान। (४) सातवाँ । (५) वस्ल, मिलाप, मिलन । (६) गुरु। (७) आज्ञा। (८) जल्वा, शोभा, तड़क-भड़क, प्रकाश । (९) कृपा। (१०) दरबार । (११) डर । (१२) डर, जोखिम । (१३) जगह, स्थान। (१४) राय, हुक्म । (१५) प्रेम । (१६) कठिनाई को दूर करनेवाला। (१७) रू-ब-रू, सम्मुख । (१८) भेद, युक्ति। (१९) अन्दर का, भीतरी भाग । (२०) पृथक्, भिन्न । (२१) निशाना । (२२) हरगिज, कदापि । (२३) जल्वा, तड़क-भड़क, शोभा, तेज । (२४) उदार, प्रेमी, प्रिय । (२५) जाहिर, व्यक्त ।

सुन लामकाँ[१] पै पहुँच के तेरी पुकार है ।
है आ रही सदा[२] से सदा[३] यार देखना ॥४॥
मिलना तो यार का नहीं मुश्किल मगर तकी ।
दुशवार[४] तो ये है कि दुशवार देखना ॥५॥
तुलसी बिना करम[५] किसी मुर्शद रसीदा[६] के ।
राहे निजात[७] दूर है उस पार देखना ॥६॥

॥ जीव का निबेरा, चौपाई ॥

तुलसी निरख देखि निज नैना । कोइ कोइ संत परखिहैं बैना ॥१॥
जो कोइ सन्त अगम गति गाई । चरन टेकि पुनि महूँ सुनाई ॥२॥
अब जीवन का कहूँ निबेरा । जासे मिटै भरम बस बेरा ॥३॥
जब या मुक्ति जीव की होई । मुक्ति जानि सतगुरु पद सेई ॥४॥
सतगुरु संत कंज में बासा । सुरत लाइ जो चढ़ै अकासा ॥५॥
स्याम कंज लीला गिरि सोई । तिल परिमान जान जन कोई ॥६॥
छिन छिन मन को तहाँ लगावै । एक पलक छूटन नहिं पावै ॥७॥
स्रुति ठहरानी रहे अकासा । तिल खिरकी में निसदिन वासा ॥८॥
गगन द्वार दीसै एक तारा । अनहद नाद सुनै झनकारा ॥९॥
अनहद सुनै गुनै नहिं भाई । सूरति ठीक ठहर जब जाई ॥१०॥
चूवै अमृत पिवै अघाई । पीवत पीवत मन छकि जाई ॥११॥
सूरत साध संध ठहराई । तब मन थिरता सूरति पाई ॥१२॥
सूरति ठहरि द्वार जिन पकरा । मन अपंग होइ मानो जकरा ॥१३॥
चमकै बीज गगन के माईं । जबहिं उजास पास रहै छाई ॥१४॥
जस जस सुरति सरकि सतद्वारा । तस तस बढ़त जात उजियारा ॥१५॥
सेत स्याम स्रुति सैल समानी । झरि झरि चूवै कूप से पानी ॥१६॥
मन इस्थर अस अमी अघाना । तत्त पाँच रंग विधि बखाना ॥१७॥
स्याही सुरख सफेदी होई । जरद जाति जंगाली सोई ॥१८॥
तल्ली ताल तरंग बखानी । मोहन मुरली बजै सुहानी ॥१९॥
मुरली नाद साध मन सोवा । विष रस बादि विधी सब खोवा ॥२०॥

(१) शून्य भवन । (२) हमेशा । (३) शब्द । (४) कठिन। (५) कृपा, अनुग्रह, दया । (६) पहुँचा हुआ । (७) मुक्ति, छुटकारा ।

खिरकी तिल भरि सुरति समाई । मन तत देखि रहै टकलाई ॥२१॥
जब उजास घट भीतर आवा । तत्त तेज और जोति दिखावा ॥२२॥
जैसे मंदिर दीपक बारा । ऐसे जोति होत उजियारा ॥२३॥
जोति उजास फाटि पुनि गयऊ । अंदर तेज चंद अस भयऊ ॥२४॥
देखै तत सोइ मन है भाई । पुनि चन्दा देखै घट माईं ॥२५॥
चन्द्र उजास तेज भया भाई । फूला चन्द चाँदनी छाई ॥२६॥
सूरति देखि रहै ठहराई । ज्यों उजियास बढ़त जिमि जाई ॥२७॥
ज्यों ज्यों सुरति चढ़ी चलि गयऊ । सेता ठौर ठाम लखि लयऊ ॥२८॥
देख सैल ब्रह्माण्ड समाई । तारा अनेक अकास दिखाई ॥२९॥
महि और गगन देखि उर माईं । और अनेकन बात दिखाई ॥३०॥
कछु कछु दिवस सैल अस कीना । ऊगा भान तेज को चीना ॥३१॥
तारा चन्द तेज मिटि गयऊ । जिमि मध्यान भान घट भयऊ ॥३२॥
ज्यों दुपहैर गगन रवि छाई । ता से उजास भया घट माईं ॥३३॥
ताके मधि में निरखि निहारा । घट में देखा अगम पसारा ॥३४॥
सात दीप पिरथी नौ खंडा । गगन अकाश सकल ब्रह्मण्डा ॥३५॥
समुन्दर सात प्रयाग पद बेनी । गंगा जमुना सरसुती भैनी ॥३६॥
औरे नदी अठारा गण्डा । ये सब निरखि परा ब्रह्मण्डा ॥३७॥
चारो खानि जीव निज होई । अंडज पिंडज उष्मज सोई ॥३८॥
अस्थावर चर अचर दिखाई । ये सब देखा घट के माईं ॥३९॥
भिनि भिनि जीवन कर विस्तारा । चारि लाख चौरासी धारा ॥४०॥
और पहार नार बहुतेरा । जो ब्रह्माण्ड में जीव बसेरा ॥४१॥
कछु कछु दिवस सैल अस कीना । तीनि लोक भीतर में चीना ॥४२॥
जो जग घट घट माहिं समाना । घट घट जग जीव माहिं जहाना ॥४३॥
ऐसे कइ दिन बीति सिराने । एक दिवस गये अधर ठिकाने ॥४४॥
परदा दूसर फोड़ि उड़ानी । सुरत सोहागिन भइ अगवानी ॥४५॥
शब्द सिन्ध में जाइ सिरानी । अगम द्वार खिड़की नियरानी ॥४६॥
चढ़ि गइ सूरति अगम ठिकाना । हिय लखि नैना पुरुष पुराना ॥४७॥
तामें पैठि अधर में देखा । रोम-रोम ब्रह्मण्ड का लेखा ॥४८॥
अंड अनेक अन्त कछु नाहीं । पिंड ब्रह्मण्ड देखि हिय माँहीं ॥४९॥
जहँ सतगुरु पूरन पद वासी । पदम माहिं सतलोक निवासी ॥५०॥
सेत बरन वह सेतइ साईं । वहँ सन्तन ने सुरति समाई ॥५१॥

सत्तहि लोक अलोक सुहेला । जहँ वह सुरति करै निज केला ॥५२॥
सूरति सन्त करै कोइ सैला । चौथा पद सत नाम दुहेला ॥५३॥
परदा तीसर फोड़ि समानी । पिंड ब्रह्मण्ड नहीं अस्थानी ॥५४॥
जहाँ वो अगम अगाधि अघाई । जहाँ की सतगति सन्तन पाई ॥५५॥
महुँ उन लार लार लरकाई । उन संग टहल करन नित जाई ॥५६॥
महुँ पुनि चीन्ह लीन्ह वह धामा । बरनि न जाइ अगमपुर ठामा ॥५७॥
निःनामी वह स्वामी अनामी । तुलसी सुरति तहाँ धरि थामी ॥५८॥
जो कोइ पूछै तेहि कर लेखा । कस कस भाखों रूप न रेखा ॥५९॥
तुलसी नैन सैन हिय हेरा । सन्त बिना नहिं होइ निबेरा ॥६०॥
निज नैना देखा हिय आँखी । जस जस तुलसी कह-कह भाखी ॥६१॥

सोरठा&पिंड माहिं ब्रह्मण्ड, ताहि पार पद तेहि लखा ।
तुलसी तेहि की लार, खोलि तीनि पट भिनि भई ॥

ध्यान की सुरति गगन के ऊपर नयन नासिका के अग्र बीच में है ।

-- :: o :: --

घट में बैठे पाँचो नादा । घट में लागी सहज समाधा ॥
पाँच शब्द का कहूँ विधाना । न्यारा न्यारा ठाम ठिकाना ॥
सत्त शब्द पहिले परवाना । सो कोइ साधू बिरले जाना ॥
सत्त शब्द सतलोक निवासा । जहाँ वा सत्त पुरुष का वासा ॥
दूजा शब्द सुंनि के माईं । तीजा अक्षर शब्द कहाई ॥
चौथा ओंकार विधि गाई । पंचम शब्द निरंजन राई ॥

-- :: o :: --

सन्त दयाल दया जो करई । लख लख भेद जीव निस्तरई ॥
सन्त अगम कोइ बिरले पावा । होइ दीन जब भेद लखावा ॥
अपना ज्ञान मान मद डारै । नीच होइ सोइ सहज निहारै ॥
दीन दयाल नाम उन केरा । दीन होइ जब होय निबेरा ॥
मोट ऊँचाई अपनी मानै । अपना ज्ञान ऊँच कर ठानै ॥
तासै सन्त नजर नहिं आवैं । नीचा होइ ताहि दरसावैं ॥
बिना सन्त नहिं होइहैं न्यारा । सन्त सरनि से उतरै पारा ॥

-- :: o :: --

सतगुरु मिलै तो भेद बतावै । नरियर मोड़त बास उड़ावै ॥
तन मन धन सन्तन पर वारै । निज नित सत्संगति की लारै ॥
दास भाव सत्संगति लीना । दीन हीन मन होय अधीना ॥
चित्त भाव दिल मारग पावै । सब साधन की टहल सुहावै ॥
ये विधि भाँति रहै रस लाई । सब सतगुरु सत दया लखाई ॥

-- :: ० :: --

तज मन मूढ़ कूड़ पाखण्ड को, झूर झूठ सब धोखा खाई ।
तन कर नास वास चौरासी, फिरि फिरि जम धरि खाई ॥
या से मान मनी मति डारौ, लख गुरु गगन गवन बतलाई ।
सूरति डोर लील बिच खोलौ, फोड़ि के पछिम समाई ॥
सत्संग रंग दीन दिल पावै, मोटे मन तन बूझ न आई ।
जिन मन नीच कीच सम कीन्हा, उनकी दृष्टि समाई ॥

हाथरस के तुलसी साहब के गुरुमुख शिष्य सूरस्वामीजी के शब्द

प्रात समय नित प्रति सतगुरु की, आरति मंगल साजही ।टेक॥
महिमा अगम अपार गुरन की, जिनके निकट बिराजई ॥१॥
झाँझ मृदंग गैब धुनि घंटा, शब्द अनाहद बाजई ॥२॥
बत्ती पाँच तत्त की बरई, सब घट जोति प्रकाशई ॥३॥
गगन थाल मूलै कपूर, जहाँ रवि ससि दीपक चासई ॥४॥
झारी धरी विमल जल भरी, अच्छत नभ तारे राजई ॥५॥
मुक्ताहल फूलन की माला, हिये गुहि अधिक छवि छाजई ॥६॥
प्रीति धूप चन्दन चित हित, घृत अगर अरूप समाजई ॥७॥
होत आरती अधर पुरुष की, सुर नर मुनि जहँ लाजई ॥८॥
अमी प्रसाद साध जन पावैं, नाना भौ भर्म भाजई ॥९॥
'सूर' लीन तुलसी के चरन, अब वहि साहब को लाजई ॥१०॥

-- :: ० :: --

गिरिधारी साहब के समाधि-स्थान पर [महल्ला नौवस्ता (लखनऊ) के रहनेवाले साधु बाबा दीहल दास साहब ने लिखवाये]

आली स्वामी की सुरत न दृगन सों टरत ।
विरहा के जलन में जलत निसदिन, बिन चरण कमल मन धीर न धरत ॥

जा दिन से लगन लाग प्रीतम से, चित न चलत कहुँ अन्ते और सखी ॥
भावै न सुहावै घरी पिया बिन पल छिन, बिछुड़त जस मीन मरत ॥
पिया अपनावें जब सब दुख जावे हिया हरष समावे धीर आवे विरहिन को ॥
सुन्नि वर पावें तुलसी गुरु दरसावें 'सूर' बार-बार ऐसी विनती करत ॥

-- :: ० :: --

मिलकर बिछुड़न को बड़ा दुख भारी ।
कहा कहौं कछु कहत न आवै कोइ जाने री दरद जिस पर गुजरा री ॥
प्रथम लगन तो करत में लगत नीकि पुनि पड़े मुश्किल निभाना विरहिन की ।
बिन पिया दरस फिरत बियाकुल तन निसदिन रहत दृगन जल जारी ॥
एक तो जगत की शरम भरमावै दूजे विरहा सतावै तीजे हरष न आवै ।
'सूर' सुरती बड़े भागी जो पिया के हिये लागी वर पायो तुलसी सतगुरु दाता री ॥

-- :: ० :: --

राधास्वामी साहब की वाणी

दोहा- अल्लाहू त्रिकुटी लखा, जाय लखा हा सुन्न ।
शब्द अनाहू पाइया, भँवर गुफा की धुन्न ॥
हक्क हक्क सतनाम धुन, पाई चढ़ सच खण्ड ।
सन्त फकर बोली जुगल, पद दोउ एक अखण्ड ॥

॥ शब्द ॥

सुरत क्यों भूल रही, अब चेत चलो स्वामी पास ।टेक॥
हे मनुवाँ तुम सदा के संगी, त्यागो जगत की आस ।
हे इन्द्रियन तुम भोग दिवानी, क्यों फँसो काल की फाँस ॥
जल्दी से अब मुख को मोड़ो, अन्तर अजब विलास ।
जैसे बने तैसे करो कमाई, धर चरनन विश्वास ॥
राधास्वामी दीन दयाला, दैहैं अगम निवास ।
तब सुख साथ रहो घर अपने, फिर होय न तन में वास ॥

-- :: ० :: --

सखी री क्यों देर लगाई, चटक चढ़ो नभ द्वार ।टेक॥
इस नगरी में तिमिर समाना, भूल भरम हर बार ।
खोज करो अन्तर उजियारी, छोड़ चलो नौ द्वार ॥

सहस कँवल चढ़ त्रिकुटी धाओ, भँवरगुफा सतलोक निहार ।
अलख अगम के पार सिधारो, राधास्वामी चरण सम्हार ॥

-- :: ० :: --

क्या सोवे जग में नींद भरी । उठ जागो जल्दी भोर भई ॥
पंथी सब उठ के राह लई । तू मंजिल अपनी बिसर गई ॥
सतगुरु की खोज करो प्यारी । संग उनके बाट चलो न्यारी ॥
भौसागर है गहिरा भारी । गुरु बिन को जाय सके पारी ॥
भक्ती की रीति सुनो प्यारी । गुरु चरनन प्रीति करो सारी ॥
तज संशय भरम करम जारी । तब सुरत अधर घर पग धारी ॥
चढ़ गगन शिखर तन मन वारी । धुन बीन सुनो सत पद न्यारी ॥
फिर अलख अगम जा परसा री । राधास्वामी चरण पर बलिहारी ॥

-- :: ० :: --

तू तो सुरत जमा नभ द्वार । शब्द मिले छूटे जंजार ॥
शब्द भेद तू जान गँवार । क्यों भरमै तू मन की लार ॥
सुरत खैंच तक तिल का द्वार । दहिनी दिशा शब्द की धार ॥
बाईं दिशा काल का जार । ताहि छोड़कर सुरत सम्हार ॥
घण्टा संख सुनो कर प्यार । तिस के आगे धुन ओंकार ॥
सुन्न माहिं सुन रारंकार । भँवर गुफा मुरली झनकार ॥
सत्तलोक धुन बीन सम्हार । अलख अगम धुन कहुँ न पुकार ॥
राधास्वामी भेद सुनाया झाड़ । पकड़ धरो अब हिये मँझार ॥

-- :: ० :: --

शब्द कमाई कर हे मीत । शब्द प्रताप काल को जीत ॥
शब्द घाट तू घट में देख । शब्दहि शब्द पीव को पेख ॥
शब्द कर्म की रेख कटावे । शब्द शब्द से जाय मिलावे ॥
शब्द बिना सब झूठा ज्ञान । शब्द बिना सब थोथा ध्यान ॥
शब्द छोड़ मत अरे अजान । राधास्वामी कहै बखान ॥

-- :: ० :: --

सब की आदि शब्द को जान । अन्त सभी का शब्द पिछान ॥
तीन लोक और चौथा लोक । शब्द रचे यह सब ही थोक ॥
शब्द सुरत दोउ धार समान । पुरुष अनामी के यह प्राण ॥

चेतनता सब इनकी मान । शब्द बिना कोइ और न आन ॥
शब्द गुप्त तब हुआ अनाम । शब्द प्रगट तब धरिया नाम ॥
नाम अनाम शब्द परिनाम । शब्द बिना होय सब की हान ॥
दोहा-भव सागर धरा अगम, खेवटिया गुरु पूर ।
नाव बनाई शब्द की, चढ़ बैठे कोइ सूर ॥
बिन सतगुरु सतनाम बिन, कोइ न बाचे जीव ।
सत्तलोक चढ़कर चलो, तजो काल की सीव ॥
क्या हिन्दू क्या मुसलमान, क्या ईसाई जैन ।
गुरुभक्ति पूरन बिना, कोइ न पावै चैन ॥
गुरु भक्ती दृढ़ के करो, पीछे और उपाय ।
बिन गुरु भक्ती मोह जग, कभी न काटा जाय ॥
मोटे बन्धन जक्त के, गुरु भक्ति से काट ।
झीने बंधन चित्त के, कटें नाम परताप ॥
मोटे जब लग जायँ नहिं, झीने कैसे जायँ ।
ताते सबको चाहिये, नित गुरु भक्ती कमायँ ॥
सुरत शब्द एक अंग कर, देखो विमल बहार ।
मध्य सुखमना तिल बसे, तिल में जोत अकार ॥

राधास्वामी मत के दूसरे आचार्य राय बहादुर शालिग्राम साहब का वचन

॥ प्रेम-पत्र राधास्वामी, जिल्द १, वचन ४३ ॥

८-जब भजन के वक्त आवाज बाईं तरफ से आवे, तो चाहिये कि तवज्जह अपनी ऊपर की तरफ को लगावे, और बाएँ कान का दबाव हल्का करे या बिल्कुल न दबावे, या अँगूठा कान में से निकाल लेवे, तो आहिस्ता-आहिस्ता आवाज आँखों के मध्य में ऊपर की तरफ से आती मालूम होगी, और फिर उसी में चित्त लगावे ।

[लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कृत श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य से उद्धृत, विषय-प्रवेश]

पृ० १२-१३-श्रीमदाद्य शंकराचार्य का जन्म संवत् ८४५ (शक ७१०) में हुआ था और बत्तीसवें वर्ष में उन्होंने गुहा प्रवेश किया

(संवत् ८४५ से ८७७*)। श्रीशंकराचार्य बड़े भारी और अलौकिक विद्वान तथा ज्ञानी थे। उन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्ति से उस समय चारों ओर फैले हुए जैन और बौद्ध मतों का खण्डन करके अपना अद्वैत मत स्थापित किया।

(१) मैं-तू यानी मनुष्य की आँख से दीखनेवाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। इन सबमें एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा है और उसी की माया से मनुष्य की इन्द्रियों को भिन्नता का भास हुआ करता है, (२) मनुष्य की आत्मा भी मूलतः परब्रह्म-रूपी ही है, और (३) आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण ज्ञान अर्थात् अनुभव सिद्ध पहचान हुए बिना कोई भी मोक्ष पा नहीं सकता। इसी को 'अद्वैतवाद' कहते हैं। पृ० १९–यदि कहा जाय कि शंकराचार्य के समान महातत्त्वज्ञानी आजतक संसार में कोई भी नहीं हुआ है, तो भी अतिशयोक्ति न होगी।

पृ० १५–शांकर सम्प्रदाय के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद, श्री रामानुजाचार्य (जन्म-संवत् १०७३) ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदाय का मत यह है कि शंकराचार्य का माया-मिथ्यात्ववाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठ हैं। जीव, जगत् और ईश्वर–ये तीन तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित)–ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर हैं, इसीलिए चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है।

पृष्ठ १५-१६-रामानुज सम्प्रदाय के बाद एक तीसरा सम्प्रदाय निकला। उसका मत है कि परब्रह्म और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर विरुद्ध और असम्ब; बात है, इसलिये दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनों में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती। इस तीसरे सम्प्रदाय को द्वैत सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि इसके प्रवर्त्तक श्री मध्वाचार्य

* यह बात आजकल निश्चित हो चुकी है; परन्तु हमारे मत से श्रीमदाद्य शंकराचार्य का समय और भी इसके सौ वर्ष पूर्व समझना चाहिए। इसके आधार के लिए परिशिष्ट प्रकरण देखें।

(श्रीमदानंद तीर्थ) थे, जो संवत् १२५५ में समाधिस्थ हुए और उस समय उनकी अवस्था ७९ वर्ष की थी। चौथा सम्प्रदाय श्री वल्लभाचार्य (जन्म-संवत् १५३६) का है। रामानुजीय और माध्व सम्प्रदायों के समान ही यह सम्प्रदाय भी वैष्णवपंथी है। परन्तु जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय का मत विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतों से भिन्न है। यह पंथ इस मत को मानता है कि माया-रहित शुद्ध जीव और परब्रह्म एक ही वस्तु है–दो नहीं। इसलिए इसको 'शुद्धाद्वैती' सम्प्रदाय कहते हैं। तथापि वह श्रीशंकराचार्य के समान इस बात को नहीं मानता कि जीव और ब्रह्म एक ही है, और इसके सिद्धान्त कुछ ऐसे हैं–जैसे, जीव अग्नि की चिनगारी के समान ईश्वर का अंश है, मायात्मक जगत मिथ्या नहीं है, माया परमेश्वर की इच्छा से विभक्त हुई एक शक्ति है, मायाधीन जीव को बिना ईश्वर की कृपा के मोक्षज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन भगवद्भक्ति ही है–जिनसे यह सम्प्रदाय शांकर सम्प्रदाय से भी भिन्न हो गया है। इस मार्ग वाले परमेश्वर के अनुग्रह को 'पुष्टि' और 'पोषण' भी कहते हैं, जिससे यह पंथ 'पुष्टि-मार्ग' भी कहलाता है।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त निम्बार्क का चलाया हुआ एक और वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसमें राधा-कृष्ण की भक्ति कही गई है। डॉक्टर भांडारकर ने निश्चय किया है कि ये आचार्य, रामानुज के बाद और मधवाचार्य के पहले, करीब संवत् १२१९ के, हुए थे। जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में निम्बार्काचार्य का यह मत है कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है–स्वतंत्र नहीं है–और परमेश्वर में ही जीव और जगत के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत पंथ से इस सम्प्रदाय को अलग करने के लिए इसे 'द्वैताद्वैती' सम्प्रदाय कह सकेंगे।

अध्यात्म

पृ० २०४-भगवान ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखाया है, वही नारद को भी दिखलाया था। इसका वर्णन महाभारत के शान्ति-

पर्वान्तर्गत नारायणीय प्रकरण (शां० ३३९) में है । नारद को हजारों नेत्रों, रंगों तथा अन्य दृश्य गुणों का विश्वरूप दिखलाकर भगवान ने कहा–''तुम मेरा जो रूप देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है, इससे तुम यह न समझो कि मैं सर्वभूतों के गुणों से युक्त हूँ ।'' ''मेरा सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है, उसे सिद्ध पुरुष पहचानते हैं ।'' (शां० ३३६, ४४, ४८)। इससे कहना पड़ता है कि गीता में वर्णित भगवान का अर्जुन को दिखलाया हुआ विश्वरूप भी मायिक ही था । सारांश, उपर्युक्त विवेचन से इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि गीता का यही सिद्धांत होना चाहिए–कि यद्यपि केवल उपासना के लिए व्यक्त स्वरूप की प्रशंसा गीता में भगवान ने की है, तथापि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर ही है, और उस अव्यक्त से व्यक्त होना ही उसकी माया है, और इस माया से पार होकर जबतक मनुष्य को परमात्मा के शुद्ध तथा अव्यक्त रूप का ज्ञान न हो, तबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

पृ० २०७-ब्रह्म सत् भी नहीं और असत् भी नहीं (ऋ०* १०, ९, २९, १), अथवा 'अणोरणीयान्महतो महीयान' अर्थात् अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है । (कठ० २-२०)

पृ० २०९-यह कहना मानो अध्यात्मशास्त्र की ही जड़ काटना है कि सब संकल्पों का दाता अव्यक्त परमेश्वर तो यथार्थ में सगुण है और उपनिषदों में या गीता में निर्गुण स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह केवल अतिशयोक्ति या प्रशंसा है । जिन बड़े-बड़े महात्माओं-ऋषियों ने एकाग्र मन करके सूक्ष्म तथा शान्त विचारों से यह सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला कि ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' (तै० २-९)-मन को भी जो दुर्गम है और वाणी भी जिसका वर्णन नहीं कर सकती, वही अन्तिम ब्रह्मस्वरूप है–उनके आत्मानुभव को अतिशयोक्ति कैसे कहें! केवल एक साधारण मनुष्य अपने क्षुद्र मन में यदि अनन्त निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिए यह कहना कि सच्चा ब्रह्म सगुण

*ऋग्वेद । कठ० = कठोपनिषद् । तै० = तैत्तिरीय उपनिषद्।

ही है, मानो सूर्य की अपेक्षा अपने छोटे-से दीपक को श्रेष्ठ बतलाना है । हाँ, यदि निर्गुण रूप की उपपत्ति उपनिषदों में और गीता में न दी गई होती, तो बात ही दूसरी थी, परन्तु यथार्थ में वैसा नहीं है ।

पृ० २११-प्रकृति और पुरुष के भी परे जाकर उपनिषत्कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सच्चिदानंद ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का 'निर्गुण' ब्रह्म ही जगत का मूल है ।

पृ० २१९-छान्दोग्य (६-१ और ७-१), बृहदारण्यक (१-६-३), मुण्डक (३-२-८) और प्रश्न (६-५) आदि उपनिषदों में बारम्बार बतलाया गया है कि नित्य बदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान नाम-रूप सत्य नहीं है, जिसे सत्य अर्थात् नित्य, स्थिर तत्त्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नाम-रूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिए । इसी नाम-रूपों को कठ० (२-५) और मुण्डक (१-२-९) आदि उपनिषदों में 'अविद्या' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-१०) में 'माया' कहा है ।

पृ० २२०-जगत् के आरम्भ में जो कुछ था, वह बिना नाम-रूप का था, अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त था, फिर आगे चलकर नाम-रूप मिल जाने से वही व्यक्त और सगुण बन जाता है, (बृ० १-४-७, छां० ६-१-२-३)। अतएव विकारवान अथवा नाशवान नाम-रूप को ही 'माया' नाम देकर कहते हैं कि यह सगुण अथवा दृश्य सृष्टि एक मूल द्रव्य अर्थात् ईश्वर की माया का खेल या लीला है ।

छान्दोग्य उपनिषद् में, सातवें अध्याय के आरम्भ की कथा में व्यक्त किया गया है कि–नारद ऋषि सनत्कुमार अर्थात् स्कन्द के यहाँ जाकर कहने लगे–''मुझे आत्मज्ञान बतलाओ ।'' तब सनत्कुमार बोले–''पहले बतलाओ, तुमने क्या सीखा है, फिर मैं बतलाता हूँ ।'' इस पर नारद ने कहा–''मैंने इतिहास-पुराण-रूपी पाँचवें वेद-सहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, नीतिशास्त्र, सभी वेदांग, धर्मशास्त्र, भूतविद्या, क्षेत्रविद्या,

बृ० = बृहदारण्यकोपनिषद् । छां० = छान्दोग्योपनिषद् ।

नक्षत्रविद्या, और सर्पदेवजनविद्या प्रभृति सब कुछ पढ़ा है, परन्तु जब इससे आत्मज्ञान नहीं हुआ, तब अब तुम्हारे यहाँ आया हूँ।'' इसको सुनकर सनत्कुमार ने यह उत्तर दिया–''तुमने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नाम-रूपात्मक है, सच्चा ब्रह्म इस नाम-ब्रह्म से बहुत आगे है।'' और फिर नारद को क्रमशः इस प्रकार पहचान करा दी कि इस नाम-रूप से अर्थात् सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति से अथवा वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि (ज्ञान) और प्राण से भी परे एवं इनसे बढ़-चढ़कर जो है, वही परमात्म-रूपी अमृत तत्त्व है।

पृ० २२७-बाह्य सृष्टि के नाम और रूप से आच्छादित ब्रह्मतत्त्व, नामरूपात्मक प्रकृति के समान जड़ तो है ही नहीं, किन्तु वासनात्मक ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, ज्ञानमय ब्रह्म, प्राण ब्रह्म अथवा ओंकाररूपी शब्द ब्रह्म–ये ब्रह्म के रूप भी निम्न श्रेणी के हैं और ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप इनसे परे है एवं इनसे भी अधिक योग्यता का अर्थात् शुद्ध आत्म-स्वरूपी है।

पृ० २३६-ज्ञान दृष्टि से सारे नाम-रूपों को एक ओर निकाल देने पर एक ही अविकारी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है, अतएव पूर्ण और सूक्ष्म विचार करने पर अद्वैत सिद्धान्त को ही स्वीकार करना पड़ता है।

पृ० २४६-परमेश्वर या परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह निरवयव और नाम-रूप रहित है, अतएव उसे काट नहीं सकते (अच्छेद्य) और उसमें विकार भी नहीं होता (अविकार्य); और इसलिए उसके अलग-अलग विभाग या टुकड़े नहीं हो सकते। (गीता-२/२५)। अतएव जो परब्रह्म सघनता से अकेला ही चारो ओर व्याप्त है, उसका और मनुष्य के शरीर में निवास करनेवाले आत्मा का भेद बतलाने के लिए यद्यपि व्यवहार में ऐसा कहना पड़ता है कि 'शरीर-आत्मा' परब्रह्म का ही 'अंश' है, तथापि 'अंश' या 'भाग' शब्द का अर्थ ''काटकर अलग किया हुआ टुकड़ा'' या ''अनार के अनेक दानों में से एक दाना'' नहीं है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ यह समझना चाहिए कि जैसे घर के भीतर का आकाश और घड़े का आकाश (मठाकाश और घटाकाश) एक ही सर्वव्यापी आकाश का 'अंश' वा भाग

है, उसी प्रकार 'शरीर-आत्मा' भी परब्रह्म का अंश है (अमृतविन्दू-पनिषद् १३ देखो)। अधिक क्या कहें, आधिभौतिक शास्त्र की प्रणाली से तो यही मालूम होता है कि जो कुछ व्यक्त या अव्यक्त मूल तत्त्व है। (फिर चाहे वह आकाशवत् कितना भी व्यापक हो), वह सब स्थल और काल बद्ध केवल नाम-रूप है, अतएव मर्यादित और नाशवान है। यह बात सच है कि उन तत्त्वों की व्यापकता भर के लिए उतना ही परब्रह्म उनसे आच्छादित है, परन्तु परब्रह्म उन तत्त्वों से मर्यादित न होकर उन सबमें ओत-प्रोत भरा हुआ है और इसके अतिरिक्त न जाने वह कितना बाहर है कि जिसका कुछ पता नहीं। वस्तुतः देखा जाय तो देश और काल, माप और तौल या संख्या इत्यादि सब नाम-रूपों के ही प्रकार हैं, और यह बतला चुके हैं कि परब्रह्म इन सब नाम-रूपों के परे है, इसलिए उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि जिस नाम-रूपात्मक 'काल' से सब कुछ ग्रसित है, उस 'काल' को भी ग्रसनेवाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है, वही परब्रह्म है (मै० ६-१५)।

पृ० २४७-परमेश्वर-स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे कि एक ही परब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है; और उसी भाव से संकट के समय भी पूरी समता से बर्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे, परन्तु इसके लिए (सुदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान होना ही बस नहीं है) अनेक पीढ़ियों के संस्कार की, इन्द्रिय-निग्रह की, दीर्घोद्योग की तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यंत आवश्यक है।

पृ० २४८-देखिए, हमारा ज्ञान कितना संकुचित है। 'मुक्ति' मिलती है–ये शब्द सहज ही हमारे मुख से निकल पड़ते हैं। मानो यह मुक्ति आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने के पहले द्रष्टा और दृश्य जगत में भेद था सही, परन्तु हमारे अध्यात्मशास्त्र ने निश्चित करके रखा है, कि जब ब्रह्म-आत्मैक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है और ब्रह्मज्ञानी पुरुष आप ही ब्रह्म-रूप हो जाता है; इस आध्यात्मिक अवस्था को ही 'ब्रह्म-निर्वाण' मोक्ष कहते हैं, यह ब्रह्म-निर्वाण किसी से किसी को दिया नहीं जाता, या कहीं दूसरे

स्थान से आता नहीं, या इसकी प्राप्ति के लिए किसी अन्य लोक में जाने की भी आवश्यकता नहीं । पूर्ण आत्म-ज्ञान जब और जहाँ होगा, उसी क्षण में, उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है; क्योंकि मोक्ष तो आत्मा ही की मूल शुद्धावस्था है, वह कुछ निराली स्वतंत्र वस्तु या स्थल नहीं । शि० गी० (१३-३२) में यह श्लोक है–

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

अर्थात् 'मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं कि जो किसी एक स्थान में रखी हो, अथवा यह भी नहीं कि उसकी प्राप्ति के लिए किसी दूसरे गाँव या प्रदेश को जाना पड़े । वास्तव में हृदय की अज्ञानग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं ।'

पृ० २५०-सारे मोक्ष-धर्म के मूलभूत अध्यात्म-ज्ञान की परम्परा हमारे यहाँ उपनिषदों से लगाकर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीर दास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधु पुरुषों तक अव्याहत चली आ रही है ।

पृ० २५४-मूलारंभ के एक द्रव्य को सत् या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अन्धकार, अमृत या मृत्यु इत्यादि कोई भी परस्पर सापेक्ष नाम देना उचित नहीं; जो कुछ था, वह इन सब पदार्थों से विलक्षण था और यह अकेला एक ही चारो ओर अपनी अपरम्पार शक्ति से स्फूर्तिमान था, उसकी जोड़ी में या उसे आच्छादित करनेवाला अन्य कुछ भी न था।

॥ गीता-रहस्य, कर्मविपाक और आत्म-स्वातंत्र्य, पृ० २७५ ॥

वेद और स्मृति-ग्रन्थों में यज्ञ-याग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है, परन्तु मोक्ष-शास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के हैं; क्योंकि यज्ञ-याग आदि पुण्य कर्मों के द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्य कर्मों के फलों का अन्त हो जाता है, तब चाहे दीर्घकाल में क्यों न हो–कभी-न-कभी इस कर्म-भूमि में फिर लौटकर आना ही पड़ता है । (महा० वन० २५९, २६०, गी० ८/२५ और

शि०गी०=शिव गीता । महा०वन०=महाभारत, वनपर्व । गी०=भगवद्गीता

९/२०) इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म के पंजे से बिल्कुल छूटकर अमृततत्त्व में मिल जाने का और जन्म-मरण की झंझट को सदा के लिए दूर कर देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है ।

संन्यास और कर्मयोग

पृ० ३३८-संसार के व्यवहारों की सिद्धि के लिए स्मृति-प्रणेताओं ने जो पहले तीन आश्रमों की श्रेयस्कर मर्यादा नियत कर दी थी, वह धीरे-धीरे छूटने लगी; और यहाँ तक स्थिति आ पहुँची कि यदि किसी को पैदा होते ही अथवा अल्प अवस्था में ही ज्ञान की प्राप्ति हो जावे, तो उसे इन तीनों सीढ़ियों पर चढ़ने की आवश्यकता नहीं है, वह एकदम संन्यास ले ले, तो कोई हानि नहीं ।

भक्ति-मार्ग

पृ० ४१०-४११-उपनिषदों में जिस श्रेष्ठ ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, वह इन्द्रियातीत, अव्यक्त, अनन्त, निर्गुण और 'एकमेवाद्वितीय' है, इसलिए उपासना का आरंभ उस स्वरूप से नहीं हो सकता । कारण यह है कि जब श्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप का अनुभव होता है, तब मन अलग नहीं रहता; किन्तु उपास्य और उपासक, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों एक रूप हो जाते हैं । निर्गुण ब्रह्म अन्तिम साध्य वस्तु है, साधन नहीं, और जबतक किसी-न-किसी साधन से निर्गुण-ब्रह्म के साथ एकरूप होने की पात्रता मन में न आवे, तबतक इस श्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार हो नहीं सकता । अतएव साधन की दृष्टि से की जानेवाली उपासना के लिए जिस ब्रह्म-स्वरूप को स्वीकार करना होता है, वह दूसरी श्रेणी का, अर्थात् उपास्य और उपासक के भेद से मन को गोचर होनेवाला, यानी सगुण ही होता है, और इसीलिए उपनिषदों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है, वहाँ-वहाँ उपास्य ब्रह्म के अव्यक्त होने पर भी सगुण रूप से ही इसका वर्णन किया गया है ।

पृ० ४१५-यह जो नाम-रूपात्मक वस्तु उपास्य परब्रह्म के चिह्न, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधि के तौर पर उपासना के लिए आवश्यक है, उसी को वेदान्त शास्त्र में 'प्रतीक' कहते

हैं । प्रतीक (प्रति+इक) का धात्वर्थ यह है– प्रति=अपनी ओर, इक=झुका हुआ, जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं । इस नियम के अनुसार, सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है ।

पृ० ४२०-साधन की दृष्टि से यद्यपि वासुदेव-भक्ति को गीता में प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्म-दृष्टि से विचार करने पर वेदान्त-सूत्र की नाईं (वे० सू०[1] ४-१-४१) गीता में भी यही स्पष्ट रीति से कहा है कि 'प्रतीक' एक प्रकार का साधन है-वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता । अधिक क्या कहें! नाम-रूपात्मक और व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओं में से किसी को भी लीजिए, वह माया ही है । जो सत्य परमेश्वर को देखना चाहे, उसे इस सगुण रूप के भी परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिए । भगवान की जो अनेक विभूतियाँ हैं, उनमें अर्जुन को दिखलाए गए विश्वरूप से अधिक व्यापक और कोई भी विभूति हो नहीं सकती। परन्तु जब यही विश्वरूप भगवान ने नारद को दिखलाया, तब उन्होंने कहा है–"तू मेरे जिस रूप को देख रहा है, यह सत्य नहीं है, यह माया है, मेरे सत्य-स्वरूप को देखने के लिए इसके भी आगे तुझे जाना चाहिए" (शां०[2] ३३९-४४) । और गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट रीति से यही कहा है–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गी०

१ वे० सू० = वेदान्त सूत्र ।

२ शां० = शान्ति-पर्व (महाभारत) । शांति-पर्व, मोक्षधर्म-उत्तरार्द्ध, अध्याय १६४, पृ० ७९९, भारती अनुवादक केनिंग कॉलेज, लखनऊ के भूतपूर्व संस्कृत के प्रोफेसर स्वर्गीय पं० कालीचरणजी चौरसिया गौड़, १९२६ ई० में प्रकाशित चतुर्थावृत्ति, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में देखो । गी० = भगवद्गीता ।

७-२४) अर्थात् मनुष्य-देहधारी मानते हैं (गी० ९-११); परन्तु यह बात सच नहीं है, मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है । इसी तरह उपनिषदों में भी यद्यपि उपासना के लिए मन, वाचा, सूर्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्म-प्रतीकों का वर्णन किया गया है, तथापि अन्त में यह कहा है कि जो वाचा, नेत्र या कान को गोचर हो, वह ब्रह्म नहीं, जैसे–

यन्मनसा न मनुते येनाऽहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

"मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता; किन्तु मन ही जिसकी मनन-शक्ति में आ जाता है, उसे तू ब्रह्म समझ; जिसकी उपासना (प्रतीक के तौर पर) की जाती है, वह (सत्य) ब्रह्म नहीं है" (केन० १-५-८) । 'नेति-नेति' सूत्र का भी यही अर्थ है ।

मन और आकाश को लीजिए, अथवा व्यक्त उपासना मार्ग के अनुसार शालिग्राम, शिवलिंग इत्यादि को लीजिए, या श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की अथवा साधु पुरुषों की व्यक्त मूर्ति का चिन्तन कीजिए, मन्दिरों में शिलामय अथवा धातुमय देव की मूर्ति को देखिए, अथवा बिना मूर्ति का मन्दिर या मस्जिद लीजिए–ये सब छोटे बच्चे की लंगड़ी गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के लिए अर्थात् चित की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन हैं । प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिए किसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है, यह प्रतीक चाहे कितना प्यारा हो, परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि सत्य परमेश्वर इस "प्रतीक में नहीं है," "न प्रतीके न हि सः" (वे० सू० ४-१-४)–उसके परे है ।

पृ० ४२३-यह मनुष्यों की अत्यंत शोचनीय मूर्खता का लक्षण है, कि वे इस सत्य तत्त्व को तो नहीं पहचानते कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और उसके भी परे अर्थात् अचिन्त्य है, किन्तु वे ऐसे नाम-रूपात्मक व्यर्थ अभिमान के अधीन हो जाते हैं कि ईश्वर ने अमुक समय, अमुक देश में,

वे० सू० = वेदान्त-सूत्र । केन० = केनोपनिषद् ।

अमुक माता के गर्भ से, अमुक वर्ण का, नाम का या आकृति का जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है—और इस अभिमान में फँसकर एक दूसरे की जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं ।

पृ० ४३४-स्मार्त मार्ग में चतुर्थाश्रम का जो महत्त्व है, वह भक्तिमार्ग में अथवा भागवत धर्म में नहीं है । वर्णाश्रम-धर्म का वर्णन भागवत धर्म में भी किया जाता है, परन्तु उस धर्म का सारा दारमदार भक्ति पर ही होता है, इसलिए जिसकी भक्ति उत्कट हो, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है-फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या वैरागी हो, इसके विषय में भागवत धर्म में कुछ विधि-निषेध नहीं है (भाग० ११-१८-१३-१४ देखो) ।

पृ० ४३८-४३९-जिसकी बुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनियाँ हो या कसाई; किसी मनुष्य की योग्यता उसके धन्धे पर, व्यवसाय पर या जाति पर अवलम्बित नहीं, किन्तु सर्वथा उसके अन्तःकरण की शुद्धता पर अवलम्बित होती है ।

गीताध्याय-संगति

पृ० ४४४—उपनिषदों में तो यही कहा है कि ''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत'' (जा० ४) अर्थात् जिस क्षण उपरति हो, उसी क्षण संन्यास धारण करो; विलम्ब न करो।

पृ० ४५०-केवल तिल और चावल को जलाना अथवा पशुओं को मारना, एक प्रकार का यज्ञ है सही, परन्तु यह द्रव्यमय यज्ञ हलके दर्जे का है और संयमाग्नि में काम-क्रोधादिक इन्द्रिय-वृत्तियों को जलाना अथवा 'न मम' कहकर सब कर्मों का ब्रह्म में स्वाहा कर देना ऊँचे दर्जे का यज्ञ है।

पृ० ४५१-ईश्वर तुमसे न यह कहता है कि कर्म करो, और न तुमसे यह कहता है कि उसका त्याग कर दो । यह तो सब प्रकृति की क्रीड़ा है; और बन्धन मन का धर्म है, इसलिए जो

भाग० = श्रीमद्भागवतपुराण । जा० = जाबालोपनिषद् ।
उपरति = विरति, विषयों से इन्द्रियों को हटाना ।

मनुष्य समबुद्धि से अथवा ''सर्वभूतात्मभूतात्मा'' होकर कर्म किया करता है, उसे उस कर्म की बाधा नहीं होती । अधिक क्या कहें, इस (पाँचवें) अध्याय (गी० ५-१८) के अन्त में यह भी कहा है कि जिसकी बुद्धि कुत्ता, चाण्डाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादि के प्रति सम हो जाती है और जो सर्वभूतान्तर्गत आत्मा की एकता को पहचान कर अपना व्यवहार करने लगता है, उसे बैठे-बिठाये ब्रह्म-निर्वाणरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है— मोक्ष-प्राप्ति के लिए उसे भटकना कहीं पड़ता, वह सदा मुक्त ही है ।

पृ० ४६२-*भगवान ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है कि क्षर और अक्षर दोनों के परे जो पुरुषोत्तम है, उसे पहचान कर उसकी 'भक्ति' करने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है—तू भी ऐसा ही कर ।

पृ० ४६५-चूँकि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है, इसलिए पिण्ड-ब्रह्माण्ड के तत्त्व को पहचानना ही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है; और इसी को धर्मशास्त्र में मोक्ष कहते हैं ।

पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में जो तत्त्व है, उसका ज्ञान हुए बिना मोक्ष नहीं मिलता ।

पृ० ४६८-यदि फलाशा का त्यागकर सब कर्म किये जावें तो यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है ।

उपसंहार

पृ० ४७०-किसी भी दृष्टि से विचार कीजिए, अन्त में गीता का सच्चा तात्पर्य यही मालूम होगा कि 'ज्ञान-भक्तियुक्त कर्मयोग' ही गीता का सार है ।

पृ० ४८३-गीता के सिद्धान्त ये हैं—(१) बाह्य कर्म की अपेक्षा कर्त्ता की (वासनात्मक) बुद्धि ही श्रेष्ठ है, (२) व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मनिष्ठ होकर जब सन्देह-रहित तथा सम हो जाती है, तब फिर वासनात्मक बुद्धि आप-ही-आप शुद्ध और पवित्र हो जाती है, (३) इस रीति से जिसकी बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष हमेशा विधि और नियमों

* यह उपदेश गीता के पंद्रहवें अध्याय के अन्त में है ।

से परे रहा करता है, (४) और उसके आचरण तथा उसकी आत्मैक्यबुद्धि से सिद्ध होनेवाले नीति-नियम सामान्य पुरुषों के लिए आदर्श के समान पूजनीय तथा प्रमाणभूत हो जाते हैं, (५) पिण्ड अर्थात् देह में तथा ब्रह्माण्ड में अर्थात् सृष्टि में एक ही आत्मस्वरूपी तत्त्व है, देहान्तर्गत आत्मा अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त कर लेने के लिए सदा उत्सुक रहता है तथा उस शुद्धस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर सब प्राणियों के विषय में आत्मौपम्य दृष्टि हो जाती है ।

पृ० ४८९, ४९०-सगुण परमेश्वर तथा दृश्य सृष्टि, दोनों उस आत्मा के ही व्यक्त स्वरूप हैं, जो सर्वभूतान्तर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है ।

पृ० ५०२-कबीर जैसे भक्त इस देश की सन्त-मण्डली में मान्य हो गये ।

परिशिष्ट

पृ० ५४०-वैदिक धर्म का अत्यंत प्राचीन स्वरूप न तो भक्ति-प्रधान, न तो ज्ञान-प्रधान और न योग प्रधान ही था, किन्तु वह यज्ञमय अर्थात् कर्म-प्रधान था और वेदसंहिता तथा ब्राह्मणों में विशेषतः इसी यज्ञ-याग आदि कर्म-प्रधान धर्म का प्रतिपादन किया है ।

गीता-रहस्य, पृ० १६२, १६४—प्रकृति सगुण है, पुरुष निर्गुण है । पृ० १६५, १६७—पुरुष निर्गुण है और असंख्य है ।

परम भक्तिन मीराबाई की वाणी

॥ राग मलार, ताल कहरवा ॥

लागी मोहि राम खुमारी हो ॥
रमझम बरसै मेहड़ा, भीजै तन सारी हो ।
चहूँ दिस दमकै दामणी, गरजै घन भारी हो ॥
सतगुरु भेद बताया, खोली भरम किवारी हो ।
सब घट दीसै आत्मा, सबही सूँ न्यारी हो ॥
दीपक जोउँ ज्ञान का, चढ़ूँ अगम अटारी हो ।
मीरा दासी राम की, इमरत बलिहारी हो ॥

-- :: ० :: --

॥ होरी सिन्दुरा, ताल धमार ॥

फागण के दिन चार, होली खेल मना रे ॥
बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झनकार रे ।
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै, रोम-रोम रणकार रे ॥
सील संतोख की केसर घोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे ।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे ॥
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोक लाज सब डार रे ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहार रे ॥

॥ राग जैजैवन्ती, ताल चर्चरी ॥

गली तो चारों बंद हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ॥
ऊँची नीची राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय ।
सोच-सोच पग धरूँ जतन से, बार-बार डिग जाय ॥
ऊँचा नीचा महल पिया का, म्हाँसू चढ्यो न जाय ।
पिया दूर पंथ म्हारो झीणो, सूरत झकोला खाय ॥
कोस कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड-पैंड बटमार ।
हे विधना कैसी रच दीनी, दूर बसायो म्हारो गाँव ॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सतगुरु दई बताय ।
जुगन-जुगन से बिछड़ी मीरा, घर में लीनी लाय ॥

॥ राग जोगिया, ताल दीपचंदी ॥

हे री मैं तो प्रेम दीवानी, मेरो दरद न जाणै कोय ॥
घायल की गति घायल जाणै, जो कोई घायल होय ।
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होय ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवण किस विध होय ।
गगन मंडल पर सेज पिया की, किस विध मिलना होय ॥
दरद की मारी वन-वन डोलूँ, वैद मिल्या नहिं कोय ।
मीराँ की प्रभु पीर मिटेगी, जब वैद साँवलिया होय ॥

॥ कल्याण पत्र-'योगांक' से उद्धृत ॥

पृ० ४९९-प्रेमयोगिनी मीरा का जन्म वि० सं० १५५५ के लगभग हुआ। मेवाड़ के राणा साँगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज के साथ विवाह हुआ, जो विवाह के बाद थोड़े काल में मर गया।

॥ शब्द ॥

ऊँची अँटरिया, लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछी ।
पचरंगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली ॥
बाजूबन्द कड़ूला सोहै, माँग सिंदूर भरी ।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा, सोभा अधिक भली ॥
सेज सुखमणाँ 'मीराँ' सोवै, सुभ है आज घड़ी ।

॥ पृ० ८५९-साधु मानपुरीजी का शब्द ॥ (सारंग दरबारी)

क्यों वन ढूँढत साईं ? साईं घर माहीं ।
अलख खलक में यों कर देखो, ज्यों दरपन मों छाहीं ॥१॥
कोइ पूरब कोई पच्छिम धावें, गुरु बिन उपजत नाहीं ॥२॥
कहत मानपुरी साँचौ साहेब, फैल रह्यो सब ठाहीं ॥३॥

॥ पृ० ८६०-राजयोगी श्रीटीकारामनाथजी महाराज का शब्द ॥

विराजैं रोम रोम में राम, नहिं कहुँ दूजो धाम ।टेक॥
अगम अपार अनादि अगोचर, सज्जन मनोभिराम ॥१॥
आगम-निगम जहँ पार न पावै, सच्चित-सुख-विश्राम ॥२॥
'टीका' के गुरु नाथ निरंजन, पावन पूरन काम ॥३॥

पृ० ७८२- जैन योगी आनन्दघनजी का शब्द ॥

अवधू क्या सोवै तन-मठ में, जाग विलोक न घट में ॥ अवधू०॥
तन-मठ की परतीत न कीजै, ढाहि परे एक पल में ।
हलचल मेटि खबर ले घट की, चीन्हे रमता जल में ॥ अवधू०॥
मठ में पंचभूत का वासा, सासा[१] धूत[२] खबीसा[३]।
छिन छिन तोरि चलन को चाहे, समझै न बौरा[४] सीसा [५] ॥ अवधू०॥
सिर पर पंच बसे परमेसर, घट में सूच्छम बारी[६]।
आप अभ्यास लखे कोइ बिरला, निरखे ध्रू की तारी [७]॥ अवधू०॥
आशा मारि आसन धरि बैठे, अजपा जाप जगावै ।
'आनन्दघन' चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै ॥ अवधू०॥

(१) श्वास । (२) थरथराता हुआ । (३) भयंकर, दुष्ट । (४) पागल । (५) शीश, शीर्ष, सिर, सामना, अग्रभाग । (६) खिड़की । (७) ध्रुवतारा ।

बाबा कीनारामजी का भजन

मदिया मैं पियबौं बनाइ, मैं कलबारिन होयबौं ॥१॥
मन महुआ गुरुज्ञान जवर कर, तन को भठी बनइबौं ।
ब्रह्म अग्नि को प्रगट कियो है, मदुए नाम चुएबौं ॥२॥
यह तन बोतल नीके साफ करि, निर्मल ज्ञान भरैबौं ।
प्रेम प्याला ढारि ढारि पियबौं, तब हरि के दास कहैबौं ॥३॥
ये मद पियलें सुर नर माते, सन्त भये मतवाले ।
शिव सनकादि आदि ब्रह्मा ले, पियते प्रेम पियाले ॥४॥
पियत पियत मन मगन भयो है, प्रगटे ज्ञान लखैबौं ।
'किनाराम' गुरु के सत महिमा, फिर ना यह तन पैबौं ॥५॥

पुष्कर निवासी स्वामी ब्रह्मानन्दजी रचित 'ईश्वर-दर्शनम्' नाम की पुस्तक से उद्धृत, तृतीयावृत्ति, संवत् १९८० वि०।

पृ० ४७-विष्णु भगवान ने नारद मुनि को श्वेत दीप में विश्वरूप दिखलाया तो पीछे नारद को कहा कि हे नारद! यह जो तू मेरे अनेक प्रकार के रूप देखता है, सो यह केवल मैंने मेरी माया का विस्तार किया है ।

पृ० २१०-न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवति यस्मिन्नेतावुपाश्रिताविति॥ श्रुति वचनात्॥

अर्थ–प्राण और अपान से कोई जीव नहीं जीता है; परन्तु दूसरे चेतन से ही सब जीव जीते हैं, जिसके आश्रय से प्राण और अपान चलते हैं ।

पृ० २१४-२१५-विशेष रूप से चैतन्य का दो प्रकार का रूप होता है, तिनमें जो सर्व चराचर जगत में समान रूप से व्यापक है, उसको सामान्य चैतन्य कहते हैं और जो अन्तःकरण-उपाधि से मिला हुआ है, उसको विशेष चैतन्य कहते हैं। सो जैसे घट में स्थित भया आकाश, दूसरे घटाकाशों से भिन्न हो जावे है और जैसे दीपक पर आरूढ़ हुआ अग्नि दूसरे दीपकों वा समान व्यापक अग्नि से भिन्न होवे है, तैसे ही अन्तःकरण-उपाधियुक्त चैतन्य भी दूसरे सर्व जीवात्माओं से या ब्रह्म से भिन्न हो जाता है । सो जैसे एक घटाकाश के रजोधूमादि-युक्त

होने से सभी घटाकाश रजोधूमादि युक्त करके नहीं होते हैं और जैसे एक दीपक के हिलने-चलने से वा धूम-धूलिवाले होने से सभी वैसे नहीं हो जाते, तैसे ही यहाँ जीवात्माओं की बाबत भी समझ लेना चाहिए अर्थात् व्यापक चैतन्य एक होने पर भी अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से परस्पर जीवात्माओं के भिन्न होने से सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदिकों का मिश्रितपन नहीं होवे है ।

सद्गुरु बाबा देवी साहब के वचन

* घटरामायण की भूमिका से—जीव के उद्धार का मार्ग हर एक मनुष्य के अन्तर में मौजूद है । जबतक कि कोई जीव इस पर न चलेगा, धर्म और पंथ का असली फल मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है और न अपने और दूसरे के धर्म की असली जड़ और सच्चाई को जान सकता है और न उन ग्रन्थों और पोथियों के मतलब को कि जो उसके धर्म और पन्थ के हैं, समझ सकता है, चाहे कैसा ही पंडित- मौलवी-पादरी हो कि जो ईश्वर या खुदा की बोली को समझ सकता हो । लेकिन पंथ और धर्म उसके नजदीक या तो एक खेल या तमाशा है या दुनिया में दंगा और फिसाद फैलाने का और भोले-भाले जीवों को धोखा देने का उमदा सिद्धांत है; क्योंकि हर मत की सच्चाई की जाँच जाँचने से मालूम हो सकती है, और जाँचने का थर्मामीटर ईश्वर या खुदा ने हर जीव अमीर, गरीब, पंडित, मौलवी, पादरी, ज्ञानी, अज्ञानी, पापी, पुण्यात्मा और ब्राह्मण, सैयद से लेकर भंगी, चमार, कसाई तक कुल के अन्तर में एक-सा रखा है; जबतक कि कोई मनुष्य इस पैमाने से कि जो खास उसके अन्तर में है, अपने आचार्य और अपने मत की सच्चाई और महिमा को नहीं जाँच सकता है, तो दूसरे

* यह पुस्तक हाथरस-निवासी संत सद्गुरु तुलसी साहब की बनाई हुई है, लोगों में ऐसा विख्यात है । इसको सद्गुरु बाबा देवी साहब ने तुलसी साहब के हाथरस स्थान से ही वहाँ की हस्तलिखित पुस्तक से नकल कराकर १८९६ ई० में छपवाया था।

के मत की सच्चाई और महिमा को क्योंकर जान सकता है।

यह थर्मामीटर या पैमाना अन्तरी मार्ग है और चौदह दर्जों में तकसीम हुआ है ।

सब दर्जों के नाम और भेद

नं०	नाम	भेद
१	अनाम	वह जो कुछ कि है समझ में आता है, लेकिन कहने में नहीं आता; क्योंकि यहाँ का जो कुछ हाल अभ्यासी की सुरत में पड़ता है, नम्बर तेरह तक जहाँ से कि बातचीत करने का शब्द शुरू होता है, नहीं पहुँचने पाता; क्योंकि उसको नीचे के मायावी स्थान खींच लेते हैं और उसको छिपा देते हैं, उसको अलौकिक कहते हैं और मालिक इसका अनाम है ।
२	अगम	यह दोनों नम्बर एक की तारीफ बतलाते हैं कि वह कैसा और क्या है ।
३	अलख	
४	नाम	वह जगह, जहाँ कि सत्य का भण्डार है, जिसकी कि कुल दुनिया तारीफ करती है कि इसका नाश नहीं होता, इस जगह मोक्ष होता है—इसको सत्तलोक कहते हैं और इसका नाम सत्तनाम, सत्तपुरुष, सत्तगुरु, वाहगुरु, सत्तसाहिब सन्तों में बोला जाता है ।
५	भँवर गुफा	वह जगह, जहाँ से कि रचना शुरू हुई और चेतन पर जड़ की लपेट चढ़ी। इसी जगह से जीव पर कारण की लपेट चढ़ी और नम्बर एक से चार तक का

नं०	नाम	भेद
		हाल इस जगह से सुरत में से निकलना शुरू हो जाता है और वह छिपे हुए चारो स्थान यह हैं, जो ऊपर बयान किये गये हैं ।
६	महासुन्न	नम्बर पाँच की तारीफ बतलाते हैं, इस जगह निर्गुण निरंकार-अक्षर-कारण शुद्ध ब्रह्म है ।
७	सुन्न (शून्य)	
८	त्रिकुटी	वह जगह, जहाँ से तीन गुण पैदा हुए और कारण पर सूक्ष्म की लपेट चढ़ी । इसे ब्रह्मलोक कहते हैं और मालिक इसका ओंकार है—परब्रह्म, परमेश्वर, अल्ला अकबर है । कुल आकाशी और आसमानी किताबों का यह बीज है (सूरज)।
९	सहस्रदल-कँवल	वह जगह, जहाँ से पाँच तत्त्व पैदा हुए और सूक्ष्म पर स्थूल की लपेट चढ़ी । कुल अच्छे-बुरे कर्मों का फैसला होकर जीव दुनिया को इसी जगह से लौटाया जाता है। मालिक इसका ओ३म्—ब्रह्म, ईश्वर, निरंजन है। (ज्योति)
१०	षट्-चक्र*	वह जगह, जहाँ पिंड-ब्रह्माण्ड दोनों की हद्द मिली है । इसको छठा चक्र इसलिए कहते हैं कि नीचे इसके पाँच चक्र और हैं, छठा यहाँ खतम हुआ है । मालिक इसका प्रणव-विन्दु, निजमन, नफसनातका, तीसरा नेत्र, शिवनेत्र, सुखमना, अकल्टाई, ईस्टर्न स्टार कहते

*षट्चक्र की विशेष व्याख्या परम पूज्य महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज के शब्दों में पृष्ठ संख्या २५५ पर देखें ।

नं०	नाम	भेद
		हैं । (तारा, मणि, मोती, हीरा) ऊपर की तरफ चढ़ने और नीचे की तरफ उतरने की यह खिड़की है ।
११	कंठ-चक्र	वह जगह, जहाँ विद्या तथा इल्म का प्रकाश होता है, मालिक इसकी सरस्वती है ।
१२	हृदय-चक्र	वह जगह, जहाँ से कि नाश-शक्ति पैदा होती है और रूप में हर एक किस्म की काट-छाँट करती है । मालिक इसका महेश है ।
१३	नाभि-चक्र	वह जगह, जहाँ से कि पालन करने की शक्ति पैदा होती है, जिससे कि रूप कायम होता है । मालिक इसका विष्णु है ।
१४	इन्द्री-चक्र	वह जगह, जहाँ से कि रूप बनने की शक्ति पैदा होती है । मालिक इसका ब्रह्मा है।
१५	गुदाचक्र	वह जगह, जहाँ तीनों गुण और पाँच तत्त्व-पिंड, ब्रह्मांड की रचना सिद्ध करके इकट्ठे हुए और उसकी शक्तियाँ बाहर में इस दुनिया से बाँधी गईं, मालिक इसका गणेश है ।

षट्-चक्र पर महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज द्वारा व्याख्या—योगियों ने इसका नाम आज्ञाचक्र भी रक्खा है, सो भी सही है; क्योंकि जो कोई इस चक्र पर अपने को पहुँचाकर रख सकता है, उसके लिए आगे बढ़ने का मार्ग खुल जाता है और अन्तर का जो सारशब्द पकड़ना चाहिए, सो पकड़ा जाता है । गोया उसको विशेष अन्दर आने की ईश्वर की ओर से आज्ञा

जबतक कि जीव नम्बर आठवें से निकलकर चौथे दर्जे में नहीं पहुँचेगा, मोक्ष नहीं हो सकता । और न उसको स्वर्ग और बैकुण्ठ हो सकता है, जबतक कि नौवें दर्जे में न पहुँचे; क्योंकि कुल सामान स्वर्ग और बैकुण्ठ वगैरह के कि जो ग्रन्थों में लिखे हुए हैं, सब इसी जगह मौजूद हैं

रामायण तुलसीकृत–'बाल का आदि और उत्तर का अन्त' की भूमिका (सद्गुरु बाबा देवी साहब लिखित) से–

साधु और सन्त वह कहलाते हैं कि जो दुनियाँ में सीधी और सलामत रवी की चाल को अख्यार करते हैं और सुरत अर्थात् ख्याल से ध्यान करने का उपदेश करते हैं, जिसे चाहे बैठ के करो, चाहे लेट के करो, और न कोई मत-मतान्तर की बूझ होती है–वैदिकधर्मी, मुसलमान, ईसाई कुछ बने रहो, परन्तु दुनियाँ में दुःख-सुख भोगते हुए अन्तर में बिना अभ्यास किए एक दिन भी मत रहो।

मिल गई । पिंड में जो लोग रहते हैं, पिंड के घनघोर माया-आवरण में पड़े ही रहते हैं; परन्तु यहाँ जो नीचे पिंडी अन्धकार है, वही पिंडी अन्धकार और उसका मायिक शब्द उसको बहुत उलझाता है। आज्ञाचक्रवाला प्रकाश का शब्द जो मिल जाता है, वही सारशब्द ऊपर ले जाने का है । वह अभ्यासी अन्धकार मंडल-पिंडी आवरण से छूटता है । यह नहीं कि षट्चक्र के नीचे के वा कुछ दूर के ऊपर के वह मोटे शब्दों के झमेले में नहीं रहता है । सहस्त्रदल कमल के ऊपर त्रिकुटी को जो पार कर जाता है, वह नीचे बताए हुए मोटे शब्द के झमेले में नहीं रहता है । अभ्यासी को मुस्तैदी से ही अभ्यास करना बहुत जरूरी है । फिर तो आगे के शब्दों में निर्मलता मिलती जायगी और बढ़ते-बढ़ते बढ़ जाने पर ऋद्धि-सिद्धि के झमेले से छूट जाता है । सारशब्द की पहचान तब उसको हो जाती है । और वह अनाम पद तक पहुँच जाता है ।

अभ्यासी को सांसारिक राग-रागिनीवाले मीठे-से-मीठे तथा अद्भुत प्रभावशाली शब्दों में भी नहीं फँसना चाहिए ।

इनका (साधु-सन्तों का) सबसे छोटा सिद्धान्त है, न तो अब तक वह संस्कृत, अरबी, फारसी, इबरानी में पाया जाता है और न उसने अभी तक किसी प्रेस या छापेखाने का मुँह देखा है। बल्कि उसकी नकल मनुष्यों के अन्दर पाई जाती है और वह चोदहे* सफों में लिखी हुई है । जबतक कि कोई अन्तर में अभ्यास न करे, तबतक न तो उसके अक्षर जान सकता है और न उसे पढ़ सकता है ।

सन्तों का आम उपदेश यह है कि अन्दर या बाहर जो कुछ कि निगाह में आता है, जहाँ तक कि रूप है, कुल मायावी और नाशवान है, और इनके बाद एक ऐसी जगह है कि न तो वह कभी पैदा हुई है और न कभी नाश होती है । यही सत्य है । इसका नाश नहीं होता । इसका न कुछ रंग है और न कुछ रूप है और न कोई खास नाम है; लेकिन यह कुछ है, जो ख्याल और समझ में आता है, इसलिए वह भी नाम के शब्द से बोले जाने का अधिकारी है । जीव इसका अंश है; क्योंकि इसका भी नाश नहीं होता। इसको उसमें मिलाने को सत्संग अन्तरी कहते हैं और बाहर में उस जगह को कहते हैं, जहाँ परमार्थी बातचीत करने को मनुष्य जमा होते हैं । इनके दस्तूर और कायदे के मुआफिक जो लोग अभ्यास करते हैं, उनको साधु कहते हैं, और जिन्होंने कि अपने को उस लोक में पहुँचाया है, जहाँ कि वह सत्य है, सन्त कहलाते हैं ।

सन्तों में अभ्यास करने के बहुत गुर (युक्ति) नहीं है, सिर्फ दो हैं–एक दृष्टि, दूसरा शब्द ।

॥ पुनः घटरामायण की भूमिका से ॥

(१) दृष्टि-साधन उसको कहते हैं कि जो आँख के साथ अभ्यास किया जाता है । इसके साधन करने के सैकड़ों गुर और अमल हैं कि जो भारतवर्ष और दूसरे मुल्कों में जारी हैं, लेकिन बाजे इनमें से ऐसे होते हैं कि जिनसे आँख के दोनों गोले टेढ़े पड़

* चौदह दर्जे, जो घटरामायण की भूमिका में लिखे जा चुके हैं। यह पुस्तक १८९६ ई० की छपी हुई है ।

जाते हैं । और बाजे ऐसे हैं कि जिनसे आँख जाती रहती है और बाजे कायदे ऐसे भी हैं कि जिनसे आँख की दोनों पुतलियों को, जिनमें से होकर रोशनी बाहर को निकलती है, खराब कर देते हैं, जिनसे फिर आँखों से धुँधला दिखाई पड़ता है और चाहे तमाम उमर हकीम, वैद्य, डॉक्टर इलाज करें, किसी तरह पुतलियाँ दुरुस्त नहीं होतीं । दृष्टि से अभ्यास करने का वह कायदा है, जिसको आँख और आँख के गोले से कुछ तआल्लुक नहीं है और न दृष्टि के मानी आँख और आँख के गोले के हैं, जिनसे कि वह नुकसान होते हैं, जो ऊपर बयान किये गये हैं ।

दृष्टि, निगाह को कहते हैं कि जो मांस और खून की बनी हुई नहीं है । मुनष्य में यह निगाह ऐसी बड़ी ताकतवर चीज है कि जिसने बड़े-बड़े छिपे हुए साइन्स और विद्याओं को निकालकर दुनियाँ में जाहिर किया है और सिद्धि वगैरह की असलियत और मसालों का पता जिससे कि वह हो सकती है, सिवाय इसके और किसी से नहीं लग सकता है । योग-विद्या के सीखने का दृष्टि पहिला कायदा है और इसके अभ्यास करने का गुर ऐसा उमदा है, जिससे स्थूल शरीर के किसी हिस्से को कुछ तकलीफ नहीं होती है और अभ्यासी इसके अभ्यास से उन निशानों को, जिनको कि ईश्वर या खुदा की आकाशी और आसमानी ग्रंथों और किताबों में सबसे बड़ा बतलाया है, जल्द पाकर मालूम कर लेता है और फिर तमाम दुनियाँ के सिद्धान्त और असूल अभ्यासी के रू-ब-रू हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं कि जो तमाम उमर पोथियों और ग्रंथों के पढ़ने और सुनने से हासिल नहीं होते । लेकिन दृष्टि सिर्फ उस जगह पहुँच सकती है, जहाँ तक कि रूप है और जहाँ से कि आवागमन हो सकता है, आगे उसके नहीं जा सकती, जहाँ कि रूप और रेखा कुछ नहीं है और जहाँ से कि मोक्ष होता है । सन्तों के मत में सबसे बड़ा पदार्थ मोक्ष है और उस जगह तक दृष्टि नहीं जा सकती। इसलिए शब्द का दूसरा कायदा वहाँ पहुँचने को उपदेश किया गया है ।

इल्म-योग में सबसे बड़ा सिद्धान्त मोक्ष पद पाने के लिए

शब्दमार्ग है, जो बहुत-से नामों से बोला जाता है । बाजे महात्मा इसी शब्दमार्ग को धर्म और पंथ की बुनियाद डालकर इसका उपदेश करते हैं । और बाजे लोग इसके साइन्स और विद्या के नाम से कोई सुसाइटी वगैरह कायम करके उपदेश करते हैं, इसलिए धर्म और साइन्स दोनों की यह जान है—न तो कोई धर्म और पन्थ बिना इस सिद्धान्त के चल सकता है और न कोई साइन्स और विद्या, बिना इसके सहारे चल सकती है ।

॥ पुनः 'बाल का आदि और उत्तर का अन्त' की भूमिका से ॥

आवागमन से बचने को ही इनके (सन्तों के) मत का सबसे बड़ा फल है और इसी की बुनियाद पर इनके मत का उपदेश होता है ।

गिलासरी यानी कोश-(बाल का आदि और उत्तर का अन्त)

पृ० ५८-५९-सन्तमत में दुनियाँ अनादि नहीं मानते हैं । यह कभी पैदा हुई है और इसका कभी नाश भी होगा । जब कभी कि नाश यानी प्रलय या कयामत होगी तो उस जगह तक का नाश होना माना है, जहाँ तक कि कोई शकल या रूप है। मतलब यह कि जहाँ तक कोई लोक या कमल और ईश्वर या कमलों का कोई मालिक है—एक दिन सबका नाश होगा ।

पृ० ६३-अणिमादिक—यह ईश्वरी निशान है कि जो अभ्यास-मार्ग में मालूम होते हैं। अन्तरी भेद जानने के लिए अभ्यास की जरूरत होती है और अभ्यास बिना जाने गुर अर्थात् जतन के किसी तरह से नहीं हो सकता है और यह दो तरह से मालूम होता है । अव्वल तो गुरु की दया से और दूसरे अगले जन्म की कमाई से अपने आप मालूम हो जाता है और उसका सामान भी खुद-ब-खुद वैसा ही बन जाता है । लेकिन दोनों किस्म के लोगों को सत्संग की सख्त जरूरत होती है; क्योंकि उन भेदों को जिनको कि यह दोनों लोग अभ्यास-रीति से निकालते हैं, बिना सत्संग और गुरु के नहीं समझ सकते।

अबतक यह नहीं मालूम हुआ कि सबसे पहला वह कौन मनुष्य था, जिसने कि दुनियाँ में गुरु और गुर के असूल को कायम किया । अगर वह मनुष्य इस असूल को कायम न करता

तो, न तो असली मालिक का पता लगता और न कोई इन्तजाम मुनासिब तरह से होता। धर्म और मतों में न पीर-पैगम्बर, औलिया-औतार-देवता, ऋषि और मुनि होते और न दुनियाँ की बादशाहत और राज का आज के दिन नाम सुना जाता और जितनी सभा और सोसाइटी के जो अब तक जारी हैं, पते को न होतीं और पुत्र को न कुछ पिता का ख्याल होता और न स्त्री अपने पति की हुक्मबरदार होती।

दुनियाँ की जितनी कारीगरी और सनद बी० ए०, एम० ए०, शास्त्री, हाफिज, मौलवी, सिविलियन-डॉक्टर, बढ़ई, चमार, कोली से लगाकर ईश्वर और उसका रास्ता, कुल गुरु के मोहताज हैं । जिन लोगों की दीनी और धर्म के जलसों में गुरु को नहीं माना जाता है, वे लोग हमेशह दंगा-फिसाद मचाते रहेंगे और जिन्दगी भर चक्कर में रहेंगे; क्योंकि न इसका कोई समझानेवाला है और न यह समझनेवाले हैं कि इन्होंने उस पवित्र और आकाशी सिद्धांत को नहीं माना, जिसको कि सबसे पहले मनुष्य ने कायम किया था।

पृ० ६८-**सतगुर**–सत, सच्च को कहते हैं और गुर, अमल या भेद को कहते हैं, जिसके अभ्यास से कि जीव अनाम तक पहुँचता है । लेकिन यहाँ* उन सतगुर से मतलब है कि जो निहायत प्यार से उस शब्द और प्रकाश-रूपी सतगुर के भेद को बतलाते हैं । इनका दर्जा सबसे बड़ा है । जबतक जीव इनको अपना हकीम न बनावेगा और इनके वचन पर प्रतीत न करेगा, अपने मतलब को नहीं पा सकता है ।

सत्संग बाहरी और अन्तरी–सत्संग बाहरी उसको कहते हैं, जिसमें की अन्तरी भेद का सतगुरु उपदेश करते हों और सत्संग अन्तरी उसको कहते हैं, जिसमें की जीव ब्रह्म, पारब्रह्म,

* वहाँ पर यह चौपाई है–
'सतगुर वैद्य वचन विस्वासा । संयम यह न विषय कर आसा ॥'
श्रीरामचरितमानस में 'सतगुर' का शुद्ध पाठ 'सतगुरु' है।

अनाम वगैरह कुल का भेद मालूम हो ।

पृ० ६९-**अधिकारी**–जो लोग कि दुनियाँ के कामों में हर वक्त लगे रहते हैं और एक-दो घण्टे की भी फुर्सत नहीं निकाल सकते, वे अन्तर-भजन के अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि अगर उनको अन्तरी भेद मालूम भी हो गया तो उनके किस काम का है।

सद्गुरु बाबा देवी साहब के परिनिर्वाणकालिक अन्तिम वचन, जबकि सत्संगियों ने उनसे साग्रह निवेदन किया था, ''आप तो चले जा रहे हैं, हमलागों को कुछ उपदेश देने की कृपा की जाय ।'' इस पर उन्होंने यह कहने की कृपा की थी, ''दुनिया वहम है, अभ्यास करो ।''

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के वचन

जन्म-संवत् १८९२ फाल्गुन शुक्ल द्वितीया, बुधवार (७-२-१८३६ ई०) ।

देह-त्याग–संवत् १९४३ भाद्र कृष्ण प्रतिपदा, रविवार (१६-८-१८८६ ई०) ।

ईश्वर–ईश्वर सबके अन्दर किस तरह रहता है, जानते हो ? अमीरों की स्त्रियाँ जैसे पर्दे के अन्दर रहा करती हैं । वे भीतर से सबको देख लेती हैं; पर उनको कोई नहीं देख पाता । ईश्वर भी ठीक इसी तरह रहता है ।

माया–साँप के मुँह में जहर रहता है। वह जहर उसपर असर नहीं करता; करता है औरों पर, जिनको वह काटता है। ईश्वर में माया रहती है, किन्तु वह ईश्वर को मोहित नहीं करती। करती है उन जीवों को, जिन पर ईश्वर की कृपा नहीं रहती।

जिसको भूत पकड़ता है, वह अगर जान सके कि उसे भूत ने पकड़ा है, तो भूत उसी वक्त छोड़कर भाग जाता है। माया में फँसा हुआ जीव भी यदि पहचान सके कि माया ने उसे फँसा रखा है, तो फौरन माया उसे छोड़कर भाग जाय ।

जीव–तकिए की खोल का-सा मनुष्य का हाल है। बाहर यह तकिया कोई काला होता है, कोई लाल होता है और कोई पीला । पर भीतर सबके वही एक ही रूई रहती है । मनुष्य

भी बाहर से गोरा, काला, भला, बुरा सब तरह का होता है। परन्तु सभी के भीतर वही एक परमेश्वर विराजमान है ।

संसार और साधना–धनियों के घर की नौकरानी की तरह संसार में रहना सीखो । नौकरानी मुँह से तो हमेशा यही कहा करती है कि लड़के-बच्चे, घर-वार सब मेरे ही हैं, पर उसका मन जानता है कि मेरा वहाँ कुछ भी नहीं है; सभी मेरे मालिक के हैं । इसी तरह बाहर में सब काम अपना जानकर करते रहो, किन्तु मन से हमेशा जान रखो–तुम्हारा यहाँ कुछ भी नहीं है, सभी मालिक के हैं । उसका हुक्म होते ही सब छोड़कर चला जाना पड़ेगा । इसके सिवा काम में त्रुटि होने पर मालिक की धमकी का भी डर रहता है ।

बंगाल में बाउल नाम के एक सम्प्रदाय के साधु होते हैं। वे एक हाथ से तम्बूरा और दूसरे हाथ से करताल बजाते हैं और मुँह से गाना भी गाते हैं । इसी तरह ऐ संसारी जीव! तुम भी दोनों हाथों से संसार के सब काम करते जाओ और मुख से भगवान का नाम जपा करो; चुको मत ।

हाथ में तेल लगाकर कटहल काटना पड़ता है । नहीं तो हाथ में उसका दूध लग जाता है । इसी तरह हृदय को भगवद्भक्ति से तर करके संसार का काम करना चाहिए । नहीं तो हृदय में उसकी मैल लग जाएगी ।

साधना का अधिकारी– मन का दियासलाई का-सा हाल है । सुखी दियासलाई सिर्फ एक बार घिसने से भक् करके जल उठती है, और भींगी रहने पर घिसते-घिसते टूट भी जाए, मगर जलती नहीं । विषय-वासना-हीन निर्मल मन में केवल एक बार उपदेश देने से ही ज्ञान और भक्ति का उदय होता है । और विषय-वासना में पड़े हुए मन में हजार बार उपदेश देने पर भी कुछ नहीं होता ।

मनुष्य का मन सरसों की पोटली-जैसा होता है। एक बार चारो तरफ बिखर जाने पर फिर बटोरना मुश्किल हो जाता है ।

साधना–मन और मुख की एकता करनी, सच्ची साधना है । हम मुख से कहा करते हैं–''हे भगवान! तुम ही मेरे सर्वस्व

हो।'' परन्तु मन में विषयों को ही अपना सर्वस्व समझते हैं । ऐसे लोगों की साधनाएँ व्यर्थ हुआ करती हैं ।

मन में रत्ती-भर भी विषय-वासना रहने पर भगवत्प्राप्ति नहीं होती है । सूत में छोटी-सी गिरह भी रहने पर उनमें सूई नहीं पिरोई जा सकती है । मन जब वासना-रहित होकर शुद्ध होता है, तभी सच्चिदानंद प्राप्त होता है ।

पहले कुछ दिन तक एकान्त में बैठकर ध्यान करना सीखो । पूरा अभ्यास हो जाने पर फिर जहाँ-तहाँ बैठकर भी ध्यान कर सकोगे । पेड़ जब छोटा रहता है, तब उसको घेरा लगाकर रखना पड़ता है, नहीं तो गाय-बकरियाँ चर जायँ। जब वह पेड़ पूरा बढ़ जाता है, तब फिर उसमें दस-दस गाय-बकरियाँ बँधी रहने से भी उसका कुछ नहीं बिगड़ सकता ।

साधना में धीरज और उद्यम–सहन-शक्ति सबसे बड़ा गुण है । जो सहता है, उसकी बनती है और जो सहना नहीं जानता है, उसका सब कुछ बिगड़ जाता है ।

रत्नाकर (समुद्र) रत्नों से भरा हुआ है । एक बार डुबकी मारने से कुछ न मिलने पर भी तुम यह न समझ बैठना कि रत्नाकर रत्नहीन हो गया है। धीरज के साथ साधना करते रहो । समय आने पर भगवान की कृपा आप होगी।

धर्म के राज्य में सबको पुश्तैनी किसान बनकर रहना चाहिए । जो खानदान से खेती करते आया है, वह बारह वर्ष तक फसल नष्ट होते रहने पर भी खेती का काम नहीं छोड़ता। और जो वंश-परम्परा से किसान नहीं है–मुनाफे के लोभ में पड़कर खेती करता है, वह एक साल नुकसान होते ही खेती करना छोड़ बैठता है। सच्चे विश्वासी भक्त इस श्रेणी के नहीं होते । वे जिन्दगी भर ईश्वर के दर्शन न मिलने पर भी उसका भजन नहीं छोड़ते।

ध्यान–ध्यान करना मन में, वन में और कोने में ।

कर्मफल–पाप और पारा को कोई भी हजम नहीं कर सकता है । छिपाकर कोई पारा खाय तो वह पारा उसका शरीर फोड़कर निकल आता है । इसी तरह पाप करने पर भी एक-न-एक दिन उसका फल भोगना ही पड़ेगा ।

रेशम के कीड़े जैसे अपने जाल में आप फँस जाते हैं, वैसे ही जीव भी अपने कर्म-फल में आप फँस जाता है । विवेक और वैराग्य होने पर ही वह कर्म-पाश कट सकता है । (शत वार्षिक ग्रन्थावली–श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव, माघ सन् १३४२। प्रकाशक श्रीरामकृष्ण शत वार्षिक कमेटी श्रीरामकृष्ण मठ, पो०-बेलुड़, जिला-हावड़ा से उद्धृत) ।

कलकत्ता-निवासी परमहंस श्रीरामकृष्ण देवजी के जगत्-प्रसिद्ध शिष्य भक्त-शिरोमणि स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के वचन

विशाल ब्रह्माण्ड में भी ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ अथवा समष्टि महत् पहले अपने को नाम में और फिर रूप में अर्थात् इस दृश्यमान–दिखलाई देनेवाले जगत के रूप में प्रकट करते हैं। यह व्यक्त और इन्द्रिय-ग्राह्य जगत ही रूप है, इसकी ओट में अनन्त, अव्यक्त स्फोट है । स्फोट का अर्थ है–सम्पूर्ण जगत की अभिव्यक्ति का कारण शब्द-ब्रह्म । समस्त नाम अर्थात् भाव का नित्य-समवायी उपादान-स्वरूप नित्य स्फोट ही वह शक्ति है, जिससे भगवान इस जगत की रचना करते हैं । केवल इतना ही नहीं, भगवान ने पहले अपने को स्फोट रूप में परिणत किया और फिर इस स्थूल दृश्यमान जगत के रूप में । इस स्फोट का एक मात्र वाचक शब्द ॐ है । जब यत्न करने पर भी भाव से शब्द को अलग नहीं किया जा सकता, तब इस ओंकार और इस नित्य स्फोट में नित्य संबंध मिलता है । इसलिए यह बात बड़ी सरलता से समझी जा सकती है कि ओंकार रूप सम्पूर्ण नाम-रूप का जनक है, इसी पवित्रतम शब्द ॐ से जगत की रचना हुई है। यदि शंका करो कि शब्द और भाव में नित्य सम्बन्ध अवश्य है, पर एक भाव के प्रकट करनेवाले अनन्त शब्द हो सकते हैं। इसलिए सम्पूर्ण जगत की अभिव्यक्ति के कारण-स्वरूप, सब भावों को प्रकट करनेवाला केवल एक शब्द ओंकार ही है, यह कहना ठीक नहीं; तो उत्तर में कहा जा सकता है कि ओंकार

ही इस प्रकार सर्वभावव्यापी वाचक शब्द है, और कोई शब्द इसके समान नहीं है । स्फोट सम्पूर्ण भावों का उपादान है, फिर भी वह कोई पूर्ण विकसित भाव नहीं है। यदि भिन्न-भिन्न भावों के परस्पर भेद को दूर कर दिया जाय, तो यही स्फोट ही शेष रहेगा और जब किसी वाचक शब्द द्वारा अव्यक्त स्फोट के प्रकाश करने की आवश्यकता होने पर वह उसे इतना विशिष्ट कर देता है कि फिर उसका स्फोटत्व ही नहीं रह जाता। ऐसी दशा में जिस शब्द द्वारा बहुत ही अल्प परिमाण में विशेष भावापन्न हो और जो यथासंभव उसके स्वरूप को प्रकाशित करे, वही उसका सबकी अपेक्षा प्रकृत वाचक है । ऐसा प्रकृत वाचक शब्द ओंकार–केवल ओंकार है; क्योंकि अ, उ, म् एक साथ 'अउम्' इस प्रकार उच्चारित होने से सब प्रकार के शब्दों के साधारण वाचक हो सकते हैं । 'अ' सभी में अन्य अक्षरों की अपेक्षा अल्प विशेषता रखनेवाला अक्षर है। इसलिए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है, ''मैं अक्षरों में अकार हूँ।'' प्रत्येक स्पष्ट उच्चारण किया जानेवाला शब्द मुख में जिह्वा के मूल से लेकर होंठों तक स्पर्श करके बोला जाता है । 'अ' का उच्चारण कण्ठ से होता है। 'म' ओष्ठ्य शब्दों में अन्तिम अक्षर है और 'उ' जिह्वा मूल से आरम्भ होकर होंठों पर समाप्त होनेवाली शक्ति के पूर्ण भाव का द्योतक है । प्रकृत रूप से उच्चारित होने पर यह ओंकार सम्पूर्ण शब्दोच्चारण-व्यापार का सूचक है और किसी शब्द में यह शक्ति नहीं है । इसलिए ओंकार ही स्फोट का ठीक उपयोगी वाचक है और स्फोट ओंकार का प्रकृत वाच्य । वाचक और वाच्य अलग नहीं हो सकते । इसलिए ॐ और स्फोट एक ही पदार्थ है। स्फोट व्यक्त जगत का सूक्ष्मतम अंश है, ईश्वर का अत्यन्त निकटवर्ती और ईश्वरीय ज्ञान का प्रथम प्रकाश है, इसलिए ओंकार ईश्वर का प्रकृत वाचक है । जिस प्रकार एक, अखण्ड और सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपूर्व जीवात्मा विशेष भाव और विशेष गुणवाले रूप में देखते हैं, उसी प्रकार साधक इस देहरूप जगत को भी

मनोभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में पाते हैं। ('भक्तियोग' का भारती अनुवाद-'भक्ति', प्रकाशक–हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता)

हे नचिकेता! यह आत्म-दर्शन-यह तत्त्व ज्ञान-बहुत ही कठिन विषय है । यह मार्ग बहुत विस्तृत है । निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचना कोई आसान काम नहीं । जिन्हें बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि मिली है, केवल वे ही उसका दर्शन कर पाते हैं, वे ही उसको समझते हैं। परन्तु इसमें निराश होने की बात नहीं है; उठो, जागो और कर्म-निरत होओ । जबतक लक्ष्य पर न पहुँच सको, अपने उद्योग में शिथिलता मत आने दो । तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि यह मार्ग इतना कठिन है कि इस पर चलना क्षुरे की धार पर चलने के समान है । जो हर तरह की विषय-वासना, रूप, रस और स्पर्श से परे है, जो सदा समान अवस्था में रहता है, जो आदि-अन्त से रहित है, जो अभेद्य और अखण्ड्य है, साथ ही बुद्धि के द्वारा भी गम्य नहीं है, उसी को–केवल उस सर्व-नियन्ता को हृदयंगम करके मनुष्य मृत्यु के मुख से अपनी रक्षा कर पाता है ।

इस प्रकार यम ने नचिकेता को वह लक्ष्य-स्थान बतलाया, जिस पर पहुँचना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है । यम के इन उपदेशमय वाक्यों से पहली बात जो हमें ज्ञात होती है, वह यह है कि जन्म, मृत्यु, दुःख, क्लेश तथा मन को चंचल करनेवाले अन्यान्य विषयों पर जिनका कि संसार में हमें सामना करना पड़ता है, सत्य का ज्ञान प्राप्त करने पर ही विजय मिल सकती है । सत्य क्या है? जो सदा एक रूप में ही रहता है, जिसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। वह है मनुष्य की आत्मा।

बाद को यह बात बतलाई गई है कि उसे जानना आसान काम नहीं है। जानने का तात्पर्य केवल बौद्धिक ज्ञान से नहीं है । इसकी निष्पत्ति तो तभी हो पाती है, जबकि मनुष्य को सिद्धि मिल जाय । यह हम बार-बार पढ़ चुके हैं कि इस मोक्ष का हमें प्रत्यक्ष करना, अनुभव करना है। उसे हम नेत्रों से नहीं देख पाते। उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी बहुत ही सूक्ष्म होता है। जिसके द्वारा

दीवार तथा पुस्तकें आदि दृष्टिगोचर होती हैं, वह तो स्थूल है। परन्तु वह प्रत्यक्ष जिसके द्वारा सत्य की अनुभूति होती है, उसे बहुत सूक्ष्म होना चाहिए । और वही इस ज्ञान का सारा रहस्य है। इसके बाद यम कहते हैं कि मनुष्य को बहुत ही विशुद्ध होना चाहिए। यह विशुद्धता ही उस सर्व-नियन्ता की अनुभूति का मार्ग है। आगे चलकर वे हमें उस आत्मा-ब्रह्म की प्राप्ति के और मार्ग बतलाते हैं।

वह स्वयंभू इन्द्रियों से बहुत दूर है । इन्द्रियाँ वह करण अर्थात् यंत्र हैं, जो बाह्य जगत को ही देखती हैं, परन्तु वह स्वयंभू आत्मा अन्तर्दृष्टि से ही देखा जाता है । तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिज्ञासु–इस तत्त्व के जानने की अभिलाषा रखनेवाले के लिए जो योग्यता अपेक्षित है, वह है दृष्टि को भीतर की ओर आकर्षित करके आत्मा को जानने की अभिलाषा। इस प्रकृति में हम जिन मनोहर वस्तुओं को देखते हैं, वे बहुत ही सुन्दर हैं। परन्तु उनकी ओर अवलोकन करना ईश्वर के दर्शन का मार्ग नहीं है । हमें यह सीखना चाहिए कि हम अपनी दृष्टि को किस प्रकार अन्तर्मुखी कर सकते हैं । नेत्रों की बाह्य जगत को देखने की अभिलाषा को निवृत्त कर देना चाहिए। जब आप किसी ऐसी सड़क पर, जिस पर कि भीड़-भाड़ अधिक होती है, चलते हैं तो आपको अपने साथी की बातचीत सुनने में बड़ी कठिनाई पड़ती है । बात यह है कि उस सड़क पर जो इक्के-गाड़ियाँ चलती हैं, उनकी घड़घड़ाहट से वहाँ बड़ा कोलाहल मच जाता है । वहाँ इतना कोलाहल होता है कि आपका साथी भी आपकी बातें नहीं सुन पाता । बात यह है कि आपका मन दूर की बातों में लग जाता है और आप अपने पास के आदमी की बात नहीं सुन पाते । ठीक इसी प्रकार हमारे आस-पास जो संसार परिव्याप्त है, वह इतना कोलाहल करता है कि मन को बाहर की ओर खींच ले जाता है । तब भला हम आत्मा को कैसे देख सकें ? वह तो अन्तर्दृष्टि से परिदर्शित होता है । उसकी बाहर जाने की प्रवृत्ति रोक दी जानी चाहिए नेत्रों को अभ्यन्तर की ओर फेरने का यही तात्पर्य है। उनकी

बहिर्भूत होने की प्रवृत्ति जब जाती रहेगी, तब उनमें केवल उस सर्वनियन्ता की ही महिमा परिलक्षित हो सकेगी ।

आत्मा क्या है? हम यह पढ़ चुके हैं कि यह बुद्धि से भी परे है । साथ ही यह भी पढ़ चुके हैं कि यह आत्मा शाश्वत और सर्वव्यापी जीव है । आत्मा भी निर्लेप और निर्विकार है । उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। इस प्रकार विभु, सर्वव्यापी जीव केवल एक ही हो सकता है । ऐसे दो जीव नहीं हो सकते, जो कि समान रूप से ही सर्वव्यापक हो सकें । यह कैसे संभव है ? इस तरह की दो सत्ताएँ नहीं हो सकतीं, जो अनन्त हों । इस बात से यह परिणाम निकलता है कि वास्तव में एक ही आत्मा है और हम, आप तथा समस्त विश्व एक होते हुए भी अनेक रूपों में परिलक्षित होते हैं । जिस तरह एक ही अग्नि संसार में प्रवेश करके अपने आपको ही भिन्न-भिन्न मार्गों में व्यक्त करती है, ठीक वैसे ही यह आत्मा प्राणिमात्र की आत्मा होकर अपने आपको विविध आकारों में प्रदर्शित करती है । अब यह प्रश्न उदय होता है कि यदि यह आत्मा निर्दोष और विशुद्ध है और समस्त विश्व की एकमात्र सत्ता है, तो इसके किसी पापी और दुराचारी या धर्मिष्ठ और सदाचारी शरीर में प्रवेश करने पर इसकी क्या गति होती है? यह निर्विकार किस तरह रह सकती है?

प्राणिमात्र के नेत्रों में जो दृष्टि-शक्ति होती है, उसके एकमात्र कारण सूर्य हैं । किन्तु यदि किसी को नेत्र-दोष होता है, तो वह अपने उस दोष की छाया सूर्य पर डालने में समर्थ नहीं हो पाता । यदि किसी को पाण्डु रोग हो गया होता है, तो उसे सारी वस्तुएँ पीली-ही-पीली दृष्टिगोचर होती हैं । उस व्यक्ति की भी दृष्टि-शक्ति के कारण सूर्य ही हैं, किन्तु उसके नेत्रों में हर एक वस्तु को पीली देखने का जो गुण है, वह सूर्य को तो नहीं स्पर्श कर पाता । इसी तरह यह एकमात्र जीवात्मा प्रत्येक प्राणी के शरीर में व्याप्त रहकर भी बाहर की पवित्रता या अपवित्रता के संस्पर्श से बचा रहता है।

इस क्षणभंगुर संसार में जो उस सनातन को जानता है, इस अचेतन जगत में जो उस एक चेतन को समझता है, इस बहुत्वमय ब्रह्माण्ड में जो उस एक रूप को जानता है, और उसे अपने अन्तःकरण में देखता है, वही उस चिरन्तन परमानंद का

अधिकारी होता है, दूसरा नहीं । जहाँ सूर्य नहीं प्रकाशित होते, चन्द्रमा, तारागण तथा विद्युत् की भी प्रभा नहीं दिखाई पड़ती, फिर भला अग्निशिखा का पूछना ही क्या? उसके प्रकाशमान होने पर सभी वस्तुएँ प्रकाशमान होती हैं । जब मनुष्य के हृदय को क्लेश देनेवाली सभी अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है, तब जरा-मरणशील प्राणी अमर हो जाता है। उस दशा में ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है । जब हृदय के सारे कल्मष विलीन हो जाते हैं, जब उसकी सारी ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, केवल तभी यह जरा-मरणशील मानव अमर हो पाता है । यही उसके अमर होने, मुक्त होने का मार्ग है । इस विषय का अध्ययन हमें फलदायक हो! इस विषय का चिन्तन हमारे लिए फलदायक हो, यह हमारा भजन हो, यह हमारे शरीर का बल हो, हम एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से न देखें, सबलोग शान्ति-पूर्वक निवास करें। ('मोक्ष का मार्ग'—भारती अनुवाद, प्रकाशक—आदर्श ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग)।

बाबा देवी साहब का पत्रांश

(ता०-१-९-१९१० ई० को एक पत्र लिखकर बाबू धीरजलालजी साहब, निवासी ग्राम-जोतरामराय, जिला-पुरैनियाँ को बाबा साहब ने फरमाया था।)

सन्तमत का बहुत छोटा सिद्धान्त है। यानी यह है—गुरु, ध्यान और सत्संग । ये तीन असूल (सिद्धांत) हैं । इन पर हर एक आदमी समझकर चल सकता है । लेकिन एखलाक सन्तमत की पहली सीढ़ी है, और यह बड़ा पुराना असूल है । जिस शख्स में एखलाक की कमी है, उसको रूहानी तरक्की हासिल नहीं हो सकती है । खुदगर्जी एखलाक का दुश्मन है, इससे होशियार रहना चाहिए ।

पुरैनियाँ जिले में सन्तमत के प्रथम मुख्य प्रचारक ग्राम-जोतरामराय, जिला पुरैनियाँ-निवासी स्वर्गीय बाबू धीरजलालजी गुप्त साहब (गुरुजी साहब) के कुछ पद्य

(१)

सतगुरु सरण गहो मन मूरख आवागमन मिटि जाय ।।टेक।।

संत दया कर द्वार पकड़ गुरु मूरत होय सहाय।
नैन नगर बिच कीच के मारे धुँधुकार दिखलाय ॥१॥
गगन मैदान में फगवा खेलो आनन्द उर अधिकाय।
साधु सन्त की प्रेम से सेवा कर सत्संग मन लाय ॥२॥
प्रेमी जन सब सखी सुन्दरि मिलि गुरु गुण मंगल गाय।
गुरु पद रज कर कुमकुमा शब्द का इतर लगाय ॥३॥
गगन मगन होय फाग मचाओ पथ पिया का खुल जाय।
काया शोध प्रबोध करो नहिं काल महा दुखदाय ॥४॥
जब तक जीओ नाम रस पीओ भक्ति करी सदभाय।
बाबा देवी साहब भेद कहैं जो धीरज ध्यान लगाय ॥५॥

(२)

राह गई है बड़ि झीनी हे साधो नैन नगर से ।टेक॥
नैन नगर में घोर अँधियारी सतगुरु ज्ञान सफीनी ॥१॥
सहस भाग एक बाल बराबर धार धरहु लवलीनी ॥२॥
वा मग सुरत सरकि जब जावै जोति झकाझक कीनी ॥३॥
सत पथ गत यह कहत सन्त मत चढ़ि चल चाल प्रवीनी ॥४॥
बाबा देवी साहब भेद बतावें धीरज ध्यान महीनी ॥५॥

(३)

जानेगा जो यह भेद उसी का सब सुधरेगा ।टेक॥
लोक लाभ परलोक निभेगा परमारथ पहिचान।
सुगम सन्तमत समझ पड़ेगा अन्त में वो उधरेगा ॥१॥
तन्दुरुस्ती इन्द्रियस्थम्भन और अध्यात्म ज्ञान।
गुरु संग व ध्यान जान के आप उपाय करेगा ॥२॥
प्रज्ञा प्रधान विषय तब बूझी शंका नहिं लवलेश।
दृष्टि शब्द भक्ति का भेवा जानि जरूर तरेगा ॥३॥
यह द्वादस व्याख्यान का कोई बिरले पाया अन्त।
देवी साहब गुरु पाई धीरज सहजै काम सरैगा ॥४॥

परमहंस ध्यानानन्द साहब (उपदेशक, सन्तमत)के शब्द

एक अनीह अनाम प्रभु हैं, अडोल सिन्धु अपार हैं।
सर्व जग का एक प्रभु हैं, सर्व ईश्वर नाम हैं॥

सर्व शक्तीमान प्रभु हैं, अगुण अखण्ड अनन्त हैं।
निर्मल अति चैतन्य प्रभु हैं, परमानंद अनाश हैं॥
अलख अगम अद्वैत प्रभु हैं, नित्य सच्चिदानंद हैं।
अनुपम अज अनादि प्रभु हैं, सर्वव्यापक सत्य हैं॥
दीनबंधु कृपालु प्रभु हैं, अनाम अगोचर धाम हैं।
ज्ञान विज्ञान निधान प्रभु हैं, सन्त के विश्राम हैं॥
सतगुरु बाबा देवी साहब, परम भेदी सन्त हैं।
'ध्यानानन्द' को वही प्रभु का, दिये निशाना ठीक हैं॥

-- :: ० :: --

मेरी आँखों में तारा नजर आवै ।टेक॥
आँखि मुँदि के गगन निहारौं, सुन्दर दामिनि दमकि आवै ॥१॥
गगन बाट में बिजली चमकै, देखि देखि मन को भावै ॥२॥
शीतल चन्दा खील रहा है, मोहन रूप से तरसावै ॥३॥
देवी साहब की ध्यानानन्द पर, कृपा अधिक सब लखवावै ॥४॥

-- :: ० :: --

तुझको झीना राह से, हरगिज न डरना चाहिये।
आत्म-अनुभव के लिये, कष्टों को सहना चाहिये ॥१॥
आत्म-अनात्म वस्तु का, विवेक जो तू चाहता।
जाय कर गुरु के चरण में, अर्ज करना चाहिये ॥२॥
सुष्मन के झीने राह को, गुरु कर दया देंगे बता।
बिन्दु के उस राह में, दृढ़ दृष्टि करना चाहिये ॥३॥
कभी बादल कभी जोती, कभी तारे नजर आवें।
दृष्टि को इनसे हटाकर, विन्दु धरना चाहिये॥४॥
दल सहस में ब्रह्म की, शोभा अनुपम देखकर।
उस रूप में आशिक न होना, पेश चलना चाहिये ॥५॥
गुरु-कृपा से चढ़ चलो, त्रिकुटी महल में भाइयो।
आवागमन के चक्र से, सूरत उठाना चाहिये ॥६॥
सुन महल में मानसरवर, धुन अनाहत बाजता।
उस धुन्न द्वारा सुरत को, सतलोक जाना चाहिये ॥७॥
अलख अगम अनाम प्रभु का, गुण बखाने सन्त जन।

वह देश अपना जानकर, तुझको न आना चाहिये ॥८॥
सतगुरु सिरताज सबके, घट में रहते सर्वदा ।
सुरत को उस रूप में, हरदम लगाना चाहिये ॥९॥
'ध्यानानन्द' है अर्ज करता, चरण में गुरु के यही ।
राह झीना से कभी न, दिल को हटाना चाहिये ॥१०॥

-- :: o :: --

परम धर्मानुरागी तेतरदासजी सत्संगी (सूर) जी का शब्द

सुमिरन ऐसो कीजिये, पवन पानी न डोल ।
तीनों नयन मिलाइ दे, गुरु चरनन की ओर ॥
गुरु पद नख मनि पाइके, सुरति शब्द की ओर ।
'सूर' सेवक गुरु चरन का, अन्तर का पट खोल ॥
अन्तर पट जगमग मिले, त्रिकुटी माहिं इंजोर ।
सुन्न महल अजपा जपे, सार धुन्न अनमोल ॥
सार धुन्न सतलोक में, सत्तनाम सतधाम ।
सत्त पुरुष सतसाहेब, सूरत सो पहिचान ॥

-- :: o :: --

मन मगन भया तब क्या बोलै, बाहर नैना क्यों खोलै ॥धुआ॥
जैसे नीर थीर होय बैठे, पवनो नाहिं झिकोरै ।
वैसेहि थीर हमारा मन हो, अमृत रस को पी लै ॥१॥
चन्द सुरज नैना दुवो जोड़ै, सुन में हीरा अनमोलै ।
अगल बगल कहुँ दृष्टि न डोलै, चरन बिन्दु में नित झूलै ॥२॥
हीरा पावो गेठ लगाओ, मन की माया ना थोरै ।
गगन में अनहद बाजा बाजै, प्रेम मगन सूरत साजै ॥३॥
'सूर' सेवक घट गुरु-गुरु बोलै, अजपा जाप नहीं भूलै ।
गुरु की दया दृष्टि भाईजी, शब्द मो सुरतिया खेलै ॥४॥

॥ सत्संग-योग, द्वितीय भाग समाप्त ॥

-- :: o :: --

सत्संग-योग

भाग ३

कल्याण योगांक, संवत् १९९२

॥ परम पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराज के विचार, पृ० २७ ॥

सिद्धासन और शाम्भवी मुद्रा के द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है ।

शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करने के लिए इस श्लोक द्वारा श्री महाराज ने उपदेश दिया–

तिर्यग्दृष्टिमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः ।
स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत् ॥

अर्थात् 'मतिमान साधक को इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़कर निश्चल भाव से स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योग का अभ्यास करना चाहिए ।' (प्रेषक–मुनिलाल)

॥अष्टांग योग, लेखक-श्रीरामचन्द्र रघुवंशी अखण्डानन्द, पृ० ४४१॥

शाम्भवी-मन को आज्ञाचक्र में स्थिर करके दृष्टि को समतल (level) में अधिक-से-अधिक दो हाथ और न्यून-से-न्यून एक बालिश्त के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में स्थिर रखकर स्थित करना । अथवा चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते, जागते, काम करते अपने में अपना लक्ष्य रखके अलक्ष्य का लक्ष्य करना । इसके लिए किसी बाह्य उपकरण की सहायता की अपेक्षा नहीं । खाली बहिर्लक्ष्य का अन्तर्लक्ष्य होना ही काफी है।

योग का विषय-परिचय, पृष्ठ ५४

॥ ले०-महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० ॥

नादानुसन्धान

जो अखण्ड नाद जगत के अन्तस्थल में आकाश-मण्डल में निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे बद्ध जीव चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता के कारण सुन नहीं पाता । परन्तु जिस समय गुरु-कृपा से क्रिया विशेष के द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है, उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होते

हैं और उस शून्य पथ से अनाहत ध्वनि को श्रवण करता है । निरंतर इस ध्वनि का अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शांत अवस्था को प्राप्त करता है । जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है, तब फिर नाद-ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती । उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर बाह्य प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

नाद मूलतः एक होने पर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण विभिन्न स्तरों में विभक्त है । योगियों ने साधारणतः इस प्रकार के सात स्तरों का उल्लेख किया है । शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणव का स्वरूप कहते हैं, वही उपाधि-रहित शब्द-तत्त्व है । वैयाकरणों ने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदाय ने 'स्फोट' नाम से इसकी व्याख्या की है । यह स्फोट ही अखण्ड सत्ता-रूप ब्रह्म तत्त्व का वाचक है। अर्थात् इसी से ब्रह्म-भाव की स्फूर्ति होती है । प्रणव ईश्वर का वाचक है । इस बात का भी तात्पर्य यही है । वाचक स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में और वाच्य सत्ता परब्रह्म के रूप में वर्णित है । अतएव एक तरह से ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है । स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूप के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता–यह कहने की जरूरत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्द तत्त्व जबतक जीव के लिए अव्यक्त रहता है, तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए योगी यथाविधि ध्वनि और नाद का अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं । साधक का मन नाद के साथ युक्त होने पर अनायास परब्रह्म पद तक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्य के अन्दर अपने आपको मिला देता है ।

हठयोग-प्रदीपिका, योग-तारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रंथों में इस नादानुसन्धान का विस्तृत वर्णन मिलता है।

-- :: ० :: --

उपनिषदों में योग (पृ० १०३)

ले०-जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्द सम्प्रदायाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज

उपनिषदों को सद्गुरु के मुख से श्रवण करके मनन

करना चाहिये; क्योंकि इनमें बहुत ही गुह्य क्रियाओं का वर्णन है। उनका शुद्ध ज्ञान क्रियावान विद्वान गुरु के बिना नहीं हो सकता। अतः उपनिषदों के बारम्बार पठन करने पर भी गूढ़ाशय-परिज्ञान के लिए मर्मज्ञ की आवश्यकता रह ही जाती है । योग के प्रत्येक अंग के विषय में उपनिषदों में कहा गया है । कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित किए जाते हैं। नादविन्दूपनिषद् में नाद के स्वरूप को दिखाते हुए कहा गया है कि–

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति ।

''सारी चिन्ता और सब काम छोड़कर नाद का ही अनुसंधान करे, इससे नाद में चित्त का लय हो जाता है और वह नादानुविद्ध चित्त अन्य किसी विषय की आकांक्षा नहीं करता ।'' नाद ही ब्रह्म है। इसी में मन को लीन करना चाहिए। ध्यान-विन्दूपनिषद् में लिखा है कि–

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥

''पर्वत के समान भी बहुयोजन-विस्तीर्ण पाप-राशि हो, तो वह सब ध्यान-योग से नष्ट हो जाती है, और कोई उपाय नहीं है ।'' योगशिखोपनिषद् में तो योग-मार्ग का बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। आरम्भ में हिरण्यगर्भ का श्री महेश्वर से यही प्रश्न है कि हे शंकर! इस दुःखमय संसार में सब जीव पड़े हैं और अपने कर्मों का सुख-दुःखात्मक फल भोग रहे हैं । इनकी मुक्ति किस सुगम उपाय से हो, यह कृपया बताइए। इसका श्रीशंकरजी ने यही उत्तर दिया है कि, कर्मबन्ध से मुक्त होने का उपाय कोई ज्ञान और कोई येाग कहते हैं, परन्तु मेरा मत तो यह है कि–

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्जज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥

''योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं होता । इसलिए ज्ञान और योग, इन दोनों का ही मुमुक्षु को दृढ़ता के साथ अभ्यास करना चाहिए ।'' इससे यही सिद्ध हुआ कि बन्ध-निवृत्ति के लिए साध्य-साधनभाव के योग और ज्ञान; इन दोनों को स्वीकार करना चाहिए ।

उपनिषदों का पूर्णतया मनन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि बिना यौगिक साधनों के हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अधूरी ही रहती है । समस्त उपनिषदों में किसी-न-किसी रूप से योग का समर्थन करते हुए उसको उपादेय बताया है। 'योग' शब्द एक सामान्य शब्द है । वह विशेष पद के समीप होने से अनेक अर्थों का बोधक है । उपनिषदों में साधन रूप से ग्राह्य जो अनेक सिद्धांत हैं, उनको किसी-न-किसी रूप से योग कहा जा सकता है; जैसे-ज्ञान-योग, भक्ति-योग, मंत्र-योग, लय-योग, क्रिया-योग, ध्यान-योग, जप-योग और समाधि-योग आदि। योग-मार्ग ही भगवत्प्राप्ति का एक मार्ग है; क्योंकि यौगिक प्रक्रिया के अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और इस प्रकार के साधनों में मन का स्थैर्य पूर्णतया अपेक्षित है । अतः उपनिषदों का तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्ति की प्राप्ति से है । ऐसा कोई मार्ग मोक्ष-साधन का नहीं है, जिस मार्ग में योगांगों की आवश्यकता न पड़ती हो । इसलिए जिस प्रकार दूध में घृत समाया हुआ है और माता के उपदेशों में बालक का हित भरा हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदों में योग समाया हुआ है ।

श्री योगवाशिष्ठ में योग (पृष्ठ १२०)

॥ ले०-प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्० ॥

प्राण-निरोध–जैसे पंखे का हिलना बंद होते ही हवा का चलना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार प्राणों की गति रुक जाने पर मन भी शान्त हो जाता है। ($^{६}/_{१}$ ।६९।४१) प्राण-स्पन्दन रुकने से मन शान्त हो जाता है और मन के शान्त हो जाने पर संसार का लय हो जाता है। (५।७८।१५।१६)

प्राण-निरोध के उपाय-प्राण क्या है ? प्राणों की प्रगति किस प्रकार होती है ? और प्राणायाम कैसे किया जाता है–इन विषयों की चर्चा 'योगवाशिष्ठ' में खूब विस्तार से की गई है (६/१।२४।३८, ६/१।२५।३-६०)। यहाँ पर स्थलाभाव से केवल उन उपायों की गणना मात्र कराते हैं, जिनसे कि योगवाशिष्ठानुसार प्राण का स्पन्दन रुक जाता है–वैराग्य....., संवित् को शून्य आकाश में, जहाँ पर कोई कलना* नहीं है, ले जाकर शान्त करना (५।७८।२६), नासाग्र से द्वादशांगुल पर बाहर शुद्ध आकाश में संवित् को लीन करना (५।७८।२७), भ्रुवों के मध्य में दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतन में स्थित होना (५।७८।२९), ... ।

आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का सरल उपाय–योग (पृष्ठ १७०)

॥ लेखक-ब्रह्मचारी श्रीगोपाल चैतन्यदेवजी महाराज ॥

लय-योग का नाद-साधन वा शब्द-शक्ति-साधन-साधक नाड़ी शोधन तथा प्राणायाम की झंझट में न पड़कर नाद-साधन की विधि से ही आत्मलीन होने की कोशिश करे। वह मार्ग सबसे सरल, सुगम तथा विपद्शून्य है। इससे भी आसानी के साथ दिव्यज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । नाद-साधन लय-योग की एक क्रिया-मात्र है। सदाशिव ने एक लाख पचीस हजार प्रकार का लय-योग बताया है ।

जैसे–

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष
लयावधानानि वसन्ति लोके । (योगतारावलि)

परन्तु योगिगण साधारणतः चार प्रकार के लय-योग का अभ्यास करते हैं । वे इस प्रकार हैं–

शाम्भव्या चैव भ्रमर्या खेचर्या योनिमुद्रया ।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चितुर्विधा ॥
(घेरण्ड-संहिता)

''शाम्भवी मुद्रा से ध्यान लगाना, खेचरी मुद्रा से रसास्वादन करना, भ्रामरी मुद्रा से नाद को सुनना और योनि मुद्रा से आनन्द-भोग

* कलना = चिह्न ।

करना– इन चार प्रकार के उपायों से ही लय-योग की सिद्धि होती है ।''

लय-योग में नादानुसंधान और आत्म-ज्योति-दर्शन का काम बहुत सीधा तथा आराम से होनेवाला है । अगर साधक का मस्तिष्क कमजोर हो तथा उसे आँख की बीमारी हो, तो उसे आत्मज्योति-दर्शन का अभ्यास नहीं करना चाहिए । शास्त्र में लिखा है–

'जपाच्छतगुणं ध्यानं । ध्यानाच्छतगुणं लयः ॥'

अर्थ–जप से ध्यान में सौ गुना अधिक फल होता है। ध्यान की अपेक्षा सौ गुणा अधिक फल-लाभ होता है लय-योग से।

नाद-साधन ही सबसे सरल और विपद्शून्य मार्ग है। पहले झींगुर की झनझनाहट–जैसा या भृंगी-जैसा झीं-झीं शब्द सुनाई देगा। उसके बाद क्रमशः साधन करते-करते एक के बाद एक वंशी की तान, बादल का गर्जन, झाँझ की झनकार, भौंरे का गुंजार, घंटा, घड़ियाल, तुरही, करताल, मृदंग प्रभृति नाना प्रकार के बाजों के शब्द सुन पड़ेंगे । ऐसा ही रोज अभ्यास करते हुए नाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, मैंने जो विधि बतलाई है, उसका शास्त्र में भी प्रमाण है–

नाभ्याधारो भवेत् षष्ठस्तत्र प्राणं समभ्यसेत् ।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरंततः ॥ (योगस्वरोदय)

नाद-साधन के सम्बन्ध में शास्त्र का कहना है–

आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः ।
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला ॥ (वायवीय संहिता)

अर्थ–पहले विंदु, तब नाद और नाद से शक्ति उत्पन्न होती है । चैतन्य-रूपा परमा कला महेशानी (शिवा) नाद-रूपा ह।

आदि प्रकृति देवी का नाम परा प्रकृति है । सुतरां परा प्रकृति आद्या शक्ति ही नाद-रूपा होती है ।

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः ।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः ॥

* अर्थ—नाद के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है; नाद के बिना कल्याण नहीं हो सकता है; नाद ही श्रेष्ठ ज्योति-स्वरूप है और नाद-रूप ही हरि हैं ।

और भी देखिए—

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्बं वहति वक्षसि ॥

**अर्थ—नाद-रूपी समुद्र की सीमा का पार सरस्वती नहीं जानती हैं, इसीलिए आज भी डूबने के भय से हृदय के पास तुम्बे को धारण किए हुई हैं ।

इस नाद-ध्वनि की साधना करते-करते जो अन्त में 'ॐकार' ध्वनि सुनने में आती है, वह (ध्वनि) जबतक साधक जीवन धारण करता है, तबतक कभी बन्द नहीं होती । सदा सर्वावस्था में अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में भी नादध्वनि चलती ही रहती है ।

नादानुसंधान (पृ० २७१)

॥ लेखक—स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज ॥

भगवान शंकराचार्यजी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसंधान अपने 'योगतारावलि' ग्रन्थ में नीचे के श्लोकों में बताया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसंधानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ।
नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम् ।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णु पदे मनो मे ॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥

''योगशास्त्र के प्रवर्त्तक भगवान शिवजी ने मन के लय

* लेखक ब्रह्मचारीजी महाराज ने इन श्लोकों का अर्थ नहीं लिखा था, इसलिए योगांक में अर्थ नहीं छपा है, यह अर्थ पं० श्रीकमलाकांत उपाध्याय जी से करा कर छापा गया ।

** पिछले दोनों श्लोकों के अर्थ की तरह इस अर्थ के विषय में भी जानिए।

होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं, उन सबमें नादानुसंधान सुलभ और श्रेष्ठ है । हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है, आप परमपद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राण-वायु और मन, ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जाएँगे । योग-साम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो, तो सब चिन्ताओं को छोड़कर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो ।''

जपयोग (पृ० ३२५)

॥ बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुड़कर) के अनुभवयुक्त विचार ॥

श्रुतियों में चित्तस्थैर्य के अनेक उपाय बताए हैं और उनके अनुसार अनुभवी महात्माओं ने अनेक साधन निर्माण किए हैं । जप-योग भी ऐसा ही एक शास्त्रोक्त और अनुभवसिद्ध साधन है—

भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षा तो यज्ञ के विषय में यही थी कि—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप । (गीता ४।३३)

अर्थात् 'द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है ।' इन यज्ञों में भी भगवान ने 'जपयोग' को ही अपनी विभूति बताया है (गीता १०/२५)। जपयोग सबके लिए सुगम है । वैदिक धर्मानुष्ठान का जो कुछ फल है, वह इस यज्ञ से प्राप्त हो, यह तो कालक्रम से ही प्राप्त है। इसी जपयज्ञ को जपयोग कहते हैं ।

भगवान् मनु जपयज्ञ का माहात्म्य बतलाते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्त्रो मानसः स्मृतः ॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
(मनुस्मृति २।८५-८६)

"दर्शपौर्णमासरूप कर्म-यज्ञों की अपेक्षा जप-यज्ञ दशगुणा श्रेष्ठ है । उपांशु जप सौ गुणा और मानस जप सहस्त्रगुणा श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्शपौर्णमास) ये जो चारपाक यज्ञ हैं—वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्य श्राद्ध और अतिथि-पूजन, वे जपयज्ञ के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं ।" उपांशु जप में होंठ हिलते हैं और

मुँह में ही उच्चारण होता है, स्वयं ही सुन सकते हैं, बाहर और किसी को सुनाई नहीं देता ।

मानस जप तो जप का प्राण ही है । इससे साधक का मन आनन्दमय हो जाता है । इसमें मंत्र का उच्चार नहीं करना होता। मन से ही मंत्रावृत्ति करनी होती है । नेत्र बन्द रहते हैं । नादानुसन्धान के साथ-साथ यह जप करने से बहुत अधिक उपकारी होता है । श्रीमदाद्यशंकराचार्य नादानुसन्धान की महिमा कथन करते हुए कहते हैं–

''एकाग्र मन से स्वरूप-चिन्तन करते हुए दाहिने कान से अनाहत ध्वनि सुनाई देती है । भेरी, मृदंग, शंख आदि आहत नाद में ही जब मन रमता है, तब अनाहत मधुर नाद की महिमा क्या बखानी जाए ? चित्त जैसे-जैसे विषयों से उपराम होगा, वैसे-वैसे यह अनाहत नाद अधिकाधिक सुनाई देगा ।'' (प्रबोध-सुधाकर)

'योगतारावलि' में श्रीमदाद्य शंकराचार्यजी ने इसका वर्णन किया है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने 'ज्ञानेश्वरी' में इस साधन की बातें कही हैं । अनेक सन्त-महात्मा इस साधन के द्वारा परमपद को प्राप्त हो गए । यह ऐसा साधन है कि अल्पाभ्यास से निजानन्द प्राप्त होता है । नाद में बड़ी विचित्र शक्ति है ! बाहर का सुमधुर संगीत सुनने से जो आनन्द होता है, उसका अनुभव तो सभी को है, पर भीतर के इस संगीत का माधुर्य और आनन्द ऐसा है कि तुरन्त मनोलय होकर प्राणजय और वासना क्षय होता है ।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥

(ह० प्र०)

''श्रोत्रादि इन्द्रियों का स्वामी मन है । मन का स्वामी प्राणवायु है । प्राणवायु का स्वामी मनोलय है और मनोलय नाद के आसरे होता है । सतत नादानुसन्धान करने से मनोलय बन पड़ता है । आसन पर बैठकर श्वासोच्छवास की क्रिया सावकाश करते हुए, अपनी कान बन्द करके अन्तर्दृष्टि करने से नाद सुनाई देता है ।

योग क्या है ? (पृ० ७१९)

॥ लेखक–श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल ॥

योगियों के किसी-किसी सम्प्रदाय ने चेष्टा की कि श्वास का ही निरोध किया जाय; क्योंकि प्राणवायु स्थिर होने पर मन स्थिर हो जाता है। अवश्य ही मन स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर होता है। इसलिए योगियों में एक सम्प्रदाय ने प्राण का और दूसरे सम्प्रदाय ने मन का निरोध करने की ओर विशेष ध्यान दिया है ।

-- :: ० :: --

॥ दिनचर्या (लेखक-योगिवर पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल) से उद्धृत मोह-मुद्गर-श्रीशंकराचार्य-कृत ॥

गुरुचरणाम्बुज निर्भर भक्तः संसारादचिराद्भव मुक्तः ।
सेन्द्रिय मानस नियमा देवं द्रक्ष्यसि निज हृदयस्थन्देवम् ॥

अर्थ–श्री गुरुदेव चरणपंकज का होकर अविचल भक्त,
इस असार संसृति से हो जा तू अविलम्ब विरक्त ॥
इन्द्रिय-युत मन का नियमन करने से इसी प्रकार,
देख सकेगा निज हृद्-स्थित ईश्वर को अनिवार ॥

प्राणायामं प्रत्याहारं नित्यानित्य विवेक विचारम् ।
जाप्य समेत समाधि विधानं कुर्वं वधानम्महदवधानम् ॥

अर्थ-प्राणायाम और निज इन्द्रिय का कर प्रत्याहार,
'क्या अनित्य या नित्य वस्तु है, इसको सदा विचार ।
जाप्य समेत सदा करता रह सुदृढ़ समाधि-विधान,
सावधान हो, कर प्रति दिन उस महत्तत्त्व का ध्यान ॥

नलिनीदल गत जलमति तरलं तद्वज्जीवनमतिशय चपलम् ।
क्षणमिह सज्जन संगतिरेका भवति भवार्णव तरणे नौका ॥

अर्थ-पद्म पत्र पर पड़े हुए अति चंचल नीर समान,
अतिशय चपल और क्षणभंगुर इस जीवन को जान ।
यहाँ एक बस क्षण भर की सत्संगति ही का भाव,
भवसागर से तरने में बन जाता दृढ़तर नाव ॥

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातन्तुण्डम् ।

कर धृत कम्पित शोभित दण्डं तदपि न मुंचत्याशा भाण्डम् ॥
अर्थ-पलित हो गये बाल शीश के गलित हुआ सब गात,
टूट गये त्यों ही क्रम-क्रम से मुँह के सारे दाँत।
पकड़ा हुआ हाथ में कँपता कैसा फबता दण्ड ?
फिर भी नहीं छोड़ता आशा-भाण्ड अहो पाखण्ड ॥
सत्संगत्वे निस्संगत्वं निस्संगत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं निश्चलितत्वे जीवन्मुक्तिः ॥
अर्थ-सत्संगति से हो जाता नर विषयों से निस्संग,
फिर व्यामोह-रहित हो जाता, हो सर्वत्र असंग।
मोह-विगत होते ही होता मन निश्चलतायुक्त,
निश्चलता आते ही वह हो जाता जीवन्मुक्त॥
कुरुते गंगासागर गमनं व्रत परिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञान-विहीनः सर्वमतेन मुक्तिं भजति न जन्म शतेन ॥
अर्थ-कोई तो करता गंगासागर को ही प्रस्थान,
कोई व्रत का पालन करता अथवा देता दान।
यही किन्तु सब का मत है जो रहता ज्ञान-विहीन,
सौ जन्मों में भी पा सकता मुक्ति नहीं वह दीन॥
अष्ट कुलाचल सप्त समुद्रा ब्रह्म पुरन्दर दिनकर रुद्राः।
न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥
अर्थ- कुल पर्वत ये आठ और अति विस्तृत सात समुद्र,
ब्रह्मा इन्द्र आदि सुरगण या दिनकर अथवा रुद्र-
ये सब कोई नित्य नहीं हैं तू मैं या यह लोक।
फिर भी यों किसलिये व्यर्थ ही किया जा रहा शोक?
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
(कठोपनिषद्)
अर्थ-''सुदुर्दर्श हृदयस्थित दुर्गम स्थान में स्थित उस पुराण पुरुष को अध्यात्म-योग-बल से ही प्राप्त करके ज्ञानीगण हर्ष और शोक से छूटते हैं।''
बृहच्चतद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥
(मुण्डकोपनिषद्, ३।१।७)
अर्थ–"यह आत्मा अत्यंत विशाल, दिव्य और अचिन्त्य रूप है। फिर यह सूक्ष्म रूप से भी सूक्ष्म रूप में प्रतीत होता है। यह दूर से अधिक दूर और निकट से भी अधिक निकट है। जो इसे देखना चाहते हैं, वे इसे हृदय-गुहा में ही देख पाते हैं।"

मांस और मछलियों का सर्वदा त्याग ही उत्तम है; क्योंकि इन सब प्राणियों के देह-कणों में जो रोग और उनके अपने विशेष-विशेष स्वभावों के परमाणु रहते हैं, मांस खाने से वे मनुष्य देह में संचारित होकर मनुष्य के शरीर में रोग और मन में अशान्ति पैदा करते हैं और उनकी प्रकृति तक को बिगाड़ देते हैं।

किसी भी नशीली चीज का सेवन नहीं करना चाहिए, उससे धर्म की हानि होती है।

(कल्याण, योगांक) प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव (पृ० ५७०)

॥ लेखक-स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम ॥

प्राणायाम दुधारे खाँड़े के समान है। इससे लाभ और हानि दोनों हो सकते हैं; बल्कि इससे लाभ उठाने की अपेक्षा इसका दुरुपयोग करना सहज है।

हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग (पृ० ४१३)

॥ लेखक-एक 'दीन'॥

प्राणायाम करने से उन्माद भी होता है। एक साधक ने एक बार मुझसे कहा कि मैंने इतना अधिक प्राणायाम किया कि मेरे रोम-रोम से प्रणव की ध्वनि होने लगी; किन्तु कोई आन्तरिक अनुभव या लाभ नहीं हुआ। सच तो यह है कि योग के प्रथम और द्वितीय अंग यम-नियम की प्राप्ति और आसनसिद्धि के बिना प्राणायाम विशेष लाभदायक नहीं होता। शास्त्रों में प्राणायाम की बहुत प्रशंसा की गई है; किन्तु यह भी कहा गया है कि जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराण में मिलता है, कि वायु जीतने पर भी मन न जीतने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राण-वायु से उच्च है; क्योंकि प्राण-वायु मन का अनुसरण करता है, परन्तु

मन प्राण-वायु का अनुसरण नहीं करता । काम-क्रोध से उत्तेजित होने पर श्वास की गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होने पर प्राण भी शान्त हो जाता है । किन्तु प्राण का निरोध करने पर भी मन की चंचलता पूरी दूर नहीं होती । इस कारण राजयोग में प्राण-निग्रह न करके सीधे मन का निरोध किया जाता है, जिससे प्राण का निरोध हठ के बिना स्वयं हो जाता है । हठयोग का भी सिद्धांत है कि राजयोग ही हठयोग का लक्ष्य है; किन्तु भेद यह है कि हठयोग के ग्रन्थ का कथन है कि हठयोग-बिना राजयोग की प्राप्ति नहीं होगी और हठ भी राजयोग के बिना व्यर्थ है । परन्तु राजयोग का सिद्धांत है कि हठयोग राजयोग की प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं, वरं किंचित् बाधक है ।

वेदान्त अंक १९९३ संवत् वि०

॥ वेदान्त का महान वैलक्षण ॥ (पृ० ९९)

॥ लेखक—स्वामी श्रीअभेदानंदजी, पी-एच० डी० ॥

संसार का जो सबसे प्राचीन ग्रंथ है ऋग्वेद, उसमें यह मंत्र आया है कि ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' अर्थात् ''वह एक ही है और सद्विप्र उसे अनेक नामों से अभिहित करते हैं ।'' यहूदी उसे जेहोवा कहते हैं, ईसाई गॉड या स्वर्गस्थ कहते हैं, मुसलमान अल्लाह कहकर पूजते हैं, बौद्ध बुद्ध, पारसी अहुरमज्द और हिन्दू ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं । वेदान्त का विलक्षण वैलक्षण* यह है कि उसका प्रतिपाद्य ईश्वर सगुण भी है, निर्गुण भी है और निर्गुण-सगुण के परे भी है । वेदान्त के सगुण ईश्वर को सभी साम्प्रदायिक धर्मों के माननेवाले लोग भिन्न-भिन्न नामों से पूजते हैं । वेदान्त का ईश्वर एक है, पर उसके नाम अनेक हैं । वह ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, मुसलमानों का अल्लाह है, जरथुस्त्रानुयायियों (पारसियों) का अहुरमज्द है, चीनियों का तितीन है, यहूदियों

* विलक्षणता ।

का जेहोवा है और बौद्धों का बुद्ध है । यही हिन्दुओं का विष्णु, शिव, अम्बिका है । वह न स्त्री है, न पुरुष, इसलिए वह जगत का पिता, माता दोनों है । भक्त उसे पुरुष-रूप में या स्त्री-रूप में अथवा दोनों से रहित रूप में भज सकते हैं ।

वेदान्त का अर्थ और उसकी लोकमान्यता (पृ० १८७)

॥ लेखक-श्री पी० के० आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, आई० ई० एस० ॥

यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म है, ब्रह्म से ही यह उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही लीन होता है, ब्रह्म में ही श्वास-प्रश्वास लेता है, और कुछ भी यथार्थ में नहीं है, केवल एक निर्गुण निराकार तत्त्व है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, पुरुष इत्यादि नामों से पुकारते हैं । पर यह सत्ता चैतन्य रहित कही गई है, एक प्रकार की सुषुप्ति । यह सत्ता वेदान्त दर्शन के अनुसार तीन प्रकार की है । पारमार्थिक सत्ता निर्गुण निराकार अचित् सत्ता है । व्यावहारिक सत्ता सगुण ईश्वर, जीव, लोक, परलोक, नरक तथा बाकी सब पदार्थों की सत्ता है । और प्रातिभासिक केवल स्वप्नवत् भ्रम है । व्यावहारिक सत्ता ही गोचर जगत का उपादान* कारण है । मुण्डकोपनिषद् में यह स्पष्ट ही कहा गया है कि, जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल को बनाती और उसे निगल जाती है, जैसे पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष के केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर से यह विश्व प्रकट होता है । इस व्यावहारिक सत्ता में परम अव्यक्त अचित् ब्रह्म चैतन्य और ईश्वर भाव धारण करता है अर्थात् तब किसी पदार्थ में रहना, सोचना और आनन्दित होना (सत्-चित्-आनन्द) आरंभ करता है, और अपने अन्दर से सगुण ईश्वर या स्त्रष्टा को उत्पन्न करता है और अपने ही लिए (मौज या लीला के लिए) नाना जीवों और जड़ पदार्थों का सृजन करता है ।

* कार्य के साथ मिला हुआ कारण ।

शब्दाद्वैतवाद (पृ० २७०)

॥ लेखक-श्री बी० कुटुम्ब शास्त्री ॥

भर्तृहरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वाक्यपदीय' में शब्दाद्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया । इस शब्दाद्वैतवाद का ही दूसरा नाम स्फोटवाद वा प्रणववाद है ।

शब्द-तत्त्व विश्व का कारण है और इसकी एकता शांकर अद्वैत ब्रह्म से की जाती है । केवल शुद्ध ब्रह्म के बदले शब्द ब्रह्म का प्रयोग करते हैं । वेद भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं कि इस विश्व का शब्द ही कारण है-

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति
वागेवार्थे सन्निहितं सन्तनोति ।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं
तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ।
और—वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे
वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च ।

*अर्थ-"शब्द के द्वारा ही अर्थ देखते हैं, शब्द को ही बोलते हैं, शब्द में ही मिले हुए अर्थ का विस्तार करते हैं, शब्द के द्वारा ही यह संसार नाना रूपों में बँटा हुआ है, उस बँटे हुए से एक भाग लेकर हमलोग उपयेाग करते हैं । और—शब्द से ही विश्व विकसित हुआ । शब्द ही अमृत और मृत्युस्वरूप है ।" यहाँ श्रुति कह रही है कि विश्व शब्द से विकसित हुआ ।

शंकराचार्य भी यह मानते हैं कि संसार की रचना शब्द से हुई है, जो उसके अनुसार, उपादान कारण है—न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादान कारण त्वभिप्रायेण।

* वेदान्तांक में अर्थ नहीं दिया हुआ है । यह अर्थ पं० कमलाकांत उपाध्याय, व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य, साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, हिन्दीरत्न, संगीत सुधाकर, हेड पं० एस० एस० इन्स्टिच्यूशन, भागलपुर से कराकर छापा गया है ।

*अर्थ-इस शब्द की उत्पत्ति का ब्रह्म की उत्पत्ति के समान उपादान कारण नहीं है ।

वेदान्त-शिक्षा की कुछ बातें (पृ० २७९)

॥ लेखक-श्री डॉ० एम० एच० सैयद, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० ॥

यह सच कहा गया है कि देश और काल भ्रम है । जिसे अपनी बाह्य सत्ता का बोध है, उसके लिए काल कोई वस्तु नहीं है । हमलोग अभी स्थितधी और समबुद्धि क्यों नहीं हैं, इसका कारण यही है कि अनित्य पदार्थों के पीछे दौड़ रहे हैं । चिरचंचल और माया-मरीचिकावत् जो प्राकृत दृश्य है, उससे उत्पन्न होनेवाली कल्पना—परम्परा ही काल बुद्धि का कारण है । जब यह कल्पना—परम्परा या मन-बुद्धि की संकल्प विकल्पात्मक वृत्ति शान्त या निरुद्ध हो जाती है, तब काल कोई पदार्थ नहीं रह जाता। सब प्रकार के दुःख, शोक और यातनाओं का शिकार होनेवाले मनुष्य को आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए, इसी से वह सकुशल दुःख-सागर को पार कर जाएगा ।

अवतार-तत्त्व (पृ० २९०)

॥ लेखक का नाम नहीं दिया गया है ॥

प्रकृति के परम साम्य भाव में ऊँच-नीच का कोई भी विभाग नहीं है । सृष्टि होती है—विषमता में । अतएव कारण जगत के अन्तर्गत जो सत्त्वप्रधान लोक हैं, साधारणतया उन्हीं लोकों से नीचे की ओर अवतरण होता है। उस आलोचनातीत अव्यक्त निरंजन निराकार का अवतार नहीं होता ।

नाद-ब्रह्म-मोहन की मुरली (पृ० ४०७)

॥ लेखक का नाम नहीं दिया गया है ॥

नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम् ।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम् ॥
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः ॥

* उपर्युक्त पादटिप्पणी के अनुकूल ही इस अर्थ के विषय में जानिए ।

[* "मैं उस सच्चिदानंद माधव मुरलीधर की वन्दना करता हूँ, जो नादात्मक हैं अर्थात् नाद ही जिनकी आत्मा है। नाद ही जिनका कारण है, जो स्थिर भाव से प्रणव में स्थित हैं।" "नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि हैं।"] नाद अनादि है। जब से सृष्टि है, तभी से नाद है। महाप्रलय के बाद सृष्टि के आदि में जब परमात्मा का यह शब्दात्मक संकल्प होता है कि "मैं एक बहुत हो जाऊँ", तभी इस अनादि नाद की आदि जागृति होती है। यह नाद-ब्रह्म ही शब्द-ब्रह्म का बीज है। वेदों का प्रादुर्भाव इसी नाद से होता है। नाद का उद्भव परमेश्वर की सच्चिदानंदमयी भगवती सरूपा शक्ति से होता है, और इस नाद से ही विन्दु उत्पन्न होता है। यह विन्दु ही प्रणव है और इसी को बीज कहते हैं।

योगी लोग इसी नाद की उपासना करके ब्रह्म को प्राप्त किया करते हैं। हठयोग-शास्त्रों में इसका बड़ा विस्तार है। मुक्तासन और शाम्भवी मुद्रा के साथ इस नाद का अभ्यास किया जाता है। इस नाद-साधना से सब प्रकार की सिद्धियाँ मिलती हैं। अनाहत नाद योगियों का परम ध्येय है। शास्त्रों में नाद को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष; चारो पदार्थों की सिद्धि का एक साधन माना है। नाद के बिना जगत् का कोई भी कार्य नहीं चल सकता। पांचभौतिक जगत् में आकाश सर्वप्रधान है और आकाश का प्राण नाद ही है। इसी से जगत को नादात्मक कहते हैं। नाद का माहात्म्य अपार है। यह नाद मूलतः परमात्मा का ही स्वरूप है।

वेदान्त-दर्पण (४४०)

॥ लेखक-म० श्रीबालकरामजी विनायक ॥

शब्दाद्वैत-शब्द ही विश्व का कारण है, श्रुति भगवती स्पष्ट रूप से कहती है।

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति
वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति ।

* वेदान्तांक में अर्थ नहीं दिया गया है, पृष्ठ २८८ की पादटिप्पणी में जिन पं० जी का नाम दिया गया है, उन्हीं से अर्थ कराया गया।

वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं
तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते ॥

* अर्थ–शब्द के द्वारा ही अर्थ देखते हैं, शब्द को ही बोलते हैं, शब्द में ही मिले हुए अर्थ का विस्तार करते हैं, शब्द के द्वारा ही यह संसार नाना रूपों में बँटा हुआ है, उस बँटे हुए से एक भाग लेकर हमलोग उपयोग करते हैं।

सृष्टि के मूल में जब शब्द है, तब वह एक-अद्वितीय कौन शब्द है, जिसका अर्थ विश्व है? वह अलौकिक शब्द प्रणव है, राम-नाम है, जो तारक ब्रह्म है, शब्दब्रह्म है।

इस कलिकाल में श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज 'शब्दाद्वैतवाद' के प्रखर और प्रबल आचार्य हुए। इन्होंने पतितों के उद्धार के लिए 'सुरति-शब्द-योग' चलाया। स्वामीजी ने राम-नाम का भजन सिखलाया। प्रसिद्ध है–

शंकर स्वामी ज्ञान सिखायो, रामानुज परिपत्ति** ।
विष्णु स्वामी सेवा पूजा, निम्बारक आसक्ति ॥
सेवक-सेव्य भाव बतलायो, मधुकर-कैरव-चन्द ।
रामनाम को भजन सिखायो, स्वामी रामानन्द ॥

इसी शब्दाद्वैती सम्प्रदाय के रत्न मानसकार गोस्वामीजी भी हैं। वे 'रामनाम' रूपी शब्द-ब्रह्म को 'निर्गुण-ब्रह्म' और 'सगुण-ब्रह्म' दोनों से बड़ा मानते हैं–

निर्गुण ते यहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार ।
कहऊँ नाम बड़ राम तें, निज विचार अनुसार ॥

यह सन्तों का मत है, ''मजहब सीना'' है; ''सफीना'' नहीं, यह Doctrine of the heart है, Doctrine of the Head नहीं। यह दिल का दर्द है, आत्मानुभव की चीज है, कथनी में नहीं आ सकती। यह ऐसा पवित्र सिद्धांत है, जो वैज्ञानिक सत्य की तरह प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा प्रमाणित होता आया है। संसार में कोई भी पंथ नहीं, मजहब नहीं, सम्प्रदाय नहीं, जो इस सिद्धांत को न मानता हो। सबने इसका आश्रय लिया है। ईसाई, मुसाई और

* पृ० २८८ की पादटिप्पणी से अर्थ-कर्त्ता के विषय में जानिए।
**अपने आपको परमात्मा पर छोड़ देना।

कुरान शरीफ आदि 'शब्दब्रह्म' ही के तो प्रतीक हैं। सूफियों का 'इस्मे आजम' गुह्यातिगुह्य तत्त्व राम-नाम ही तो है। अपने यहाँ देखिए-सत्ताद्वैतवादी श्रीशंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि एवं विज्ञानाद्वैतवादी भगवान बुद्ध दोनों को 'प्रणव' स्वीकार है। स्मार्त मंत्रों के आदि में बीज-रूप से ओंकार होता ही है और बौद्ध धर्म के जितने पूजन-पाठ के मंत्र हैं, सबमें ओ३म् लगा हुआ है। मीमांसक लोग इस सिद्धांत को मानने के लिए बाध्य हैं; क्योंकि बिना इसके सहारे वेद का अपौरुषेय होना सिद्ध नहीं हो सकता। उनको भी दबी जबान से कहना पड़ता है कि शब्द वर्णों के द्योतक हैं, वर्ण नित्य है ही, अतएव शब्द नित्य हैं। माण्डूक्योपनिषद् की 'प्रणव एवैकस्त्रिधाभिव्यज्यत' "वाच मुद्गीथमुपासांचक्रिरे" (*एक प्रणव का तीन तरह से भाग हुआ। उसी से शब्द और उद्गीथ की उपासना की गई।) आदि श्रुतियाँ द्रष्टव्य हैं। महावैयाकरण पाणिनि ने "तद्शिष्यं संज्ञाप्रमाणात्वात्" इस सूत्र में प्रतिपादित किया है कि शब्द-व्यवहार अनादि और नित्य है। वैयाकरण व्याडि ने अपने ग्रंथ 'संग्रह' में (जो अब प्राप्य नहीं है) शब्दाद्वैत पर गम्भीरतापूर्वक एवं सफलतापूर्वक विचार किया है। वैयाकरण कात्यायन एवं पतंजलि ने उसी ग्रन्थ से अपने ग्रंथों में सहायता ली है और इस विषय को चमत्कृत किया है। महाभाष्य का–

"स्फोटमात्रमादेः श्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति"। एवं "ध्वनिस्फोटस्य शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।" तथा "येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।" यह अवतरण पठनीय है। 'स्फोट' शब्द और उसकी व्याख्या स्वतः महाभाष्य में दी हुई हैं। भर्तृहरिजी ने तो शिवजी की आज्ञा से स्वरचित 'वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड' में इस सिद्धांत पर शास्त्रीय रीति से विचार किया है और 'स्फोट' को नित्य सिद्ध कर दिया। उनके पीछे भर्तृमित्र ने 'स्फोट सिद्धि' की रचना की है। पुराणराज और कैयट एवं नागेश की टीकाओं एवं व्याख्याओं में तो यह विषय अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है। भर्तृहरिजी की क्या ही अच्छी सूझ

है ? वे पते की बात कहते हैं।

इति कर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥

(*इस संसार में जितने तरह के कार्य हैं, वे शब्द के आधार पर हैं, जिस ओर बच्चा भी पहले के संस्कार के कारण आगे बढ़ता है) प्रथम इसके कि प्रथमतः इन्द्रियों का संचालन और करणों पर उनका अधिकार जम सके तथा साँस बाहर निकाली जा सके एवं भिन्न-भिन्न अवयवों का संचालन हो सके, शिशु को पूर्व संस्कारवशात् 'शब्द' की सुरति हो गई और उस शिशु ने जन्मते ही ध्वनि 'क्रन्दन' प्रसारित करके हमें 'शब्द व्यवहार' के नित्यत्व और अनादित्व का बोध करा दिया। प्रत्येक विद्यमान वस्तु शब्द-द्वारा प्रकट की जा सकती है और शब्द-द्वारा जिसका विकास नहीं, उसका अस्तित्व ही नहीं।

सबका कल्याणकारी वेदान्त पुकारकर कहता है–''हे पथिक ! यह क्या है, यहाँ क्या हो रहा है ? इनको न देखो, न सुनो, कुछ बोलो भी नहीं। गतव्य मार्ग पर चलते हुए आँख, कान और मुँह; तीनों को बन्द करो, तब तुम अन्तर्जगत में प्रवेश कर सकोगे और भगवदीय रहस्य से परिचित हो सकोगे, वह प्यारा तुम्हारे पास है।''

कबीर साहब और वेदान्त (पृ० ४५२)

॥ लेखक-महन्त श्रीरामस्वरूप दासजी गुरु शान्ति साहब ॥

महात्मा कबीर दास एक बहुत बड़े लोक-शिक्षक थे। उन्होंने मनुष्य-समाज को सत्य धर्म की शिक्षा देने की जीवन भर चेष्टा की। और सत्य धर्म वेदान्त ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी कबीर-साहित्य से अनभिज्ञ कितने ही लोगों का यह कहना है कि कबीर ने वेद और वेदान्त को नहीं माना है। परन्तु ऐसा कहना अपनी अनभिज्ञता का परिचय देने के सिवा और कुछ नहीं। कबीर साहब एक स्थल में कहते हैं–

'वेद पुराण कहो किन झूँठा, झूँठा जो न विचारा।'

*पृ० २८४ की पादटिप्पणी से अर्थ-कर्त्ता के विषय में जानिए।

सन्त अंक, वि० संवत् १९९४

वेद में सन्त (पृ० ४९)

॥ लेखक-वेददर्शनाचार्य श्री मण्डलेश्वर श्री स्वामी जी श्री गंगेश्वरानन्द जी महाराज ॥

'सन्त' शब्द चार तरह से बन सकता है–(१) षण् 'सम्भक्तौ ४६५ धातु से औणादिक तन् प्रत्यय करने से निष्पन्न 'संत' शब्द का अर्थ 'सनति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से लोकाननुग्रहकारी' होता है। वह सन्त शब्द साधु तो है, परन्तु शास्त्र में प्रयुक्त नहीं है। (२) शम् शब्द से 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' (अष्टा० ५/२/१३८८) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा त प्रत्यय होकर शान्त शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य' इस व्युत्पत्ति से ब्रह्मानन्द सम्पन्न व्यक्ति है। (३) 'षणु दाने' १४६५ धातु से 'क्तिच्क्तौच संज्ञायाम्' (३।३।१७४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार क्तिच् प्रत्यय होकर सन्ति शब्द बना, जिसका अर्थ 'सनोति पार्थितं फलं प्रयच्छति' इस व्युत्पत्ति से फलदाता है। उस सन्ति शब्द से तत्र साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होकर सन्त्य शब्द बनता है। फलदाताओं में श्रेष्ठ इसका अर्थ है। इस शब्द का ऋग्वेद में बहुत स्थलों में प्रयोग हुआ है-गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि। देवान् देवयते यज। (ऋ० म० १, सू० १५ मं० १२) 'फलदाताओं में श्रेष्ठ अग्निदेव ! आप गृहपति-सम्बन्धी रूप से युक्त हैं, ऋतुदेव के साथ यज्ञ के निर्वाहक हैं। देवकृपाकांक्षी यजमान के लिए देवयजन को निर्विघ्न सम्पादन करें, इस मंत्र में अग्निदेव के लिए फलदाताओं में श्रेष्ठ अर्थ को लेकर सन्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मवित् महात्माओं का देव-दुर्लभ ब्रह्म-विद्या-रूपी फल देने के कारण फलदाताओं में सर्वोच्च स्थान है। अतः लोग अधिकतर उन्हें सन्त्य कहने लगे। वही शब्द कुछ विकृति के साथ संत शब्द के रूप में आजकल महात्माओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। (४) सत् शब्द का प्रथमा विभक्ति बहुवचन में 'संतः' ऐसा रूप बनता है। उसी का अपभ्रंश संत शब्द सत् पुरुषों के लिए हिन्दी में प्रयुक्त होता है।

सन्त चर्चा (पृ० ८४)

॥ लेखक–पं० श्री कृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्त-विद्यार्णव ॥

संस्कृत भाषा में 'सत्' शब्द के बहुवचन में 'सन्तः' पद प्रयुक्त होता है। उच्चारण में सौकर्य्य के निमित्त व्यावहारिक हिन्दी भाषा में विसर्ग का लोप कर देते हैं और 'संत' कहा करते हैं। 'संत' शब्द इस दृष्टि से स्वयं बहुवचन में है, तथापि हिन्दी में इसको एकवचन मानते हैं और बहुवचन में 'सन्तों' कहते हैं। भक्त, श्रोत्रिय, महात्मा, ऋषि, मुनि, त्यागी, संन्यासी, तपस्वी, योगी, ध्यानी, ज्ञानी-ये शब्द यद्यपि जीवों की साधनावस्था में भिन्नार्थक हैं, तथापि उनकी सिद्धावस्था में एकार्थक ही होते हैं। ये भक्तादिक सभी परिपूर्ण सुनिष्पन्न अवस्था में पहुँचकर 'सन्त' कहलाते हैं; क्योंकि वे 'असत्' से 'सत्' हो जाते हैं।

सन्त-तत्त्व

॥ लेखक-स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती ॥

सन्त-वन्दना–हमारा पवित्र भारतवर्ष भी शून्य प्रतीत होने लगेगा, यदि व्यास-वाल्मीकि, शुकदेव-नारद, याज्ञवल्क्य-जनक, वशिष्ठ-दधीचि, बुद्ध-महावीर, शंकर-रामानुज, मध्व-चैतन्य, नानक-कबीर, सूर-तुलसी, नम्मलवार-माणिक्क वासगर, ज्ञानदेव-तुकाराम और ज्ञान संबंध–रामकृष्ण प्रभृति सन्तों को उसके इतिहास में से निकाल दिया जाए। सन्त ही भारतवर्ष के स्मृतिकार हैं, संत ही उसके कवि हैं, सन्त ही उसके संदेशवाहक हैं और सन्त ही उसकी संतान को प्रेम, ज्ञान और शान्ति का पाठ पढ़ानेवाले हैं। उन सन्तों को हमारा बार-बार प्रणाम है।

सन्त ही मानव-जाति के प्राण हैं, सन्त ही संसार-रूपी पादप के अमृत-फल हैं, सन्त ही सभ्य समाज को प्रकाश देनेवाले प्रदीप हैं। वे ही पाप-ताप से पीड़ित मानव-जाति को ऊपर उठानेवाली शक्ति हैं। अतः सभी जातियों और सभी देशों के सन्तों को हम नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

ईसाई संत, अंक ३ (पृ० ८०८)

॥ लेखक-श्रीसम्पूर्णानन्दजी ॥

मैं तो इस (संत) शब्द को 'योगी' के अर्थ में ही लेता हूँ। मैं इस बात को भूलता नहीं कि स्वयं पतंजलि ने ''ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' और ''यथाभिमतध्यानाद्वां'' सूत्रों में कपाट बहुत चौड़े खोल दिए हैं। फिर भी प्राचीन परम्परा को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति सन्त कहलाने का अधिकारी तब होगा, जब उसके लिए-''भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'' यह उपनिषद्-वाक्य सार्थक हो चुका हो।

इसके पहले वह कितना बड़ा भी भक्त या उपासक क्यों न हो, विद्वान, महात्मा या साधु या सज्जन या चाहे और जो कहलाए, पर संत नहीं कहला सकता।

ईसाई धर्म की मूल पुस्तक तो बाइबिल है, अतः उसमें भी योग की ओर संकेत है। यह संकेत पूर्व भाग में भी है और उत्तर भाग में भी। उत्तर भाग में विशेष रूप से ऐसी बातें उन अध्यायों में पायी जाती है, जो ईसा के शिष्य यॉन के द्वारा संकलित हुए हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि' की ध्वनि इन वाक्यों से निकलती है; ईश्वर कहता है, मैं ही अल्फा और ओमेगा (आदि और अन्त) हूँ' और कहते हैं–ईसा 'मैं और मेरे पिता (जीव और ब्रह्म) एक हैं।' हमारे यहाँ प्राण आदिशब्द प्रणव, ॐकार से ही सृष्टि का विकास माना गया है। ॐकार ईश्वर से अभिन्न है। शब्द के बाद तब तेज का आविर्भाव होता है। बाइबिल में यॉन कहते हैं–'आरम्भ में शब्द था और शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही ईश्वर था।'

'आरम्भ में शब्द था और शब्द ही सब कुछ हो गया। शब्द से प्रकाश उत्पन्न हुआ और यही प्रकाश सबको भीतर से प्रकाशित कर रहा है।'

कल्याण सन्तांक (पृ० ४५४ से उद्धृत)

ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व पाइथागोरस (Pythagoras) नामक ईटली-निवासी ग्रीक महात्मा हो गए हैं। इनका जीवन अत्यंत

रहस्यपूर्ण है और इनके विषय में अनेकानेक अपूर्व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनकी अलौकिक शक्तियों के भी आश्चर्यजनक विवरण मिलते हैं। जन्मान्तरवाद इनका मूल सिद्धांत था। नाद-ब्रह्म का इनको इतना अच्छा अभ्यास था कि इन्हें सृष्टि-मण्डल की गति का संगीत (Music of the spheres) अर्थात् प्रणव धवनि निरन्तर सुनाई पड़ती थी।

-- :: ० :: --

मानसांक, खण्ड २

श्री रामचरितमानस का दार्शनिक सिद्धांत

॥ लेखक-श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती ॥

पृ० ९३२-श्रीशंकराचार्य और श्रीतुलसीदासजी के सिद्धांत एक हैं।

पृ० ९७४-(लेखक-साहित्यरंजन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

.....पृ० ९७६-श्रीरामचरितमानस भक्ति-प्रधान ग्रन्थ होते हुए भी अध्यात्मरामायण की भाँति अद्वैतवाद का ग्रन्थ है।

कल्याण, साधनांक (पृ० ६००)

॥ लेखक-स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज ॥

(क) स्वदेहमरणिं ख़त्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्यान निर्मथना-भ्यासाद्देव पश्येन्निगूढवत् ॥

(ख) प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥

(ग) प्रणवात्मकं ब्रह्म।

(घ) प्रणवात् प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात् प्रभवो हरिः।
प्रणवात् प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ॥

अर्थ–अपनी देह को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि करके ध्यान-रूप मन्थन से छिपी हुई वस्तु के समान देव को देखे। प्रणव धनुष है, आत्मा वाण है, उस वाण का लक्ष्य ब्रह्म है। जितेन्द्रिय पुरुष को उसे सावधानी से बेधना चाहिए।

वाण के समान तन्मय हो जाए। ब्रह्म प्रणवात्मक है। प्रणव से ब्रह्मा है, प्रणव से हरि है, प्रणव से रुद्र है और प्रणव ही परतत्त्व।

परन्तु वर्तमान युग में प्रणव के स्वरूप को बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं। अधिक लोग तो ॐकार के उच्चारण को या मन-ही-मन जप करने को प्रणव-साधन समझते हैं। परन्तु उपनिषद् के कथनानुसार ॐकार का उच्चारण नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह स्वर या व्यंजन नहीं है और वह कंठ, होंठ, नासिका, जीभ, दाँत, तालु और मूर्द्धा आदि के योग से या इनके घात-प्रतिघात से उच्चारित नहीं होता।

अघोषम् अव्यंजनम् अस्वरं च अकण्ठताल्वोष्ठम् अनासिकञ्च।
अरफे जातम् उभयोष्ठ वर्जितं यदक्षरं न क्षरते कदाचित्॥*

अब प्रश्न यह है कि साधारणतः सभी शब्द कण्ठादि के द्वारा ही ध्वनित होते हैं; परन्तु यदि प्रणव कण्ठादि में वायु के घात-प्रतिघात के बिना ही ध्वनित होता है, तो फिर वह ध्वनि क्या है और किस प्रकार से, किस उपाय से अथवा किस साधना से वह अनुभूत हो सकती है। उपनिषदादि में इस ध्वनि को अनाहत नाद कहा गया है। तंत्र विशेष में इसका नाम है 'अकृतनाद'। जिस साधन का अभ्यास करने से यह नाद स्वतः ही उत्पन्न होता है, वही इसका वास्तविक साधन है और वही यथार्थ उपाय है। अन्यान्य साधन तो अनुपाय ही हैं—'अनुपायाः प्रकीर्तिताः।

'कल्याण' गीतांक

देव तथा ईश्वर

॥ लेखक-पं० कृष्णदत्तजी भारद्वाज शास्त्री, बी० ए० ॥

पृ० १३७-बहुत-से लोग अनेक ऐहिक कामनाओं के वशीभूत होकर उन इच्छाओं के पूर्ण करनेवाले भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना में दत्तचित्त होते हैं। ऐसे पुरुषों को ईश्वर के देवाधिदेवत्व का ज्ञान नहीं होता। देवत्व और ईश्वर में वास्तव में महान अन्तर है।

* अमृतनाद उपनिषद्।

(१) वैदिक सिद्धान्त के अनुसार देवता मनुष्येतर सुख-सम्पन्न एक दूसरे ही लोक में रहनेवाले पुरुष हैं।

(२) मनुष्य-सुख से सौ गुणा अधिक सुख पितरों को होता है। पितरों के सौ गुणे सुख के समान गन्धर्व लोक का सुख है। गन्धर्वों के सुख से सौ गुणा अधिक सुख कर्म-देवों को तथा उनसे भी अधिक जन्म देवों को प्राप्त होता है। इस सिद्धांत को जानकर देवताओं के स्वरूप के सम्बंध में बहुत कुछ उत्सुकता शान्त हो जाती है। देवताओं के सुख से सौ गुणा अधिक सुख प्रजापति-लोक में तथा उससे भी अधिक ब्रह्मलोक में मिलता है। देवता मनुष्यों से बहुत उन्नत, परन्तु ब्रह्मलोक-निवासियों से वे बहुत अवनत दशा में रहनेवाले प्राणिविशेष हैं।

महात्मा मोहनदास करमचन्द गाँधीजी के विचार

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीव-मात्र ईश्वर के अवतार हैं; परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान होता है, उसी को भावी प्रजा अवतार-रूप से पूजती है। इनमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता; इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में ही कमी आती है, न सत्य को ही आघात पहुँचता है। "आदम खुदा नहीं, लकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है, वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणी से कृष्णरूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म में साम्राज्य-उपभोग कर रहा है। [अनासक्ति योग, (श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद), प्रस्तावना, पृ० ८-९]

(१) त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य मूषुर्देवा मनुष्या असुराः।
(बृहदा० ब्रा० २, अ० ५, श्लोक १)

(२) ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभि-सम्पदयन्तेऽथ ये शतं कर्म देवानामानन्दाः स एकः आजान देवानामानन्दो यश्च श्रोत्रिज्ञयोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजान देवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो...ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दः (बृहदा० ब्रा० ३, अ० ४ श्लोक ३३)

भक्ति "तलवार की धार पै धावनो है," इससे गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से बतलाए हैं। गीता की भक्ति भोंदूपन नहीं है। माला, तिलक और अर्घ्यादि साधनों का भले ही भक्त उपयोग करे, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं; जो किसी का द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है, ममता-रहित है, निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान है, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसका निश्चय कभी बदलता नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दी है, जिससे लोग नहीं घबड़ाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष, शोक, भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र पर पर सम भाव रखनेवला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिर बुद्धि है, वह भक्त है। (अ० यो०, प्र०, पृ० ११,१२,१३)

टिप्पणी–देहधारी मनुष्य अमूर्त्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त्त स्वरूप के लिए, एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्द से ही सन्तोष करना ठहरा। इसलिए मूर्तिपूजा का निषेध करनेवाले भी सूक्ष्म रीति से देखने पर मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मन्दिर में जाकर पूजा करना, एक ही दिशा में मुख रखकर पूजा करना, यह सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिन्त्य स्वरूप है, यह तो सबको समझे ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान में विलीन हो जायँ और अन्त में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाए। पर इस स्थिति को साकार-द्वारा सुलभता से पहुँचा जा सकता है। इसलिए निराकार को सीधा पहुँचने का मार्ग कष्टसाध्य कहा गया है। (अ० यो०, प्र०, पृ० ११, १२, १३)

ता० २-६-१९४६, हरिजन-सेवक, पृ० १५७, प्रश्नोत्तर–

राम कौन ?

स०–आप कहा करते हैं कि प्रार्थना में प्रयुक्त 'राम' का आशय दशरथ के पुत्र राम से नहीं। आपका आशय 'जगन्नियन्ता' से होता है। हमने भली भाँति देखा है कि 'रामधुन' में राजा राम, सीताराम का कीर्त्तन होता है। यह राम कौन हैं? क्या यह दशरथ के सुपुत्र राम नहीं?

उ०–तुलसीदासजी ने तो इसका उत्तर दिया ही है, तो भी मुझे कहना चाहिए कि मेरी राय कैसी बनी है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के अनेक नाम हैं। सैकड़ों लोग राम-कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं, और मानते हैं कि जो राम दशरथ के पुत्र माने जाते हैं, वही ईश्वर के रूप में पृथ्वी पर आए और यह कि उनकी पूजा से आदमी मुक्ति पाता है। ऐसा ही कृष्ण के लिए है। इतिहास, कल्पना और शुद्ध सत्य आपस में इतने ओत-प्रोत हैं कि उन्हें अलग करना करीब-करीब असम्भव है। मैंने अपने लिए सब संज्ञाएँ रखी हैं। और उन सबमें मैं निराकार, सर्वस्थ राम को ही देखता हूँ।

हरिजन-सेवक, पृ० १६७- राम कौन ?

गाँधीजी ने कहा–"जिस रामनाम को मैं सब बीमारियों की रामवाण दवा कहता हूँ, वह राम न तो ऐतिहासिक या तवारीखी राम है, और न उनलोगों का राम है, जो उसका इस्तेमाल जादू-टोने के लिए करते हैं। सब रोगों की रामवाण दवा के रूप मे मैं जिस राम का नाम सुझाता हूँ, वह तो खुद ईश्वर ही है।"

पृ० १६८–"सबके साथ मिलकर मजमे की शकल में प्रार्थना करने का राज या रहस्य यह है कि उसका एक-दूसरे पर जो शान्त प्रभाव पड़ता है, वह आध्यात्मिक उन्नति या रूहानी तरक्की की राह में मददगार हो सकता है।"

कल्याण, सन्त-वाणी अंक (पृ० ५७४)

आर्य-समाज के प्रसिद्ध प्रवर्त्तक

॥ स्वामी श्रीदयानन्द सरस्वतीजी की वाणी ॥

परमेश्वर की नित्य प्रति प्रार्थना और उपासना, सबको अनन्यचित्त होकर अवश्य करनी चाहिए; क्योंकि जो मनुष्य नित्य प्रेम-भक्ति से परमेश्वर की उपासना करते हैं, उन्हीं उपासकों को परम करुणामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष-रूपी सुख प्रदान कर सदा के लिए आनन्द का भागी बनाते हैं।

परमेश्वर की उपासना अर्थात् योग-वृत्ति ही सब क्लेशों का विनाश करनेवाली और सब शान्ति आदि गुणों को प्रदान करनेवाली है ।

वही एक परमेश्वर हम सब मनुष्यों का उपास्य देव है । जो मनुष्य उसको छोड़कर दूसरे की उपासना करता है, वह पशु के समान बनकर सब दिन दुःख भोगता रहता है--------।

॥ सत्संग-योग, तृतीय भाग समाप्त ॥

-- :: ० :: --

सत्संग-योग

भाग ४

गद्य

(१) शान्ति स्थिरता वा निश्चलता को कहते हैं।

(२) शान्ति को जो प्राप्त कर लेते हैं, सन्त कहलाते हैं।

(३) सन्तों के मत वा धर्म को सन्तमत कहते हैं।

(४) शान्ति प्राप्त करने का प्रेरण मनुष्यों के हृदय में स्वाभाविक ही है। प्राचीन काल में ऋषियों ने इसी प्रेरण से प्रेरित होकर इसकी पूरी खोज की और इसकी प्राप्ति के विचारों को उपनिषदों में वर्णन किया। इन्हीं विचारों से मिलते हुए विचारों को कबीर साहब और गुरु नानक साहब आदि सन्तों ने भी भारती और पंजाबी आदि भाषाओं में सर्व-साधारण के उपकारार्थ वर्णन किया; इन विचारों को ही सन्तमत कहते हैं; परन्तु सन्तमत की मूल भित्ति तो उपनिषद् के वाक्यों को ही मानने पड़ते हैं; क्योंकि जिस ऊँचे ज्ञान का तथा उस ज्ञान के पद तक पहुँचाने के जिस विशेष साधन-नादानुसन्धान अर्थात् सुरत-शब्द-योग का गौरव सन्तमत को है, वे तो अति प्राचीन काल के इसी भित्ति पर अंकित होकर जगमगा रहे हैं। सत्संग-योग के प्रथम, द्वितीय और तृतीय; इन तीनों भागों को पढ़ लेने पर इस उक्ति में संशय रह जाय, सम्भव नहीं है। भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में सन्तों के प्रकट होने के कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामों पर इनके अनुयायियों द्वारा सन्तमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण संतों के मत में पृथक्त्व ज्ञात होता है; परन्तु यदि मोटी और बाहरी बातों को तथा पन्थाई भावों को हटाकर विचारा जाय और सन्तों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब सन्तों का एक ही मत है। सब सन्तों का अन्तिम पद वही है, जो पारा-संख्या ११ में वर्णित है और उस पद तक पहुँचने के लिए पारा संख्या ५९ तथा ६१ में वर्णित सब विधियाँ उनकी वाणियों में पायी जाती हैं। सन्तों के उपास्य देवों में जो पृथक्त्व है, उसको पारा-संख्या ८६ में वर्णित विचारानुसार समझ लेने पर यह

पृथक्त्व भी मिट जाता है। पारा-संख्या ११ में वर्णित पद का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के लिए नादानुसन्धान (सुरत-शब्द-योग) की पूर्ण विधि जिस मत में नहीं है, वह सन्तमत कहकर मानने योग्य नहीं है; क्योंकि सन्तमत के विशेष तथा निज चिह्न ये ही दोनों हैं। नादानुसन्धान को नाम-भजन भी कहा जाता है (पारा-संख्या ३५ में पढ़िये)। किसी सन्त की वाणी में जब नाम को अकथ वा अगोचर वा निर्गुण कहा जाता है, तब उस नाम को ध्वन्यात्मक सारशब्द ही मानना पड़ता है; यथा–

अदृष्ट अगोचर नाम अपारा। अति रस मीठा नाम पियारा॥

(गुरु नानक)

बंदउँ राम नाम रघुवर को। हेतु कृसानु-भानु-हिमकर को॥
विधि हरिहर मय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

(गोस्वामी तुलसीदास)

सन्तो सुमिरहु निर्गुन अजर नाम। (दरिया साहब, बिहारी)
जाके लगी अनहद तान हो, निर्वाण निर्गुण नाम की।

(जगजीवन साहब)

(५) चेतन और जड़ के सब मण्डल सान्त (अंत-सहित) और अनस्थिर हैं।

(६) सारे सांतों के पार में अनंत भी अवश्य ही है।

(७) अनन्त एक से अधिक कदापि नहीं हो सकता, और न इससे भिन्न किसी दूसरे तत्त्व की स्थिति हो सकती है।

(८) केवल अनन्त तत्त्व ही सब प्रकार अनादि है।

(९) इस अनादि अनन्त तत्त्व के अतिरिक्त किसी दूसरे अनादि तत्त्व का होना सम्भव नहीं है।

(१०) जो स्वरूप से अनन्त है, उसका अपरम्पार शक्तियुक्त होना परम सम्भव है।

(११) अपरा (जड़) और परा (चेतन); दोनों प्रकृतियों के पार में अगुण और सगुण पर, अनादि-अनंतस्वरूपी, अपरम्पार शक्तियुक्त, देशकालातीत, शब्दातीत, नाम-रूपातीत, अद्वितीय; मन, बुद्धि और इन्द्रियों के परे जिस परम सत्ता पर यह सारा प्रकृतिमण्डल एक महान् यंत्र

की नाईं परिचालित होता रहता है; जो न व्यक्ति है और न व्यक्त है, जो मायिक विस्तृतत्व-विहीन है, जो अपने से बाहर कुछ भी अवकाश नहीं रखता है, जो परम सनातन, परम पुरातन एवं सर्वप्रथम से विद्यमान है, संतमत में उसे ही परम अध्यात्म-पद वा परम अध्यात्म-स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर (कुल्ल मालिक) मानते हैं।

(१२) परा प्रकृति वा चेतन प्रकृति वा कैवल्य पद त्रय गुण-रहित और सच्चिदानन्दमय है और अपरा प्रकृति वा जड़ात्मक प्रकृति त्रय गुणमयी है।

(१३) त्रय गुण के सम्मिश्रण-रूप (सम-मिश्रण-रूप) को जड़ात्मक मूल प्रकृति कहते हैं ।

(१४) परम प्रभु सर्वेश्वर व्याप्य अर्थात् समस्त प्रकृति-मण्डल में व्यापक हैं; परन्तु व्याप्य को भरकर ही वे मर्यादित नहीं हो जाते हैं। वे व्याप्य के बाहर और कितने अधिक हैं, इसकी कल्पना भी नहीं हो सकती; क्योंकि वे अनन्त हैं।

(१५) परम प्रभु सर्वेश्वर अंशी हैं और (सच्चिदानन्द ब्रह्म, ॐ ब्रह्म और पूर्ण ब्रह्म, अगुण एवं सगुण आदि) ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव, उसके अटूट अंश हैं; जैसे मठाकाश, घटाकाश और पटाकाश महदाकाश के अटूट अंश हैं।

(१६) प्रकृति के भेद-रूप सारे व्याप्यों के पार में, सारे नाम-रूपों के पार में और वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक, आहत, अनाहत आदि सब शब्दों के परे आच्छादन-विहीन शान्ति का पद है, वही परम प्रभु सर्वेश्वर का जड़ातीत, चैतन्यातीत निज अचिन्त्य स्वरूप है, और उसका यही स्वरूप सारे आच्छादनों में भी अंश-रूपों में व्यापक है, जहाँ आच्छादनों के भेदों के अनुसार परम प्रभु के अंशों के ब्रह्म और जीवादि नाम हैं। अंश और अंशी, तत्त्व-रूप में निश्चय ही एक हैं; परन्तु अणुता और विभुता का भेद उनमें अवश्य है, जो आच्छादनों के नहीं रहने पर नहीं रहेगा।

(१७) परम प्रभु के निज स्वरूप को ही आत्मा वा आत्मतत्त्व कहते हैं; और इस तत्त्व के अतिरिक्त सभी अनात्मतत्त्व हैं।

(१८) आत्मा सब शरीरों में शरीरी वा सब देहों में देही वा सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ है ।

(१९) शरीर वा देह वा क्षेत्र, इसके सब विकार और इसके बाहर और अन्तर के सब स्थूल-सूक्ष्म अंग-प्रत्यंग अनात्मा हैं।

(२०) परा प्रकृति, अपरा प्रकृति और इनसे बने हुए सब नाम-रूप-पिण्ड, ब्रह्माण्ड, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य (जड़-रहित चेतन वा निर्मल चेतन); सब-के-सब अनात्मा हैं।

(२१) अनात्मा के पसार को आच्छादन-मण्डल कहते हैं।

(२२) आच्छादन-मण्डलों के केवल पार ही में परम प्रभु सर्वेश्वर के निज स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। जड़ात्मक आच्छादन-मण्डल चार रूपों में है। वे स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण कहलाते हैं। कारण की खानि को महाकारण कहते हैं।

(२३) परम प्रभु सर्वेश्वर के निज स्वरूप की प्राप्ति के बिना परम कल्याण नहीं हो सकता है ।

(२४) आँखों पर रंगीन चश्मा लगा रहने के कारण बाहर के सब दृश्य चश्मे के रंग के अनुरूप रंगवाले दीखते हैं। इसी तरह जड़ात्मक अनात्म आच्छादनों से आच्छादित रहने के कारण जीव को आच्छादन-तत्त्व का ज्ञान होता है, उससे भिन्न तत्त्व का नहीं।

(२५) कोई भी सगुण (रज, तम और सत्त्व से युक्त) और साकार रूप अनादि, अनन्त, मूलतत्त्व वा परम प्रभु सर्वेश्वर के सम्पूर्ण स्वरूप का रूप नहीं हो सकता है।

(२६) गन्ध, स्पर्श, रस और त्रय गुण मण्डल के ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द सगुण निराकार कहे जा सकते हैं। इनके विशाल-से-विशाल मण्डल से भी परम प्रभु सर्वेश्वर के सम्पूर्ण स्वरूप का आच्छादन नहीं हो सकता है।

(२७) निर्मल चेतन और उसके केन्द्र से उत्थित आदिनाद वा आदिध्वनि वा आदिशब्द त्रय गुण-रहित वा निर्गुण निराकार कहे जा सकते हैं; इनसे अर्थात् निर्गुण से भी परम प्रभु सर्वेश्वर पूर्णरूप से आच्छादित होने योग्य नहीं हैं; क्योंकि अनन्त को अपने घेरे के अन्दर ला सके, ऐसी किसी चीज को मानना बुद्धि-विपरीत और अयुक्त है ।

(२८) जड़ात्मक सगुण प्रकृति वा अपरा प्रकृति नाना रूपों में रूपान्तरित होती रहती है। इसलिए इसे क्षर और असत् कहते हैं।

(२९) चेतनात्मक निर्गुण प्रकृति वा परा प्रकृति रूपान्तरित नहीं होती है, इसीलिए इसको अक्षर और सत् कहते हैं। परम प्रभु सर्वेश्वर सत् और असत् तथा क्षर और अक्षर से परे हैं।

(३०) परम प्रभु सर्वेश्वर में सृष्टि की मौज वा कम्प हुए बिना सृष्टि नहीं होती है।

(३१) मौज वा कम्प शब्द-सहित अवश्य होता है; क्योंकि शब्द कम्प का सहचर है। कम्प शब्दमय होता है और शब्द कम्पमय होता है।

(३२) परा और अपरा; युगल प्रकृतियों के बनने के पूर्व ही आदिनाद वा आदि ध्वन्यात्मक शब्द अवश्य प्रकट हुआ। इसी को ॐ, सत्यशब्द, सारशब्द, सत्यनाम, रामनाम, आदिशब्द और आदिनाम कहते हैं ।

(३३) कम्प और शब्द के बिना सृष्टि नहीं हो सकती। कम्प और शब्द सब सृष्टियों में अनिवार्य रूप से अवश्य ही व्यापक हैं।

(३४) आदिशब्द सम्पूर्ण सृष्टि के अन्तस्तल में सदा अनिवार्य, अविच्छिन्न और अव्याहत रूप से अवश्य ही ध्वनित होता है; यह अत्यन्त निश्चित है। यह शब्द सृष्टि का साराधार, सर्वव्यापी और सत्य है।

(३५) अव्यक्त से व्यक्त हुआ है अर्थात् सूक्ष्मता से स्थूलता हुई है। सूक्ष्म, स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है। अतएव आदिशब्द सर्वव्यापक है। इस शब्द में योगी जन रमते हुए परम प्रभु सर्वेश्वर तक पहुँचते हैं अर्थात् इस शब्द के द्वारा परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है। इसलिए इस शब्द को परम प्रभु का नाम-'रामनाम' कहते हैं। यह सबमें सार रूप से है तथा अपरिवर्तनशील भी है। इसीलिए इसको सारशब्द, सत्यशब्द और सत्यनाम भारती सन्तवाणी में कहा है, और उपनिषदों में ऋषियों ने इसको ॐ कहा है। इसीलिए यह आदिशब्द संसार में ॐ कहकर विख्यात है ।

(३६) शब्द का स्वाभाविक गुण है कि वह अपने केन्द्र पर सुरत को आकर्षित करता है, केन्द्र के गुण को साथ लिए रहता है और अपने में ध्यान लगानेवाले को अपने गुण से युक्त कर देता है।

(३७) सृष्टि के दो बड़े मण्डल हैं—परा प्रकृति मण्डल वा सच्चिदानन्द पद वा कैवल्य पद वा निर्मल चेतन (जड़-विहीन चेतन) मण्डल और अपरा प्रकृति वा जड़ात्मक प्रकृति मण्डल।

(३८) जड़ात्मक वा अपरा प्रकृति चार मण्डलों में विभक्त है—महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल। इस प्रकृति का मूल स्वरूप (रज, तम और सत्त्व) त्रय गुणों का सम्मिश्रण रूप है; अपने इस रूप में यह प्रकृति साम्यावस्थाधारिणी है। इसके इस रूप को महाकारण कहना चाहिये। इसके इस रूप के किसी विशेष भाग में जब गुणों का उत्कर्ष होता है, तब इसका वह भाग क्षोभित होकर विकृत रूप को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वह भाग प्रकृति नहीं कहलाकर विकृति कहलाता है और उस भाग में सम अवस्था नहीं रह जाती है; विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना होती है और इसीलिए वह भाग विश्व-ब्रह्माण्ड का कारण-रूप है। ऐसे अनेक बह्माण्डों का कारण जड़ात्मक मूल प्रकृति में है, इसलिए यह प्रकृति अपने मूल रूप में कारण की खानि भी कही जा सकती है। कारण-रूप से सृष्टि का प्रवाह जब और नीचे की ओर प्रवाहित होता है, तब वह सूक्ष्म कहलाता है और सूक्ष्म रूप से और नीच की ओर उतरकर स्थूलता को प्राप्त हो वह स्थूल कहलाता है। इसी तरह जड़ात्मक प्रकृति के चार मण्डल बनते हैं ।

(३९) परा प्रकृति-मण्डल के सहित जड़ात्मक प्रकृति के चारो मण्डलों को जोड़ने से सम्पूर्ण सृष्टि में पाँच मण्डल-कैवल्य, महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल हैं।

(४०) संख्या ३९ में लिखित पाँच मण्डलों से जैसे विश्व-ब्रह्माण्ड (बाह्य जगत्) भरपूर है, वैसे ही इन पाँचो मण्डलों से पिण्ड (शरीर) भी भरपूर है। जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में की अपनी स्थितियों को विचारने पर प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि पिंड के जिस मण्डल में जब जो रहता है, वा इसके जिस मण्डल को जब

जो छोड़ता है, ब्रह्माण्ड के भी उसी मण्डल में वह तब रहता है वा ब्रह्माण्ड के भी उसी मण्डल को वह तब छोड़ता है। इसलिए पिण्ड के सब मण्डलों को जो सुरत वा चेतन-वृत्ति पार करेगी, तो बाह्य सृष्टि के भी सब मण्डलों को वह पार कर जाएगी ।

(४१) किसी भी मण्डल का बनना तबतक असम्भव है, जबतक उसका केन्द्र स्थापित न हो ।

(४२) संख्या ३९ में सृष्टि के कथित पाँच मण्डलों के पाँच केन्द्र अवश्य हैं।

(४३) कैवल्य मण्डल का केन्द्र स्वयं परम प्रभु सर्वेश्वर हैं। महाकारण का केन्द्र कैवल्य और महाकारण की सन्धि है, कारण का केन्द्र महाकारण और कारण की सन्धि है, सूक्ष्म का केन्द्र कारण और सूक्ष्म की सन्धि है और स्थूल का केन्द्र सूक्ष्म और स्थूल की सन्धि है।

(४४) केन्द्र से जब सृष्टि के लिए कम्प की धार प्रवाहित होती है, तभी सृष्टि होती है और प्रवाह का सहचर शब्द अवश्य होता है; अतएव संख्या ३९ में कथित पाँचो मण्डलों के केन्द्रों से उत्थित केन्द्रीय शब्द अवश्य हैं। कथित पाँचो मण्डलों के केन्द्रीय ध्वन्यात्मक सब शब्दों के मुँह वा प्रवाह—ओर ऊपर से नीचे को है। इनमें से प्रत्येक, सुरत को अपने-अपने उद्‌गम-स्थान पर आकर्षण करने का गुण रखता है। सार-शब्द वा निर्मायिक शब्द परम प्रभु सर्वेश्वर तक आकर्षण करने का गुण रखता है और वर्णित दूसरे-दूसरे शब्द, जिन्हें मायावी कह सकते हैं, अपने से ऊँचे दर्जे के शब्दों से, ध्यान लगानेवाले को मिलाते हैं। इनका सहारा लिए बिना सारशब्द का पाना असम्भव है। यदि कहा जाय कि सारशब्द मालिक के बुलाने का पैगाम देता है, तो उसके साथ ही यही कहना उचित है कि इसके अतिरिक्त दूसरे सभी केन्द्रीय शब्दों में से प्रत्येक शब्द अपने से ऊँचे दर्जे के शब्दों को पकड़ा देता है ।

(४५) ऊपर का शब्द नीचे दूर तक पहुँचता है और सूक्ष्म अपने से स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है तथा सूक्ष्म धार, स्थूल धार से लम्बी होती है। इन कारणों से प्रत्येक निचले मण्डल

के केन्द्र पर से उसके ऊपर के मण्डल के केन्द्रीय शब्द का ग्रहण होना अंकगणित के हिसाब के सदृश ध्रुव निश्चित है। ऊपर कथित शब्दों के अभ्यास से सुरत का नीचे गिरना नहीं हो सकता है।

(४६) उपनिषदों में और भारती सन्तवाणी में नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग करने की विधि इसी हेतु से है कि संख्या ४५ में वर्णित केन्द्रीय शब्दों को ग्रहण करते हुए और शब्द के आकर्षण से खिंचते हुए सृष्टि के सब मण्डलों को पार कर सर्वेश्वर को प्रत्यक्ष पाया जाए।

(४७) प्रकृति को भी अनाद्या कहा गया है, सो इसलिए नहीं कि परम प्रभु सर्वेश्वर की तरह यह भी उत्पत्तिहीन है; परन्तु इसलिए कि इसकी उत्पत्ति के काल और स्थान नहीं हैं; क्योंकि इसके प्रथम नहीं; परन्तु इसके होने पर ही काल और स्थान वा देश बन सकते हैं। यह परम प्रभु के मौज से परम प्रभु में ही प्रकट हुई, अतएव परम प्रभु में ही इसका आदि है और परम प्रभु देश-कालातीत हैं और वे अनादि के भी आदि कहलाते हैं। प्रकृति को अनादि सान्त भी कहते हैं।

(४८) पिण्ड अर्थात् शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

(४९) स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण; ये चारो क्षेत्र वा शरीर जड़ हैं। इनसे आवरणित रहने पर परम प्रभु सर्वेश्वर का वा निज आत्मस्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है।

(५०) कैवल्य शरीर वा क्षेत्र चेतन है। यह परम प्रभु सर्वेश्वर का अत्यन्त निकटवर्ती है अर्थात् इसके परे सर्वेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इसके सहित रहने पर परम प्रभु सर्वेश्वर के तथा निज आत्मस्वरूप के अपरोक्ष ज्ञान का होना परम सम्भव है; और आत्मा को अपना और परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष ज्ञान हो, इसमें संशय करने का कारण ही नहीं है।

(५१) स्थूल के फैलाव से सूक्ष्म का फैलाव अधिक होता है। अनादि-अनन्तस्वरूपी से बढ़कर अधिक फैलाव और किसी का होना असम्भव है। इसलिए यह सबसे अधिक सूक्ष्म है। स्थूल यन्त्र से सूक्ष्म

तत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता है। बाहर की और भीतर की सब इन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुँह, लिंग, गुदा; ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और आँख, कान, नाक, चमड़ा, जीभ; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर की इन्द्रियाँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; ये चार भीतर की इन्द्रियाँ हैं।), जिनके द्वारा बाहर वा भीतर में कुछ किया जा सकता है, उस अनादि-अनन्तस्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर से स्थूल और अत्यन्त स्थूल हैं; इनसे वे ग्रहण होने योग्य कदापि नहीं। इन्द्रिय-मण्डल तथा जड़ प्रकृति-मण्डल में रहते हुए उनको प्रत्यक्ष रूप से जानना सम्भव नहीं है। अतएव अपने को इनसे आगे पहुँचाकर उनको प्रत्यक्ष पाना होगा। इस कारण परम प्रभु सर्वेश्वर को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने के लिए अपने शरीर के बाहर का कोई साधन करना व्यर्थ है। बाहरी साधन से जड़ात्मक आवरणों वा शरीरों को पार कर कैवल्य दशा को प्राप्त करना अत्यन्त असम्भव है और शरीर के अंतर-ही-अंतर चलने से आवरणों का पार करना पूर्ण सम्भव है। इसके लिए जाग्रत और स्वप्न-अवस्थाओं की स्थितियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह कहना कि परम प्रभु सर्वेश्वर सर्वव्यापक हैं, अतः वे सदा प्राप्त ही हैं, उनको प्राप्त करने के लिए बाहर वा अंतर यात्रा करनी अयुक्त है, और यह भी कहना कि परम प्रभु सर्वेश्वर अपनी किरणों से सर्वव्यापक हैं, पर अपने निज स्वरूप से एकदेशीय ही हैं, इसलिए उन तक यात्रा करनी है; ये दोनों ही कथन ऊपर वर्णित कारणों से अयुक्त और व्यर्थ हैं। एक को तो प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं है, वह मन-मोदक से भूख बुझाता है और दूसरा यह नहीं ख्याल करता कि एकदेशीय वा परिमित स्वरूपवाले की किरणों का मण्डल भी परिमित ही होगा। वह किसी भी तरह अनादि-अनन्तस्वरूपी नहीं हो सकता। एक अनादि-अनन्तस्वरूपी की स्थिति अवश्य है, यह बुद्धि में अत्यन्त थिर है। अपरिमित पर परिमित शासन करे, यह सम्भव नहीं। परम प्रभु सर्वेश्वर को अनादि-अनन्तस्वरूपी वा अपरिमित ही अवश्य मानना पड़ेगा। उनको अपरोक्षरूप से प्राप्त करने के लिए क्यों अंतर में यात्रा करनी है, इसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

(५२) अंतर में आवरणों से छूटते हुए चलना परम प्रभु सर्वेश्वर से मिलने के लिए चलना है। यह काम परम प्रभु सर्वेश्वर की निज भक्ति है या यह पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करने का अव्यर्थ साधन है। इस अन्तर के साधन को आन्तरिक सत्संग भी कहते हैं।

(५३) ऊपर कही गई बातों के साथ भक्ति के विषय की अन्य बातों के श्रवण और मनन की अत्यन्त आवश्यकता है, अतएव इसके लिए बाहर में सत्संग करना परम आवश्यक है।

(५४) अन्तर साधन की युक्ति और साधन में सहायता सद्गुरु की सेवा करके प्राप्त करनी चाहिये और उनकी बतायी हुई युक्ति से नित्य एवं नियमित रूप से अभ्यास करना परम आवश्यक है।

(५५) जाग्रत से स्वप्न-अवस्था में जाने में अन्तर-ही-अन्तर स्वाभाविक चाल होती है और इस चाल के समय मन की चिन्ताएँ छूटती हैं तथा विचित्र चैन-सा मालूम होता है। अतएव चिन्ता को त्यागने से अर्थात् मन को एकाग्र करने से वा मन को एकविन्दुता प्राप्त होने से अन्तर-ही-अन्तर चलना तथा विचित्र चैन का मिलना पूर्ण सम्भव है ।

है कुछ रहनि गहनि की बाता । बैठा रहे चला पुनि जाता ॥

(कबीर साहब)

बैठे ने रास्ता काटा । चलते ने बाट न पाई ॥

(राधास्वामी साहब)

(५६) किसी चीज का किसी ओर से सिमटाव होने पर उसकी गति उस ओर की विपरीत ओर को स्वाभाविक ही हो जाती है। स्थूल मण्डल से मन का सिमटाव होकर जब मन एकविन्दुता प्राप्त करेगा, तब स्थूल मण्डल के विपरीत सूक्ष्म मण्डल में उसकी गति अवश्य हो जाएगी।

(५७) दूध में घी की तरह मन में चेतनवृत्ति वा सुरत है। मन के चलने से सुरत भी चलेगी। मन सूक्ष्म जड़ है। वह जड़ात्मक कारण मण्डल से ऊपर नहीं जा सकता। यहाँ तक ही मन के संग सुरत का चलना हो सकता है। इसके आगे मन का संग छोड़कर सुरत की गति हो सकेगी; क्योंकि जड़ात्मक मूल प्रकृति-मण्डल के

ऊपर में इसका निज मण्डल है, जहाँ से यह आयी है।

(५८) संख्या ३५ में सर्वेश्वर के ध्वन्यात्मक नाम का वर्णन हुआ है। ध्वन्यात्मक अनाहत आदिशब्द परम प्रभु सर्वेश्वर का निज नाम वा जाति नाम वा उनके स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान करा देनेवाला नाम है और जिन वर्णात्मक शब्दों से इस ध्वन्यात्मक नाम को और परम प्रभु सर्वेश्वर को लोग पुकारते हैं, उन सब वर्णात्मक शब्दों से उपर्युक्त ध्वन्यात्मक नाम का तथा परम प्रभु सर्वेश्वर का गुण-वर्णन होता है। इसलिए उन वर्णात्मक शब्दों को परम प्रभु सर्वेश्वर का सिफाती व गुण-प्रकटकारी वा गुण-प्रकाशक नाम कहते हैं। इन नामों से परम प्रभु सर्वेश्वर की तथा उनके निज नाम की स्थिति और केवल गुण व्यक्त होते हैं; परन्तु उनका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है।

(५९) सृष्टि के जिस मण्डल में जो रहता है, उसके लिए प्रथम उसी मण्डल के तत्त्व का अवलम्ब ग्रहण कर सकना स्वभावानुकूल होता है। स्थूल मण्डल के निवासियों को प्रथम स्थूल का ही अवलम्ब लेना स्वभावानुकूल होने के कारण सरल होगा। अतएव मन के सिमटाव के लिए प्रथम परम प्रभु सर्वेश्वर के किसी वर्णात्मक नाम के मानस जप का तथा परम प्रभु सर्वेश्वर के किसी उत्तम स्थूल विभूति-रूप के मानस-ध्यान का अवलम्ब लेकर मन के सिमटाव का अभ्यास करना चाहिए। परम प्रभु सर्वेश्वर सारे प्रकृति-मण्डल और विश्व-ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत-व्यापक हैं। सृष्टि के सब तेजवान, विभूतिवान और उत्तम धर्मवान उनकी विभूतियाँ हैं। उपर्युक्त अभ्यास से मन को समेट में रखने की कुछ शक्ति प्राप्त करके सूक्ष्मता में प्रवेश करने के लिए सूक्ष्म अवलम्ब को ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिये। सूक्ष्म अवलम्ब विन्दु है। विन्दु को ही परम प्रभु सर्वेश्वर का अणु से भी अणु रूप कहते हैं। परिमाण-शून्य, नहीं विभाजित होनेवाला चिह्न को विन्दु कहते हैं। इसको यथार्थतः बाहर में बाल की नोक से भी चिह्नित करना असम्भव है। इसलिए बाहर में कुछ अंकित करके और उसे देखकर इसका मानस ध्यान करना भी असम्भव है। इसका अभ्यास अंतर में

दृष्टियोग करने से होता है। दृष्टियोग में डीम और पुतलियों को उलटाना और किसी प्रकार इनपर जोर लगाना अनावश्यक है। ऐसा करने से आँखों में रोग होते हैं। दृष्टि, देखने की शक्ति को कहते हैं। दोनों आँखों की दृष्टियों को मिलाकर मिलन-स्थल पर मन को टिकाकर देखने से एकविन्दुता प्राप्त होती है; इसको दृष्टियोग कहते हैं। इस अभ्यास से सूक्ष्म वा दिव्य दृष्टि खुल जाती है। मन की एकविन्दुता प्राप्त रहने की अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म मण्डलों के सन्धि-विन्दु वा स्थूल मण्डल के केन्द्र-विन्दु से उत्थित नाद वा अनहद ध्वन्यात्मक शब्द, सुरत को ग्रहण होना पूर्ण सम्भव है; क्योंकि सूक्ष्मता में स्थिति रहने के कारण सूक्ष्म नाद का ग्रहण होना असम्भव नहीं है। शब्द में अपने उद्गम-स्थान पर सुरत को आकर्षण करने का गुण रहने के कारण, इस शब्द के मिल जाने पर शब्द-से-शब्द में सुरत खिंचती हुई चलती-चलती शब्दातीत पद (परम प्रभु सर्वेश्वर) तक पहुँच जाएगी। इसके लिए सद्गुरु की सेवा, उनके सत्संग, उनकी कृपा और अतिशय ध्यानाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है।

(६०) दृष्टियोग बिना ही शब्दयोग करने की विधि यद्यपि उपनिषदों और भारती सन्तवाणी में नहीं है, तथापि सम्भव है कि बिना दृष्टियेाग के ही यदि कोई सुरत-शब्द-योग का अत्यन्त अभ्यास करे, तो कभी-न-कभी स्थूल मण्डल का केन्द्रीय शब्द उससे पकड़ा जा सके और तब उस अभ्यासी के आगे का काम यथोचित होने लगे। इसका कारण यह है कि अन्तर के शब्द में ध्यान लगाने से यही ज्ञात होता है कि सुनने में आनेवाले सब शब्द ऊपर की ही ओर से आ रहे हैं, नीचे की ओर से नहीं और वह केन्द्रीय शब्द भी ऊपर की ही ओर से प्रवाहित होता है। शब्द-ध्यान करने से मन की चंचलता अवश्य छूटती है। मन की चंचलता दूर होने पर मन सूक्ष्मता में प्रवेश करता है। सूक्ष्मता में प्रवेश किया हुआ मन उस केन्द्रीय सूक्ष्म नाद को ग्रहण करे, यह आश्चर्य नहीं; परन्तु उपनिषदों की और भारती सन्तवाणी की विधि को ही विशेष उत्तम जानना चाहिये। शब्द की डगर पर चढ़े हुए की

दुर्गति और अधोगति असम्भव है। झूठ, चोरी, नशा, हिंसा तथा व्यभिचार; इन पापों से नहीं बचनेवाले को वर्णित साधनाओं में सफलता प्राप्त करना भी असम्भव ही है। नीचे के मण्डलों के शब्दों को धारण करते हुए तथा उनसे आगे बढ़ते हुए अन्त में आदिनाद वा आदिशब्द या सारशब्द का प्राप्त करना, पुनः उसके आकर्षण से उसके केन्द्र में पहुँचकर शब्दातीत पद के पाने की विधि ही उपनिषदों और भारती सन्तवाणी से जानने में आती है तथा यह विधि युक्ति-युक्त भी है, इसलिए इससे अन्य विधि शब्दातीत अर्थात् अनाम पद तक पहुँचने की कोई और हो सकती है, मानने-योग्य नहीं है और अनाम तक पहुँचे बिना परम कल्याण नहीं।

(६१) वर्णित साधनों से यह जानने में साफ-साफ आ जाता है कि पहले स्थूल सगुण रूप की उपासना की विधि हुई, फिर सूक्ष्म सगुण रूप की उपासना की विधि हुई, फिर सूक्ष्म सगुण अरूप की उपासना की विधि और अन्त में निर्गुण-निराकार की उपासना की विधि हुई।

(६२) मानस जप और मानस ध्यान स्थूल सगुण रूप-उपासना है, एकविन्दुता वा अणु से भी अणुरूप प्राप्त करने का अभ्यास सूक्ष्म सगुण रूप-उपासना है, सारशब्द के अतिरिक्त दूसरे सब अनहद नादों का ध्यान सूक्ष्म, कारण और महाकारण सगुण अरूप-उपासना है और सारशब्द का ध्यान निर्गुण निराकार-उपासना है। सभी उपासनाओं की यहाँ समाप्ति है। उपासनाओं को सम्पूर्णतः समाप्त किये बिना शब्दातीत पद (अनाम) तक अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर तक की पहुँच प्राप्त कर परम मोक्ष का प्राप्त करना अर्थात् अपना परम कल्याण बनाना पूर्ण असम्भव है।

(६३) निःशब्द अथवा अनाम से शब्द अथवा नाम की उत्पत्ति हुई है, इसके अर्थात् नाम के ग्रहण से इसके आकर्षण में पड़कर, इससे आकर्षित हो निःशब्द वा शब्दातीत वा अनाम तक पहुँचना पूर्ण सम्भव है।

(६४) अनाम के ऊपर कुछ और का मानना वा अनाम के

नीचे रचना के किसी मण्डल में अशब्द की स्थिति मानना बुद्धि-विपरीत है।

(६५) उपनिषदों में शब्दातीत पद को ही परम पद कहा गया है, और श्रीमद्भगवद्गीता में क्षेत्रज्ञ कहकर जिस तत्त्व को जनाया गया है, उससे विशेष कोई और तत्त्व नहीं हो सकता है। इसलिए उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता में बताये हुए सर्वोच्च पद से भी और कोई विशेष पद है, ऐसा मानना व्यर्थ है। जो ऐसा नहीं समझते और नहीं विश्वास करते, उनको चाहिए कि शब्दातीत पद के नीचे रचना के किसी मण्डल में निःशब्द का होना तथा क्षेत्रज्ञ से विशेष और किसी तत्त्व की स्थिति को संसार के सामने विचार से प्रमाणित कर दें; परन्तु ऐसा कर सकना असम्भव है। विचार से सिद्ध और प्रमाणित किये बिना ऐसा कहना कि मेरे गुरु ने उपनिषदादि में वर्णित पद से ऊँचे पद को बतलाया है, ठीक नहीं; क्योंकि इस तरह दूसरे भी कहेंगे कि मैं आपसे भी ऊँचा पद जानता हूँ।

(६६) इसमें सन्देह नहीं कि केवल एक सारशब्द वा आदिशब्द ही अन्तिम पद अर्थात् शब्दातीत पद तक पहुँचाता है; परन्तु इससे यह नहीं जानना चाहिए कि इसके अतिरिक्त दूसरे सब मायिक शब्दों में के शब्दों का ध्यान करना ही नहीं चाहिये; क्योंकि ये दूसरे शब्द मायावी हैं, इनके ध्यान से अभ्यासी अत्यन्त अधोगति को प्राप्त होगा। सारशब्द के अतिरिक्त अन्य किसी भी शब्द के ध्यान की उपर्युक्त निषेधात्मक उक्ति उपनिषद् और भारती सन्तवाणी के अनुकूल नहीं है और न युक्ति-युक्त ही है, अतएव मानने-योग्य नहीं है। संख्या ४४, ४५, ४६, ५९ और ६० की वर्णित बातें इस विषय का अच्छी तरह बोध दिलाती हैं।

(६७) दृष्टि-योग से शब्द-योग आसान है। यह वर्णन हो चुका है कि एकविन्दुता प्राप्त करने तक के लिए दृष्टि-योग अवश्य होना चाहिए; परन्तु और विशेष दृष्टि-योग कर तब शब्द-अभ्यास करने का ख्याल रखना आवश्यक है; क्योंकि इसमें विशेष काल तक कठिन मार्ग पर चलते रहना है।

(६८) एकविन्दुता प्राप्त किये हुए रहकर शब्द में सुरत लगा देना उचित है। दोनों से एक ही ओर को खिंचाव होगा। शब्द में

विशेष रस प्राप्त होने के कारण पीछे विन्दु छूट जायगा और केवल शब्द-ही-शब्द में सुरत लग जायगी, तो कोई हानि नहीं, यही तो होना ही चाहिये।

(६९) केवल दृष्टि-योग से जड़ात्मक प्रकृति के किसी मण्डल के घेरे में पहुँचकर दूसरे किसी शब्द के अभ्यास का सहारा लिए बिना वहाँ ही सारशब्द के पकड़ने का ख्याल युक्ति-युक्त नहीं होने के कारण मानने-योग्य नहीं है; क्योंकि जड़ का कोई भी आवरण सार धार अर्थात् निर्मल चेतन-धार का अपरोक्ष ज्ञान होने देने में अवश्य ही बाधक है। जड़ात्मक मूल प्रकृति के बनने के पूर्व ही आदिशब्द अर्थात् सारशब्द का उदय हुआ है, इसलिए यह शब्द-रूप धार, निर्मल चेतन धार है।

(७०) विविध सुन्दर दृश्यों से सजे हुए मण्डप में मीठे सुरीले स्वर के गानों और बाजाओं को संलग्न होकर सुनते रहने पर भी मण्डप के दृश्यों का गौण रूप में भी देखना होता ही है। उसी प्रकार जड़ात्मक दृश्य-मण्डल के अंदर शब्द-ध्यान में रत होते हुए भी वहाँ के दृश्य अवश्य देखे जाएँगे। इसीलिए कहा गया है कि 'ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः'। केवल शब्द-ध्यान भी ज्योति-मण्डल में प्रवेश करा दे, इसमें आश्चर्य नहीं। ज्योति न मिले, तो उतनी हानि नहीं, जितनी हानि कि शब्द के नहीं मिलने से।

(७१) सारशब्द अलौकिक शब्द है। परम अलौकिक से ही इसका उदय है। विश्व-ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड आदि की रचना के पूर्व ही इसका उदय हुआ है। इसलिए वर्णात्मक शब्द, जो पिण्ड के बिना हो नहीं सकता अर्थात् मनुष्य-पिण्ड ही जिसके बनने का कारण है वा यों भी कहा जा सकता है कि लौकिक वस्तु ही जिसके बनने का कारण है, उसमें सारशब्द की नकल हो सके, कदापि सम्भव नहीं है। सारशब्द को जिन सब वर्णात्मक शब्दों के द्वारा जनाया जाता है, उन शब्दों को बोलने से जैसी-जैसी आवाजें सुनने में आती हैं, सारशब्द उनमें से किसी की भी तरह सुनने में लगे, यह भी कदापि सम्भव नहीं है। राधास्वामीजी के ये दोहे हैं कि–

अल्लाहू त्रिकुटी लखा, जाय लखा हा सुन्न ।
शब्द अनाहू पाइया, भँवर गुफा की धुन्न ॥
हक्क हक्क सतनाम धुन, पाई चढ़ सच खण्ड ।
सन्त फकर बोली युगल, पद दोउ एक अखण्ड ॥

राधास्वामी-मत में त्रिकुटी का शब्द 'ओं,' सुन्न का 'ररं' भँवर गुफा का 'सोहं' और सतलोक अर्थात् सच-खण्ड का 'सतनाम' मानते हैं; और उपर्युक्त दोहों में राधास्वामीजी बताते हैं कि फकर अर्थात् मुसलमान फकीर त्रिकुटी का शब्द 'अल्लाहू,' सुन्न का 'हा', भँवर गुफा का 'अनाहू' और सतलोक का 'हक्क' 'हक्क' मानते हैं। उपर्युक्त दोहों के अर्थ को समझने पर यह अवश्य जानने में आता है कि सारशब्द की तो बात ही क्या, उसके नीचे के शब्दों की भी ठीक-ठीक नकल मनुष्य की भाषा में हो नहीं सकती। एक सतलोक वा सचखण्ड के शब्द को 'सतनाम' कहता है और दूसरा उसी को 'हक्क-हक्क' कहता है, और पहला व्यक्ति दूसरे के कहे को ठीक मानता है, तो उसको यह अवसर नहीं है कि तीसरा जो उसी को 'ओं' वा राम कहता है, उससे वह कहे कि 'ओं' और 'राम' नीचे दर्जे के शब्द हैं, सतलोक के नहीं। अतएव किसी एक वर्णात्मक शब्द को यह कहना कि यही खास शब्द सारशब्द की ठीक-ठीक नकल है, अत्यन्त अयुक्त है और विश्वास करने योग्य नहीं है।

(७२) बीन, वेणु (मुरली), नफीरी, मृदंग, मर्दल, नगाड़ा, मजीरा, सिंगी, सितार, सारंगी, बादल की गरज और सिंह का गर्जन इत्यादि स्थूल लौकिक शब्दों में से कई-कई शब्दों का, अन्तर के एक-एक स्थान में वर्णन किसी-किसी संतवाणी में पाया जाता है। ये सबमें एक ही तरह वर्णन किये हुए नहीं पाये जाते हैं। जैसे एक संत की वाणी में मुरली का शब्द नीचे के स्थान में वर्णन है, तो दूसरे संत की वाणी में यही शब्द ऊँचे के स्थान में वर्णन किया हुआ मिलता है; जैसे–

भँवर गुफा में सोहं राजे, मुरली अधिक बजाया है ।

(कबीर-शब्दावली, भाग २)

'गगन द्वार दीसै एक तारा । अनहद नाद सुनै झनकारा ॥' के नीचे की आठ चौपाइयों के बाद और–**'जैसे मन्दिर दीपक बारा । ऐसे जोति होत उजियारा ॥'** के ऊपर की तीन चौपाइयों के ऊपर में अर्थात् दीपक-ज्योति के स्थान के प्रथम ही और तारा, बिजली और उससे अधिक-अधिक प्रकाश के और आगे पाँच तत्त्व के रंग के स्थान पर ही यानी आज्ञा-चक्र के प्रकाश-भाग के ऊपर की सीमा में ही वा सहस्रदलकमल की निचली सीमा के पास के स्थान पर ही–

'स्याही सुरख सफेदी होई । जरद जाति जंगाली सोई ॥
तल्ली ताल तरंग बखानी । मोहन मुरली बजै सुहानी ॥'

(घटरामायण)

ऐसे वर्णन को पढ़कर किसी संतवाणी को भूल वा गलत कहना ठीक नहीं है और इसीलिए यह भी कहना ठीक नहीं है कि सब सन्तों का 'एक मत' नहीं है तथा और अधिक यह कहना अत्यन्त अनिष्टकर है कि जब सन्तों की वाणियों में इन शब्दों की निसबत इस तरह बे-मेल है, तो सार-शब्द के अतिरिक्त इन मायावी शब्दों का अभ्यास करना ही नहीं चाहिये। वृक्ष के सब विस्तार की स्थिति उसके अंकुर में और अंकुर की स्थिति उसके बीज में अवश्य ही है, इसी तरह स्थूल जगत् के सारे प्रसार की स्थिति सूक्ष्म जगत् में और सूक्ष्म जगत् के सब प्रसार की स्थिति कारण में मानना ही पड़ता है। स्थूल मण्डल की ध्वनियों की स्थिति सूक्ष्म में और सूक्ष्म की कारण में है; ऐसा विश्वास करना युक्तियुक्त है। अतएव मुरली-ध्वनि वा कोई ध्वनि नीचे के स्थानों में भी और वे ही ध्वनियाँ ऊपर के स्थानों में भी जानी जायँ, असम्भव नहीं है। एक ने एक स्थान के मुरली-नाद का वर्णन किया, तो दूसरे ने उसी स्थान के किसी दूसरे नाद का वर्णन किया, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं। शब्द-अभ्यास करके ही दोनों पहुँचे उसी एक स्थान पर, ऐसा मानना कोई हर्ज नहीं। इस तरह समझ लेने पर न किसी सन्त की शब्द-वर्णन-विषयक वाणी गलत कही जा सकती है और न यह कहा जा सकता है कि दोनों का मत पृथक्-पृथक् है और तीसरी बात यह है कि केवल सार-शब्द का ही

ध्यान करना और उसके नीचे के मायावी शब्दों का नहीं, बिल्कुल असम्भव है; क्योंकि यह बात न युक्तियुक्त है और न किसी सन्तवाणी के अनुकूल है। नीचे के मायावी शब्दों के अभ्यास-बिना सारशब्द का ग्रहण कदापि नहीं होगा; इसपर संख्या ६६ में लिखा जा चुका है।

(७३) मृदंग, मृदल और मुरली आदि की मायिक ध्वनियों में-से किसी को अन्तर के किसी एक ही स्थान की निज ध्वनि नहीं मानी जा सकती है। इसलिए उपनिषदों में और दो-एक के अतिरिक्त सब भारती सन्तवाणी में भी अन्तर में मिलनेवाली केवल ध्वनियों के नाम पाये जाते हैं; परन्तु यह नहीं पाया जाता है कि अन्तर के अमुक स्थान की अमुक-अमुक निज ध्वनियाँ हैं और साथ-ही-साथ शब्दातीत पद का वर्णन उन सबमें अवश्य ही है । इस प्रकार के वर्णन को पढ़कर यह कह देना कि वर्णन करनेवाले को नादानुसन्धान (सुरत-शब्द-योग) का पूरा पता नहीं था, अयुक्त है और नहीं मानने-योग्य है।

(७४) स्थूल मण्डल का एक शब्द जितना मीठा और सुरीला होगा, सूक्ष्म मण्डल का वही शब्द उससे विशेष मीठा और सुरीला होगा; इसी तरह कारण और महाकारण मण्डलों में (जहाँ तक शब्द में विविधता हो सकती है) उस शब्द की मिठास और सुरीलापन उत्तरोत्तर अधिक होंगे। कैवल्य पद में शब्द की विविधता नहीं मानी जा सकती है। उसमें केवल एक ही निरुपाधिक आदिशब्द मानना युक्तियुक्त है; क्योंकि कैवल्य में विविधता असम्भव है ।

(७५) शब्दातीत पद का मानना तथा इस पद तक पहुँचने के हेतु वर्णात्मक शब्द का जप, मानस-ध्यान, दृष्टियोग और नादानुसंधान; इन चारो प्रकार के साधनों का मानना संतवाणियों में मिलता है। अतएव सन्तमत में वर्णित चारो युक्तियुक्त साधनों की विधि अवश्य ही माननी पड़ती है।

(७६) नादानुसंधान में पूर्णता के बिना परम प्रभु सर्वेश्वर का मिलना वा पूर्ण आत्मज्ञान होना असम्भव है ।

(७७) बिना गुरु-भक्ति के सुरत-शब्द-योग द्वारा परम प्रभु

सर्वेश्वर की भक्ति में पूर्ण होकर अपना परम कल्याण बना लेना असम्भव है।

कबीर पूरे गुरु बिना, पूरा शिष्य न होय।
गुरु लोभी शिष लालची, दूनी दाझन होय ॥

(कबीर साहब)

(७८) जब कभी पूरे और सच्चे सद्गुरु मिलेंगे, तभी उनके सहारे अपना परम कल्याण बनाने का काम समाप्त होगा।

(७९) पूरे और सच्चे सद्गुरु का मिलना परम प्रभु सर्वेश्वर के मिलने के तुल्य ही है।

(८०) जीवन-काल में जिनकी सुरत सारे आवरणों को पार कर शब्दातीत पद में समाधि-समय लीन होती है और पिंड में बरतने के समय उन्मुनी रहनी में रहकर सारशब्द में लगी रहती है, ऐसे जीवन-मुक्त परम सन्त पुरुष पूरे और सच्चे सद्गुरु कहे जाते हैं ।

(८१) परम प्रभु सर्वेश्वर को पाने की विद्या के अतिरिक्त जितनी विद्याएँ हैं, उन सबसे उतना लाभ नहीं, जितना की परम प्रभु के मिलने से। परम प्रभु से मिलने की शिक्षा की थोड़ी-सी बात के तुल्य लाभदायक दूसरी-दूसरी शिक्षाओं की अनेकानेक बातें (लाभदायक) नहीं हो सकती हैं। इसलिए इस विद्या के सिखलानेवाले गुरु से बढ़कर उपकारी दूसरे कोई गुरु नहीं हो सकते और इसीलिए किसी दूसरे गुरु का दर्जा, इनके दर्जे के तुल्य नहीं हो सकता है। केवल आधिभौतिक विद्या के प्रकाण्ड से भी प्रकाण्ड वा अत्यन्त धुरन्धर विद्वान के अन्तर के आवरण टूट गये हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है और न इनके पास कोई ऐसा यंत्र है, जिससे अन्तर का आवरण टूटे वा कटे; परन्तु सच्चे और पूरे सद्गुरु में ये बातें आवश्यक हैं। सच्चे और पूरे सद्गुरु का अंतर-पट टूटने की सद्युक्ति का किंचित् मात्र भी संकेत संसार की सब विद्याओं से विशेष लाभदायक है।

(८२) पूरे और सच्चे सद्गुरु की पहचान अत्यन्त दुर्लभ है। फिर भी जो शुद्धाचरण रखते हैं, जो नित्य नियमित रूप से नादानुसंधान का अभ्यास करते हैं और जो सन्तमत को अच्छी तरह

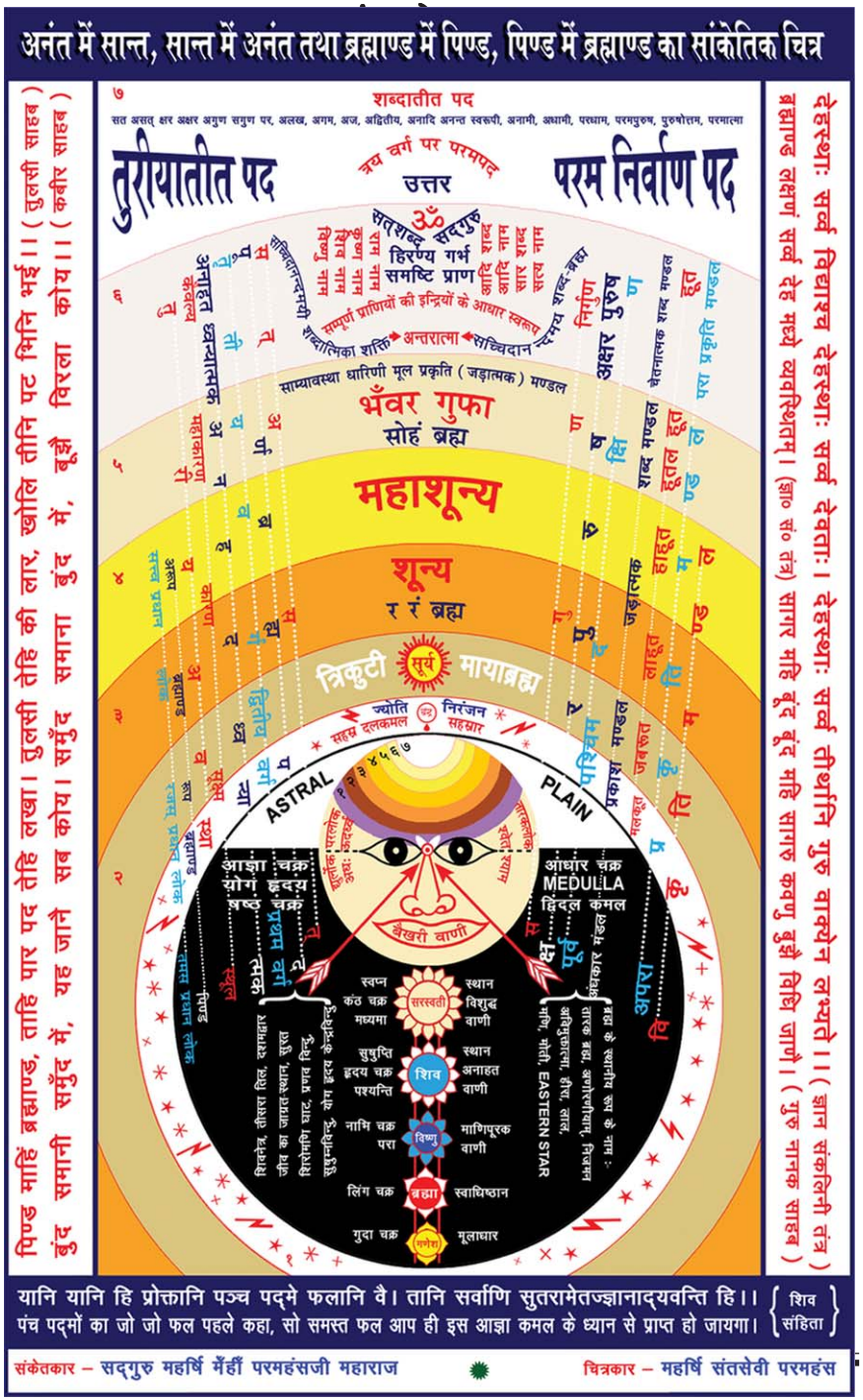

समझा सकते हैं, उनमें श्रद्धा रखनी और उनको गुरु धारण करना अनुचित नहीं। दूसरे-दूसरे गुण कितने भी अधिक हों; परन्तु यदि आचरण में शुद्धता नहीं पायी जाय, तो वह गुरु मानने योग्य नहीं। यदि ऐसे को पहले गुरु माना भी हो, तो उसका दुराचरण जान लेने पर उससे अलग रहना ही अच्छा है। उसकी जानकारी अच्छी होने पर भी आचरणहीनता के कारण उसका संग करना योग्य नहीं और गुणों की अपेक्षा गुरु के आचरण का प्रभाव शिष्यों पर अधिक पड़ता है और गुणों के सहित शुद्धाचरण का गुरु में रहना ही उसकी गरुता तथा गुरुता है, नहीं तो वह गरु (गाय, बैल) है। क्या शुद्धाचरण और क्या गुरु होने योग्य दूसरे-दूसरे गुण, किसी में भी कमी होने से वह झूठा गुरु है।

गुरु से ज्ञान जो लीजिये, शीश दीजिये दान ।
बहुतक भोंदू बहि गये, राखि जीव अभिमान ॥१॥
तन मन ताको दीजिये, जाके विषया नाहिं ।
आपा सबही डारिके, राखै साहब माहिं ॥२॥
झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार ।
द्वार न पावै शब्द का, भटकै बारम्बार ॥३॥

(कबीर साहब)

पूरे और सच्चे सद्गुरु को गुरु धारण करने का फल तो अपार है ही; परन्तु ऐसे गुरु का मिलना अति दुर्लभ है। ज्ञानवान, शुद्धाचारी तथा सुरत-शब्द के अभ्यासी पुरुष को गुरु धारण करने से शिष्य उस गुरु के संग से धीरे-धीरे गुरु के गुणों को लाभ करे, यह सम्भव है; क्योंकि संग से रंग लगता है और शिष्य के लिए वैसे गुरु की शुभकामना भी शिष्य को कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचाएगी; क्योंकि एक का मनोबल दूसरे पर कुछ प्रभाव डाले, यह भी संभव ही है। ज्ञात होता है कि उपर्युक्त संख्या २ की साखी और पारा ७७ में लिखित साखी, जो यह निर्णय कर देती है कि कैसे का शिष्य बनो और कैसे के हाथों में अपने को सौंपो, इसका रहस्य ऊपर कथित शिष्य के पक्ष में दोनों ही बातें लाभदायक हैं। जो केवल सुरत-शब्द का अभ्यास करे; किन्तु ज्ञान और शुद्धाचरण

की परवाह नहीं करे, ऐसे को गुरु धारण करना किसी तरह भला नहीं है। यदि कोई इस बात की परवाह नहीं करके किसी दुराचारी जानकार को ही गुरु धारण कर ले, तो ऊपर कथित गुरु से प्राप्त होने योग्य लाभों से वह वंचित रहेगा और केवल अपने से अपनी सँभाल करना उसके लिए अत्यन्त भीषण काम होगा। इस भीषण काम को कोई विशेष थिर बुद्धिवाला विद्वान कर भी ले, पर सर्वसाधारण के हेतु असम्भव-सा है। ये बातें प्रत्यक्ष हैं कि एक की गरमी दूसरे में समाती है तथा कोई अपने शरीर-बल से दूसरे के शरीर-बल को सहायता देकर और अपने बुद्धि-बल से दूसरे के बुद्धि-बल को सहायता देकर बढ़ा देते हैं, तब यदि कोई अपना पवित्रतापूर्ण तेज दूसरे के अन्दर देकर उसको पवित्र करे और अपने बढ़े हुए ध्यान-बल से किसी दूसरे के ध्यान-बल को जगावे और बढ़ावे, तो इसमें संशय करने का स्थान नहीं है। कल्याण-साधनांक, प्रथम-खण्ड, पृ० ४९९ में अमीर खुसरो का वचन है कि .....'सुनिये, मैंने भी उन महापुरुष जगद्गुरु भगवान श्री स्वामी रामानन्द का दर्शन किया है। अपने गुरु ख्वाजा साहब की तरफ से मैं तोहफए बेनजीर (अनुपम भेंट) लेकर पंचगंगा-घाट पर गया था। स्वामीजी ने दाद दी थी और मुझ पर जो मेह्र (कृपा) हुई थी, उससे फौरन मेरे दिल की सफाई हो गई थी और खुदा का नूर झलक गया था।' मण्डल- ब्राह्मणोपनिषद्, तृतीय ब्राह्मण में के, 'इत्युच्चरन्त्समालिंग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत्' ॥२॥ का अँग्रेजी अनुवाद K. Narayan Swami Aiyar (के० नारायण स्वामी अय्यर) ने इस प्रकार किया है–"Saying this, he the purusha of the sun] embraced his pupil and made him understand it." अर्थात्- 'इस प्रकार कहकर उसने (सूर्यमण्डल के पुरुष ने) अपने शिष्य को छाती से लगा लिया और उसको उस विषय का ज्ञान करा दिया।' और उसपर उन्होंने (उपर्युक्त अय्यरजी ने) पृष्ठ के नीचे में यह टिप्पणी भी लिख दी है कि "This is a reference to the secret way of emparting higher truth" अर्थात् 'उच्चतर सत्य (ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान) प्रदान करने की गुप्त विधि

का यह (अर्थात् छाती से लगाना) एक संकेत है।' [Thirty minor upanishads, Page 252 थर्टी (३०) माइनर उपनिषद्स, पृष्ठ २५२] ज्ञात होता है कि पूरे गुरु के पवित्र तेज से, उनके उत्तम ज्ञान से तथा उनके ध्यान-बल से शिष्यों को लाभ होता है। इसी बात की सत्यता के कारण बाबा देवी साहब की छपाई हुई घटरामायण में निम्नलिखित दोनों पद्यों को स्थान प्राप्त है। वे पद्य ये हैं–

मुर्शिदे कामिल से मिल सिद्क और सबूरी से तकी ।
जो तुझे देगा फहम शहरग के पाने के लिये ॥

अर्थात्–ऐ तकी! सच्चाई और (संसारी चीजों का लालच त्यागकर) सन्तोष धारण कर कामिल (पूरे) मुर्शिद (गुरु) से जाकर मिलो, जो तुझको शहरग (सुषुम्ना नाड़ी) पाने की समझ देगा।

यह पद्य विदित करता है कि भजन-भेद कैसे पुरुष से लेना चाहिये और दूसरा–

तुलसी बिना करम किसी मुर्शिद रसीदा के ।
राहे नजात दूर है उस पार देखना ॥

अर्थात्–तुलसी साहब कहते हैं कि किसी मुर्शिद रसीदा (पहुँचे हुए गुरु) के करम-बख्शिश (दया-दान) के बिना राहे नजात (मुक्ति का रास्ता) और उस पार का देखना दूर है।

यह पद्य तो साफ ही कह रहा है कि पूरे गुरु के दया-दान से ही उस पार का देखना होता है, अन्यथा नहीं। और वराहोपनिषद्, अ० २, श्लोक ७६ में है–

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥

अर्थात् सद्गुरु की कृपा के बिना विषय का त्याग दुर्लभ है। तत्त्वदर्शन (ब्रह्म-दर्शन) दुर्लभ है और सहजावस्था दुर्लभ है। इस प्रकार की दया का दान गुरु से प्राप्त करने के लिए उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया जाय, इसी में गुरु-सेवा की विशेष उपयोगिता ज्ञात होती है। भगवान बुद्ध की 'धम्मपद' नाम की पुस्तिका में गुरु-सेवा के लिए उनकी यह आज्ञा है; यथा–'मनुष्य जिससे बुद्ध का बताया हुआ धर्म सीखे, तो उसे उनकी परिश्रम से सेवा करनी चाहिये; जैसे ब्राह्मण यज्ञ-अग्नि की पूजा करता है।' (२६वाँ वचन; सं० २९२) सन्त चरणदासजी ने भी कहा है–

मेरा यह उपदेश हिये में धारियो ।
गुरु चरनन मन राखि सेव तन गारियो ॥
जो गुरु झिड़कैं लाख तो मुख नहिं मोड़ियो ।
गुरु से नेह लगाय सबन सों तोड़ियो ॥

(चरणदासजी की वाणी, भाग १, पृ० १० , अष्टपदी ४५, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

और बाबा देवी साहब ने भी घटरामायण में छपाया है–

यह राह मंजिल इश्क है, पर पहुँचना मुश्किल नहीं ।
मुश्किल कुशा है रोबरू, जिसने तुझे पंजा दिया ॥

अर्थात्–यह राह (मार्ग) और मंजिल (गन्तव्य स्थान) इश्क (प्रेम) है, पर पहुँचना कठिन नहीं है, मुश्किल कुशा (कठिनाई को मारनेवाला वा दूर करनेवाला) रोबरू (सामने) वह है, जिसने तुझे पंजा (भेद वा आज्ञा) दिया है।

यद्यपि संत-महात्मागण समदर्शी कहे जाते हैं, तथापि जैसे वर्षा का जल सब स्थानों पर एक तरह बरस जाने पर भी गहिरे गड़हे में ही विशेष जमा होकर टिका रहता है, वैसे ही संत-महात्मागण की कृपावृष्टि भी सब पर एक तरह की होती है; परन्तु उनके विशेष सेवक-रूप गहिरे गड़हे की ओर वह वेग से प्रवाहित होकर उसी में अधिक ठहरती है। संत-महात्मागण तो स्वयं सब पर सम रूप से अपनी कृपा-वृष्टि करते ही हैं, पर उनके सेवक अपनी सेवा से अपने को उनका कृपापात्र बना उनकी विशेष कृपा अपनी ओर खींच लेंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या? एक तो देनेवाले के दान की न परवाह करता है और न वह उसे लेने का पात्र ही ठीक है, दूसरा इसकी बहुत परवाह करता है और अत्यन्त यत्न से अपने को उस दान के लेने का पात्र बनाता है, तब पहले से दूसरे को विशेष लाभ क्यों न होगा? सन्त-महात्माओं की वाणियों में गुरु-सेवा की विधि का यही रहस्य है, ऐसा जानने में आता है।

(८३) किसी से कोई विद्या सिखनेवाले को सिखलानेवाले से नम्रता से रहने का तथा उनकी प्रेम-सहित कुछ सेवा करने का

ख्याल हृदय में स्वाभाविक ही उदय होता है, इसलिए गुरु-भक्ति स्वाभाविक है। गुरु-भक्ति के विरोध में कुछ कहना फजूल है। निःसन्देह अयोग्य गुरु की भक्ति को बुद्धिमान आप त्यागेंगे और दूसरे से भी इसका त्याग कराने की कोशिश करेंगे, यह भी स्वाभाविक ही है।

(८४) सत्संग, सदाचार, गुरु की सेवा और ध्यानाभ्यास; साधकों को इन चारो चीजों की अत्यन्त आवश्यकता है। संख्या ५३ में सत्संग का वर्णन है। संख्या ६० में वर्णित पंच पापों से बचने को सदाचार कहते हैं। गुरु की सेवा में उनकी आज्ञाओं का मानना मुख्य बात है और ध्यानाभ्यास के बारे में संख्या ५४, ५५, ५६, ५७ और ५९ में लिखा जा चुका है। सन्तमत में उपर्युक्त चारो चीजों के ग्रहण करने का अत्यन्त आग्रह है। इन चारो में मुख्यता गुरु-सेवा की है, जिसके सहारे उपर्युक्त बची हुई तीनों चीजें प्राप्त हो जाती हैं।

(८५) दुःखों से छूटने और परम शान्तिदायक सुख को प्राप्त करने के लिए जीवों के हृदय में स्वाभाविक प्रेरण है। इस प्रेरण के अनुकूल सुख को प्राप्त करा देने में सन्तमत की उपयोगिता है।

(८६) भिन्न-भिन्न इष्टों के माननेवाले के भिन्न-भिन्न इष्टदेव कहे जाते हैं। इन सब इष्टों के भिन्न-भिन्न नामरूप होने पर भी सबकी आत्मा अभिन्न ही है। भक्त जबतक अपने इष्ट के आत्मस्वरूप को प्राप्त न कर ले, तबतक उसकी भक्ति पूरी नहीं होती। किसी इष्टदेव के आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेने पर परम प्रभु सर्वेश्वर की प्राप्ति हो जाएगी, इसमें सन्देह नहीं। संख्या ८४ में वर्णित साधनों के द्वारा ही आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होगी। प्रत्येक इष्ट के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य और शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। जो उपासक अपने इष्ट के आत्मस्वरूप का निर्णय नहीं जानता और उसकी प्राप्ति का यत्न नहीं करता; परन्तु उसके केवल वर्णात्मक नाम और स्थूल रूप में फँसा रहता है, उसकी मुक्ति अर्थात् उसका परम कल्याण नहीं होगा।

(८७) नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) लड़कपन का खेल

नहीं है। इसका पूर्ण अभ्यास यम-नियम-हीन पुरुष से नहीं हो सकता है। स्थूल शरीर में उसके अन्दर के स्थूल कम्पों की ध्वनियाँ भी अवश्य ही हैं। केवल इन्हीं ध्वनियों के ध्यान को पूर्ण नादानुसंधान जानना और इसको (नादानुसंधान को) मोक्ष- साधन में अनावश्यक बताना बुद्धिमानी नहीं है, बल्कि ऐसा जानना और ऐसा बताना योग-विषयक ज्ञान की अपने में कमी दरसाना है। यम और नियमहीन पुरुष भी नादानुसंधान में कुशल हो सकता है, ऐसा मानना सन्तवाणी-विरुद्ध है और अयुक्त भी है।

(८८) सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (असंग्रह) को यम कहते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय (अध्यात्म-शास्त्र का पाठ करना) और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में चित्त लगाना) को नियम कहते हैं।

(८९) यम और नियम का जो सार है, संख्या ६० में वर्णित पाँच पापों से बचने का और गुरु की सेवा, सत्संग और ध्यानाभ्यास करने का वही सार है।

(९०) मस्तक, गरदन और धड़ को सीधा रखकर किसी आसन से देर तक बैठने का अभ्यास करना अवश्य ही चाहिये। दृढ़ आसन से देर तक बैठे रहने के बिना ध्यानाभ्यास नहीं हो सकता है।

(९१) आँखों को बन्द करके आँख के भीतर डीम को बिना उलटाये वा उसपर कुछ भी जोर लगाये बिना, ध्यानाभ्यास करना चाहिये; परन्तु नींद से अवश्य ही बचते रहना चाहिये।

(९२) ब्रह्ममुहूर्त्त में (पिछले पहर रात), दिन में स्नान करने के बाद तुरंत और सायंकाल, नित्य नियमित रूप से अवश्य ध्यानाभ्यास करना चाहिए। रात में सोने के समय लेटे-लेटे अभ्यास में मन लगाते हुए सो जाना चाहिये। काम करते समय भी मानस-जप वा मानस ध्यान करते रहना उत्तम है।

(९३) जबतक नादानुसंधान का अभ्यास करने की गुरु-आज्ञा न हो—केवल मानस जप, मानस-ध्यान और दृष्टि-योग के अभ्यास करने की गुरु-आज्ञा हो, तबतक दो ही बंद (आँख बन्द और

मुँह बन्द) लगाना चाहिये। नादानुसंधान करने की गुरु-आज्ञा मिलने पर आँख, कान और मुँह—तीनों बंद लगाना चाहिये।

(९४) केवल ध्यानाभ्यास से भी प्राण-स्पन्दन (हिलना) बंद हो जाएगा, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण का चिह्न यह है कि किसी बात को एकचित्त होकर वा ध्यान लगाकर सोचने के समय श्वास-प्रश्वास की गति कम हो जाती है। पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम करने का फल प्राण-स्पन्दन को बंद करना ही है; परन्तु यह क्रिया कठिन है। प्राण का स्पन्दन बन्द होने से सुरत का पूर्ण सिमटाव होता है। सिमटाव का फल संख्या ५६ में लिखा जा चुका है। बिना प्राणायाम किये ही ध्यानाभ्यास करना सुगम साधन का अभ्यास करना है। इसके आरम्भ में प्रत्याहार का अभ्यास करना होगा अर्थात् जिस देश में मन लगाना होगा, उससे मन जितनी बार हटेगा, उतनी बार मन को लौटा-लौटाकर उसमें लगाना होगा। इस अभ्यास से स्वाभाविक ही धारणा (मन का अल्प टिकाव उस देश पर) होगी। जब धारणा देर तक होगी, वही असली ध्यान होगा और संख्या ६० में वर्णित ध्वनि-धारों का ग्रहण ध्यान में होकर अंत में समाधि प्राप्त हो जाएगी। प्रत्याहार और धारणा में मन को दृष्टियोग का सहारा रहेगा। दृष्टियोग का वर्णन संख्या ५९ में हो चुका है।

(९५) जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में दृष्टि और श्वास चंचल रहते हैं, मन भी चंचल रहता है। सुषुप्ति अवस्था (गहरी नींद) में दृष्टि और मन की चंचलता नहीं रहती है, पर श्वास की गति बन्द नहीं होती है। इन स्वाभाविक बातों से जाना जाता है कि जब-जब दृष्टि चंचल है, मन भी चंचल है; जब दृष्टि में चंचलता नहीं है, तब मन की चंचलता जाती रहती है और श्वास की गति होती रहने पर भी दृष्टि का काम बन्द रहने के समय मन का काम भी बन्द हो जाता है। अतएव यह सिद्ध हो गया कि मन के निरोध के हेतु में दृष्टि-निरोध की विशेष मुख्यता है। मन और दृष्टि, दोनों सूक्ष्म हैं और श्वास स्थूल। इसलिए भी मन पर दृष्टि के प्रभाव का

श्वास के प्रभाव से अधिक होना अवश्य ही निश्चित है।

(९६) दृष्टि के चार भेद हैं—जाग्रत की दृष्टि, स्वप्न की दृष्टि, मानस दृष्टि और दिव्य दृष्टि। दृष्टि के पहले तीनों भेदों के निरोध होने से मनोनिरोध होगा और दिव्यदृष्टि खुल जाएगी। दिव्यदृष्टि में भी एकविन्दुता रहने पर मन की विशेष ऊर्ध्वगति होगी और मन सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद को प्राप्त कर उसमें लय हो जाएगा।

(९७) जब मन लय होगा, तब सुरत को मन का संग छूट जाएगा। मन-विहीन हो, शब्द-धारों से आकर्षित होती हुई निःशब्द में अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर में पहुँचकर वह भी लय हो जायगी। अन्तर-साधन की यहाँ पर इति हो गई। प्रभु मिल गये। काम समाप्त हुआ।

(९८) साधक को स्वावलम्बी होना चाहिये। अपने पसीने की कमाई से उसे अपना निर्वाह करना चाहिये। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगानी उसके लिए परमोचित है।

(९९) काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना और दया, शील, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना, साधक के पक्ष में अत्यन्त हित है।

(१००) मांस और मछली का खाना तथा मादक द्रव्यों का सेवन, मन में विशेष चंचलता और मूढ़ता उत्पन्न करते हैं। साधकों को इनसे अवश्य बचना चाहिये।

(१०१) ज्ञान-बिना कर्त्तव्य कर्म का निर्णय नहीं हो सकता। कर्त्तव्यकर्म के निर्णय के बिना अकर्त्तव्य कर्म भी किया जायगा, जिससे अपना परम कल्याण नहीं होगा; इसलिए ज्ञानोपार्जन अवश्य करना चाहिये, जो विद्याभ्यास और सत्संग से होगा।

(१०२) शुद्ध आत्मा का स्वरूप अनन्त है। अनन्त के बाहर कुछ अवकाश हो, सम्भव नहीं है; अतएव उसका कहीं से आना और उसका कहीं जाना, माना नहीं जा सकता है; क्योंकि दो अनन्त

हो नहीं सकते। चेतन-मण्डल सान्त है, उसके बाहर अवकाश है; इसलिए उसके धार-रूप का होना और उस धार में आने-जाने का गुण होना निश्चित है। अनन्त के अंश पर के प्रकृति के आवरणों का मिट जाना, उस अंश-रूप का मोक्ष कहलाता है। स्थूल शरीर जड़ात्मक प्रकृति से बना एक आवरण है। इसमें चेतन-धार के रहने तक यह स्थित रहता है, नहीं तो मिट जाता है। इस नमूने से यह निश्चित है कि जड़ात्मक प्रकृति के अन्य तीनों आवरण भी मिट जाएँगे, यदि उन तीनों में चेतन-धार वा सुरत न रहे। अन्तर में नादानुसंधान से सुरत जड़ात्मक सब आवरणों से पार हो जाएगी, उनमें नहीं रहेगी और अंत में स्वयं भी आदिनाद के आकर्षण से आकर्षित हो, अपने केन्द्र में केन्द्रित होकर उसमें विलीन हो जाएगी। इस तरह सब आवरणों का मिटना होगा। उस चेतन-धार के कारण एक पिंड बनने योग्य प्रकृति के जितने अंश की स्थिति (कैवल्य, महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूपों में) सम्भव है, वह मिट जाएगी और उसके मिटने से शुद्धात्मा का जो अंश आवरणहीन हो जायगा, वह मुक्त हुआ कहा जायगा। यद्यपि शुद्ध आत्मतत्त्व सर्वव्यापक होने पर भी मायिक दुःख-सुख का सदा अभोगी ही रहता है, तथापि उसके और चित् (चेतन), अचित् (जड़) के संग से जीवात्मा की स्थिति प्रकट होती है, जिसको उपर्युक्त दुःख-सुख का भोग होता है, वह भोग अशांतिपूर्ण होने के कारण मिटा देने-योग्य है। उपुर्यक्त संग के मिटने से ही यह भोग मिटेगा; क्योंकि वह संग ही इस भोग और उपर्युक्त जीव-रूप इसके भोगी; दोनों का कारण है।

(१०३) जीवता का उदय हुआ है, इसका नाश भी किया जा सकेगा। इसके नाश से आत्मा की कुछ हानि नहीं। इसके मिटने से आत्मा नहीं मिटेगी। आत्मा का मिटना असम्भव है; क्योंकि अनन्त का मिटना असम्भव है। जब किसी जीवन-काल में (पूर्ण समाधि में) जीवता मिटा दी जायगी, तभी जीवन-मुक्त की दशा प्राप्त होगी और जीवन-काल के गत होने (मरने) पर भी मुक्ति

होगी, अन्यथा नहीं। मोक्ष के साधन में लगे हुए अभ्यासी को जीवन-काल में मुक्ति नहीं मिलने पर उस जीवन-काल के अनन्तर फिर मनुष्य-जन्म होगा; क्योंकि दूसरी योनि उसके मोक्ष-साधन के संस्कार को सँभालने और उसको आगे बढ़ाने के योग्य नहीं है। इस प्रकार मोक्ष-साधक बारम्बार उत्तम-उत्तम मनुष्य-जन्म पाकर अन्त में सदा के लिए मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

परम प्रभु में सृष्टि की मौज का उदय जहाँ से हुआ, वहाँ उसका फिर लौट आना असम्भव है; क्योंकि वह मौज रचना करती हुई उसमें जिधर को प्रवाहित है, उधर को काल के अन्त तक प्रवाहित होती हुई तथा रचना करती हुई चली जायगी; परन्तु अनन्त का न अन्त होगा और न फिर वह मौज वहाँ लौटेगी, जहाँ से उसका प्रवाह हुआ था। इसलिए उस मौज के केन्द्र में जो सुरत केन्द्रित होगी, वह फिर रचना में उतरे, यह सम्भव नहीं और तब यह भी सम्भव नहीं कि उस सुरत वा चेतन-धार के कारण प्रकृति के जिस अंश की स्थिति पहले हुई थी, वह पुनः बने, उसकी स्थिति से आत्मा का जो अंश आवरणित था, वह फिर आवरण-सहित हो और संख्या १०२ में कथित त्रय संग से पूर्व-जीवता का पुनरुदय हो। जिस मुक्ति का इसमें वर्णन हुआ है, वही असली मुक्ति है। उसके अतिरिक्त और प्रकार की मुक्ति केवल कहने मात्र की है, यथार्थ नहीं।

(१०४) सब आवरणों को पार किये बिना न परम प्रभु मिलेंगे और न परम मुक्ति मिलेगी। इसलिए दोनों फलों को प्राप्त करने का एक ही साधन है। ईश्वर-भक्ति का साधन कहो वा मुक्ति का साधन कहो; दोनों एक ही बात है।

जिमि थल बिनु जल रहि ना सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

(तुलसीकृत रामायण)

परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने का साधन

(१०५) परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के साधन को जानने के पहले परम प्रभु के स्वरूप का तथा निज स्वरूप का परोक्ष ज्ञान श्रवण और मनन-द्वारा प्राप्त करना चाहिये। और सृष्टि-क्रम के ज्ञान के सहित यह भी जानना चाहिये कि कथित युगल स्वरूपों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होने का कारण क्या है? परम प्रभु के स्वरूप का श्रवण और मनन-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह निश्चित हो जाएगा कि प्राप्त करना क्या है? क्षेत्र-सहित क्षेत्रज्ञ उसको प्राप्त कर सकेगा वा केवल क्षेत्रज्ञ ही उसे प्राप्त करेगा तथा इसके लिए बाहर में वा अन्तर में किस ओर अभ्यास करना चाहिये? ये सब आवश्यक बातें निश्चित हो जाएँगी, तब अनावश्यक भटकन छूट जाएगी। अपने स्वरूप के वैसे ही ज्ञान से यह थिर हो जाएगा कि मैं उसे प्राप्त करने योग्य हूँ अथवा नहीं? सृष्टि-क्रम के विकास का तथा परम प्रभु और निज स्वरूपों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होने के कारण की जानकारियों से उस आधार का पता लग सकेगा, जिसके अवलम्ब से सृष्टि वा उपर्युक्त कारण-रूप आवरण से पार जाकर परम प्रभु से मिलन तथा उसके अपरोक्ष ज्ञान का होना परम सम्भव हो जाएगा। इसके लिए उपनिषदों को वा भारती सन्तवाणी को ढूँढ़ा जाए वा इसे तर्क-बुद्धि से निश्चय किया जाए, थिर यही होगा कि परम प्रभु सर्वेश्वर का स्वरूप अव्यक्त, इन्द्रियातीत (अगोचर), आदि-अन्त-रहित, अज, अविनाशी, देशकालातीत, सर्वगत तथा सर्वपर है और जैसे घटाकाश, महदाकाश का अंश है, इसी तरह निज स्वरूप भी परम प्रभु सर्वेश्वर का अंश है। तत्त्वरूप में दोनों एक ही हैं, पर परम प्रभु आवरण से आवरणित नहीं; किन्तु निज स्वरूप अथवा सर्वेश्वर का पिण्डस्थ अंश आवरणित है। सगुण अपरा प्रकृति के महाकारण, कारण, सूक्ष्म, और स्थूल; इन चारो आवरणों से आवरणित रहने के कारण उपर्युक्त दोनों स्वरूपों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता है। जब परम प्रभु सर्वेश्वर में सृष्टि की मौज होती है, तभी सृष्टि उपजती है। इसलिए सृष्टि के आदि में मौज वा कम्प का मानना अनिवार्य होता है और मौज वा कम्प

का शब्दमय न होना असम्भव है। इसलिए सृष्टि के आदि में अनिवार्य रूप से शब्द मानना ही पड़ता है। सृष्टि का विकास बारीकी की ओर से मोटाई वा स्थूलता की ओर को होता हुआ चला आया है। सृष्टि के जिस प्रकार के मण्डल में हमलोग हैं, वह स्थूल कहलाता है। इससे ऊपर सूक्ष्म-मण्डल, सूक्ष्म के ऊपर कारण-मण्डल, कारण-मण्डल के ऊपर महाकारण-मण्डल अर्थात् कारण की खानि साम्यावस्थाधारिणी जड़ात्मक मूल प्रकृति और इसके भी ऊपर चैतन्य वा परा प्रकृति वा कैवल्य (जड़-रहित चैतन्य) मण्डल; इन चार प्रकार के मण्डलों का होना ध्रुव निश्चित है। अतएव स्थूल मण्डल के सहित सृष्टि के पाँच मण्डल स्पष्ट रूप से जानने में आते हैं। कैवल्य मण्डल निर्मल चैतन्य है और बचे हुए चार मण्डल चैतन्य-सहित जड़ मण्डल हैं। प्रत्येक मण्डल बनने के लिए प्रथम प्रत्येक का केन्द्र अवश्य ही स्थापित हुआ। केन्द्र से मण्डल बनने की धार (मौज वा कम्प वा शब्द) जारी होने पर ही मण्डल की सृष्टि हुई। धार जारी होने में सहचर शब्द अवश्य हुआ। अतएव कथित केन्द्रों के केन्द्रीय शब्द अनिवार्य रूप से मानने पड़ते हैं। शब्द में अपने उद्गम स्थान पर आकर्षण करने का स्वभाव प्रत्यक्ष ही है। इन बातों को जानने पर यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि का विकास शब्द से होता हुआ चला आया है और इसलिए सृष्टि के सब आवरणों से पार जाने का अत्यन्त युक्तियुक्त आधार वर्णित शब्दों से विशेष कुछ नहीं है। ये कथित केन्द्रीय शब्द वर्णात्मक हो नहीं सकते; ये ध्वन्यात्मक हैं। नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग इन्हीं नादों वा ध्वन्यात्मक शब्दों का होता है और उल्लिखित शब्द के आकर्षण के कारण सुरत-शब्द-योग का फल अत्यन्त ऊर्ध्वगति तक पहुँचना निश्चित और युक्तियुक्त है। ऊपर के कथित सृष्टि के पाँच मण्डल ही पाँच आवरण हैं, जो पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (बाह्य जगत्); दोनों को विशेष रूप से संबंधित करते हुए दोनों में भरे हैं। परा प्रकृति वा सुरत वा कैवल्य चैतन्य-स्वरूप परम प्रभु सर्वेश्वर के निज स्वरूप के अत्यन्त समीपवर्त्ती होने के कारण

उसके स्वरूप से मिलने वा उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के सर्वथा योग्य है। निज स्वरूप इस चैतन्य तत्त्व से अवश्य ही उच्च और अधिक योग्यता का है और चैतन्य क्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट रूप है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि क्षेत्र के केवल इसी एक अगुण और सर्वोत्कृष्ट रूप के सहित क्षेत्रज्ञ को निज स्वरूप के सहित परम प्रभु सर्वेश्वर के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होगा; परन्तु क्षेत्र के अन्य चार सगुण रूपों के सहित वा इन चारों में से किसी एक के सहित रहने पर स्वरूप का वह ज्ञान वा उसकी प्राप्ति नहीं होगी। यह निःसन्देह है कि निज को निज का तथा परम प्रभु के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होना वा निज को निज की तथा परम प्रभु की प्राप्ति होनी ध्रुव सम्भव है।

ऊपर का शब्द नीचे दूर तक स्वाभाविक ही पहुँचता है। सूक्ष्म तत्त्व की धार स्थूल तत्त्व की धार से लम्बी होती है और वह अपने से स्थूल में स्वाभाविक ही समायी हुई होती है। रचना में ऊपर की ओर सूक्ष्मता और नीचे की ओर स्थूलता है। रचना में जो मण्डल जिस मण्डल से ऊपर है, वह उससे सूक्ष्म है। अतएव प्रत्येक ऊपर के मण्डल का केन्द्रीय शब्द प्रत्येक नीचे के मण्डल और उसके केन्द्रीय शब्द से क्रमानुसार सूक्ष्म है। इसलिए ऊपर के मण्डलों के केन्द्र से उत्थित शब्द, नीचे के मण्डलों के केन्द्रों पर क्रमानुसार अर्थात् पहला निचले मण्डल के केन्द्र पर से उसके ऊपर के मण्डल का केन्द्रीय शब्द और इस दूसरे निचले मण्डल के केन्द्र पर उसके ऊपर के मण्डल का केन्द्रीय शब्द, इस तरह क्रम-क्रम से अवश्य ही धरे जायँगे और अन्त में सबसे ऊपर के कैवल्य मण्डल के केन्द्र से अर्थात् स्वयं परम प्रभु सर्वेश्वर से उत्थित शब्द महाकारण-मण्डल के केन्द्र पर अवश्य ही पकड़ा जा सकेगा और उस शब्द से आकर्षित होकर चैतन्य वा सुरत परम प्रभु से जा मिलकर उनसे एकमेक हो विलीन हो जाएगी। परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के साधन की यही पराकाष्ठा है। परम प्रभु से उत्थित यह आदिनाद वा शब्द, सब पिण्डों तथा सब ब्रह्माण्डों के अन्तस्तल में सदा अप्रतिहत और

अविच्छिन्न रूप से ध्वनित होता है और सृष्टि की स्थिति तक अवश्य ही ध्वनित होता रहेगा; क्योंकि इसी के उदय के कारण से सब सृष्टि का विकास है और यदि इसकी स्थिति का लोप होगा, तो सृष्टि का भी लोप हो जाएगा। ऋषियों ने इसी अलौकिक और अनुपम आदि निर्गुण नाद को 'ॐ' कहा है और भारती सन्तवाणी में इसी को 'निर्गुण रामनाम' 'सत्यनाम', सत्यशब्द, आदिनाम और सारशब्द आदि कहा है। उपर्युक्त वर्णनानुसार शब्दधारों को धरने के लिए बाहर की ओर यत्न करना व्यर्थ है। यह तो गुरु-आश्रित होकर अन्तर-ही-अन्तर यत्न और अभ्यास करने से होगा। अपने अन्तर में ध्यानाभ्यास से अपने को वा अपनी सुरत वा अपनी चेतन-वृत्ति को विशेष-से-विशेष अन्तर्मुखी बनाना सम्भव है। प्रथम ही सूक्ष्म ध्यानाभ्यास स्वभावानुकूल नहीं होने के कारण असाध्य है। इसलिए प्रथम मानस जप द्वारा मन को कुछ समेट में ला, फिर स्थूल मूर्ति का मानस ध्यानाभ्यास कर अपने को सूक्ष्म ध्यानाभ्यास करने के योग्य बना, दृष्टि-योग से एकविन्दुता प्राप्त करने का सूक्ष्म ध्यानाभ्यास करके नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग अभ्यास कर नीचे से ऊपर तक सारे आवरणों से पार हो, अन्त तक पहुँचना परम सम्भव है। ऊपर यह वर्णन हो चुका है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों को विशेष रूप से सम्बन्धित करते हुए दोनों को सृष्टि से वर्णित मण्डल वा आवरण भरपूर करते हैं और इन्हीं आवरणों को पार करना, सारे आवरणों को पार करना है। कथित विशेष सम्बन्ध इनमें यह है कि पिण्ड के जिस आवरण में जो रहेगा, बाहर के ब्रह्माण्ड के उसी आवरण में वह रहेगा और पिण्ड के जिस आवरण को वा सब आवरणों को जो पार करेगा, ब्रह्माण्ड के उसी आवरण को वा सब आवरणों को वह पार का जायगा अर्थात् जो पिण्ड को पार कर गया, वह ब्रह्माण्ड को भी पार कर गया, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। परम योग, परम ज्ञान और परमा भक्ति का गम्भीरतम रहस्य और अन्तिम फल प्राप्त करने का साधन समास रूप में कहा जा चुका।

(१०६) ॐ के बारे में विशेष जानकारी के लिए भाग पहले

में श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय १, श्लोक ७ के अर्थ के नीचे लिखित टिप्पणी में पढ़िये तथा भाग २, पृष्ठ २६१ में स्वामी विवेकानन्दजी महाराज का वर्णन पढ़िए और ॐ को आदि सारशब्द नहीं मानना, इसे केवल त्रिकुटी का ही शब्द मानना, किस तरह अयुक्त है, सो इसी भाग, पृ० ३१२, पारा ७१ में पढ़िये तथा भाग ३, पृष्ठ २९३ में स्वामी श्रीभूमानन्दजी महाराज का वर्णन पढ़िये ।

(१०७) यह बात युक्तियुक्त नहीं है कि कोई भक्त केवल निर्गुण ब्रह्म के, कोई केवल सगुण बह्म के और कोई केवल सगुण-निर्गुण के परे अनामी पुरुष के उपासक होते हैं। निर्गुण अनामी, मायातीत, अव्यक्त, अगोचर, अलख, अगम और अचिन्त्य हैं अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धि के परे है। उपासना का आरम्भ मन से ही होगा। अतएव आरम्भ में ही निर्गुण की उपासना नहीं हो सकेगी और अनामी तो साध्य वा प्राप्य है, साधन नहीं है, निर्गुण-उपासना से यह प्राप्त होता है (देखिये–भाग ४, पृष्ठ ३१०, पारा ६२-६३)। उपासना का आरम्भ होगा सगुण से ही, पर उपासक पारा संख्या ५९, ६०, ६१, ६२ में किये गये वर्णनों के अनुसार बढ़ते-बढ़ते निर्गुण- उपासक होकर अन्त में अनामी (शब्दातीत) पुरुषोत्तम को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाएगा। इसके लिए भाग २ में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदय के वचन भी पृष्ठ २४२ से २४५ तक पढ़ने योग्य है। सन्त कबीर साहब और गुरु नानक साहब और इनके ऐसे सन्तों को केवल निर्गुण-उपासक और गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज तथा श्रीसूरदासजी महाराज को केवल सगुण-उपासक जानना भूल है; क्योंकि कबीर साहब और गुरु नानक साहब गुरु-मूर्त्ति का ध्यान भी बतलाते हैं, जो स्थूल सगुण-उपासना ही हुई। (देखिये भाग २, पृष्ठ १२०, स्थूल-ध्यान और पृष्ठ १५२) और गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज जहाँ सगुण राम की प्रेममयी कथा और भव्य माहात्म्य को बहुत सुन्दर विस्तार-पूर्वक अपने 'रामचरितमानस' में गाते हैं, वहाँ उसी में, दोहावली में और विनय-पत्रिका में वे राम के निम्नलिखित स्वरूप का भी वर्णन करते हैं। वे राम को तुरीयावस्था में

पहुँचकर भजने के लिए कहते हैं, पुनः देशकालातीत और अतिशय द्वैत-वियोगी पद का तथा उसके महत्त्व का वर्णन कर, भक्त को अन्तर-मार्गी बन, वहाँ तक पहुँचकर संशयों को निर्मूल कर नष्ट कर देने के लिए कहते हैं। वे रामनाम को अकथ तथा निर्गुण भी कहते हैं; यथा–

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द पर धामा ॥
सोरठा– राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर ।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥

॥ चौपाई ॥

जग पेखन तुम देखनिहारे । विधि-हरि सम्भु नचावनिहारे ॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा । और तुमहिं को जाननहारा ॥
सोइ जानहि जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई ॥
चिदानन्दमय देह तुम्हारी । विगत विकार जान अधिकारी ॥
नर तनु धरेउ सन्त सुर काजा । करहु कहहु जस प्राकृत राजा ॥

॥ चौपाई ॥

जो माया सब जगहिं नचावा । जासु चरित लखि काहु न पावा ॥
सो प्रभु भ्रू विलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ॥
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा । अज विज्ञान रूप बल धामा ॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता । अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता ॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता । सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख सन्दोहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी । ब्रह्म निरीह विरज अविनासी ॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥

दो०– भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥
यथा अनेकन भेष धरि, नृत्य करै नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥
दो०– निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

–रामचरितमानस

दो०– हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम ।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥

–दोहावली

राम-नाम निर्गुण और अकथ है, इसके वर्णन की चौपाइयों को पृष्ठ २९९, पारा ४ में देखिये और नाम के विशेष वर्णन को जानने के लिए इसी चौथे भाग के पृष्ठ ३०२, पारा ३५ और पृष्ठ ३०८, पारा ५८ को पढ़िये। इन बातों से प्रकट है कि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज आन्तरिक आदि निर्गुण नाद के भी ज्ञाता और उपासक थे। इस अन्तिम उपासना के बिना कोई अद्वैत, देश-कालातीत, अनाम पद तक पहुँचे, सम्भव नहीं है। यदि इस उपासना के बिना ही कथित अद्वैत पद तक किसी अन्य उपासना से भी पहुँच हो, तो नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग की विशेषता नहीं मानने योग्य है और नादानुसंधान की विशेषता मिटते ही सन्तमत की भी विशेषता मिट जायगी; परन्तु ऐसा होना युक्तिवाद के अनुकूल नहीं है, इसलिए यह सम्भव नहीं। गो० तुलसीदासजी महाराज तुरीयावस्था प्राप्त कर राम का भजन करने और अपने अन्तर में ही राम को प्राप्त करने के लिए भी बतलाते हैं। इसके लिए भाग २, पृष्ठ २०८ से २१० तक में लिखित उनकी विनय-पत्रिका के इन पद्यों को पूरा-पूरा पढ़िये–(१) रघुपति भगति करत कठिनाई ---------- सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी। सोइ हरिपद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥----- देस काल तहँ नाहीं। ---- तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं॥ (२) श्री हरि गुरु-पद कमल भजहिं मन तजि अभिमान।-----तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त। मन क्रम वचन अगोचर व्यापक व्याप्य अनन्त। -------तुलसीदास प्रयास बिनु, मिलहिं राम दुखहरन॥ (३) एहि तें मैं हरि ज्ञान गँवायो। परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहर फिरत विकल भय धायो ---- कीजै नाथ उचित मन भयो॥

जबकि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज श्रीराम के नर-शरीर का भी और चिदानन्दमय शरीर का भी वर्णन करते हैं, तब शरीर

से शरीरी को फुटाकर समझने से शरीरी शरीर से अवश्य ही तत्त्व-रूप में भिन्न, उच्च, उत्कृष्ट और विशेष होता है। इसलिए यह अवश्य मानना पड़ता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने श्रीराम के स्वरूप को सच्चिदानन्द रूप से भी उत्कृष्ट और उच्च शुद्ध आत्मस्वरूप का वर्णन किया है ।

ऐसे ही सूरदासजी महाराज के भी इन पद्यों को भाग २ के पृष्ठ २१० से २१३ तक में पढ़िये–(१) अपुनपौ आपुन ही में पायो। शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो॥----ज्यों गूँगो गुड़ खायो॥ (२) जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत ---- अन्ध नयन बिनु देखे॥ (३) अपने जान मैं बहुत करी। ------ छमो सूर तें सब बिगरी॥ इन सन्तों के एसे वर्णनों को पढ़कर इनको केवल कवि ही जानना, इन्हें सन्त नहीं मानना, मेरे जानते इनका अकारण ही अनादर करना है और जो लोग इनको केवल स्थूल-सगुण-उपासक ही मानते हैं, वे इनके परम उच्च गम्भीर ज्ञान और इनके ध्यान की पूर्णता को विदित नहीं करके इनके परम उच्च पद को न्यून करके दरसाते हैं।

-- :: ० :: --

॥ ईश-स्तुति ॥

(१)

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर, औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में, सत् असत् हू के पार में ॥१॥
सब नाम रूप के पार में, मन बुद्धि वच के पार में।
गो गुण विषय पँच पार में, गति भाँति के हू पार में ॥२॥
सूरत निरत के पार में, सब द्वन्द्व द्वैतन्ह पार में।
आहत अनाहत पार में, सारे प्रपंचन्ह पार में ॥३॥
सापेक्षता के पार में, त्रिपुटी कुटी के पार में।
सब कर्म काल के पार में, सारे जंजालन्ह पार में ॥४॥
अद्वय अनामय अमल अति, आधेयता-गुण पार में।
सत्ता स्वरूप अपार सर्वाधार, मैं तू पार में ॥५॥
पुनि ओ३म् सोऽहम् पार में, अरु सच्चिदानन्द पार में।

हैं अनन्त व्यापक व्याप्य जो, पुनि व्याप्य व्यापक पार में ॥६॥
हैं हिरण्यगर्भहु खर्व जासों, जो हैं सान्तन्ह पार में।
सर्वेश हैं अखिलेश हैं, विश्वेश हैं सब पार में ॥७॥
सत् शब्द धरकर चल मिलन, आवरण सारे पार में।
सद्गुरु करुण कर तर ठहर, धर 'मेँहीँ' जावे पार में ॥८॥

(२)

सर्वेश्वरं सत्य शान्तिं स्वरूपं।
सर्वमयं व्यापकं अज अनूपं ॥१॥
तन बिन अहं बिन, बिना रंग रूपं।
तरुणं न बालं न वृद्धं स्वरूपं ॥२॥
गुण गो महातत्त्व हंकार पारं।
गुरु ज्ञान गम्यं अगुण ते हु न्यारं ॥३॥
रुज संसृतं पार आधार सर्वं।
रुद्धं नहीं नाहीं दीर्घं न खर्वं ॥४॥
ममतादि रागादि दोषं अतीतं।
महा अद्भुतं नाहिं तप्तं न शीतं ॥५॥
हार्दिक विनय मम सृनो प्रभु नमामी।
हाटक वसन मणि की हू नाहिं कामी ॥६॥
राज्यं रु यौवन त्रिया नाहिं माँगूँ।
राजस रु तामस विषय संग न लागूँ ॥७॥
जन्मं मरण बाल यौवन बुढ़ापा।
जर-जर कर्यो रु गेर्यो अन्ध कूपा ॥८॥
कीशं समं मोह मुट्ठी को बाँधी।
कीचड़ विषय फँसि भयो है उपाधी ॥९॥
जगत सार आधार देहू यही वर।
जतन सों सो सेऊँ जो सतगुरु कुबुधि हर ॥१०॥
यही चाह स्वामी न औरो चहूँ कुछ।
यहि बिन सकल भोग गन को कहूँ तुछ ॥११॥

॥ सद्गुरु-स्तुति ॥

नमामी अमित ज्ञान, रूपं कृपालं।
अगम बोध दाता, सुबुधि निधि विशालं ॥१॥
क्षमाशील अति धीर, गम्भीर ज्ञानं।
धरम कील दृढ़ थीर, सम धीर ध्यानं ॥२॥
जगत् त्राण कारी, अघारी उदारं।
भगत प्राण रूपं, दया गुण अपारं ॥३॥
नमो सत्गुरुं, ज्ञान दाता सु स्वामी।
नमामी नमामी नमामी नमामी ॥४॥
हरन भर्म भूलं, दलन पाप मूलं।
करन धर्म पूलं, हरण सर्व शूलं ॥५॥
जलन भव विनाशन, हनन कर्म पाशन।
तनन आस नाशन, गहन ज्ञान भाषण ॥६॥
युगल रत्न पुरुषार्थ, परमार्थ दाता।
दया गुण सु माता, अमर रस पिलाता ॥७॥
नमो सत्गुरुं सर्व पूज्यं अकामी।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥८॥
सरब सिद्धि दाता, अनाथन को नाथा।
सुगुण बुधि विधाता, कथक ज्ञान-गाथा ॥९॥
परम शांति दायक, सुपूज्यन को नायक।
परम सत्सहायक, अधर कर गहायक ॥१०॥
महाधीर योगी, विषय रस वियोगी।
हृदय अति अरोगी, परम शांति भोगी॥११॥
नमो सद्गुरुं सार, पारस सु स्वामी।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥१२॥
महाघोर कामादि, दोषं विनाशन।
महाजोर मकरन्द, मन बल हरासन ॥१३॥
महावेग जलधार, तृष्णा सुखायक।
महा सुक्ख भण्डार, सन्तोष दायक ॥१४॥

महा शांति दायक, सकल गुण को दाता ।
महा मोह त्रासन, दलन धर सुगाता ॥१५॥
नमो सद्गुरुं, सत्य धर्मं सु धामी ।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥१६॥
जो दुष्टेन्द्रियन नाग, गण विष अपारी ।
हैं सद्गुरु सु गारुड़, सकल विष संघारी ॥१७॥
महामोह घनघोर, रजनी निविड़ तम ।
हैं सद्गुरु वचन दिव्य, सूरज किरण सम ॥१८॥
महाराज सद्गुरु हैं, राजन को राजा ।
हैं जिनकी कृपा से, सरैं सर्व काजा ॥१९॥
भने 'मेँहीँ' सोई, परम गुरु नमामी ।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥२०॥

-- :: ० :: --

सद्गुरु नमो सत्य ज्ञानं स्वरूपं ।
सदाचारि पूरण सदानन्द रूपं ॥१॥
तरुण मोह घन तम विदारण तमारी ।
तरण तारणंऽहं बिना तन विहारी ॥२॥
गुण त्रय अतीतं सु परमं पुनीतं ।
गुणागार संसार द्वन्द्वं अतीतं ॥३॥
रुज संसृतं वैद्य परमं दयालुं ।
रुलकर प्रभू मध्य प्रभू ही कृपालुं ॥४॥
मनन शील सम शील अति ही गंभीरं ।
मरुत मदन मेघं सुयोगी सुधीरं ॥५॥
हानिं रु लाभं जुगल मध समं थीर ।
हालन चलन शुभ्र इन्द्रिय दमन वीर ॥६॥
राग रोषं बिनं शुद्ध शान्तिं स्वरूपं ।
राकापतिं तुल्यं शीतल अनूपं ॥७॥
जरा जन्म मृत्यु परं पार धामी ।
जगत आत्म तुल्यं हृदय अति अकामी ॥८॥

कीरति सु भृंगं समं सो सु स्वामी ।
कीटन्ह स्वयं सम करन गुरु नमामी ॥९॥
जगत त्राण कर्त्ता रु हर्ता भौजालं ।
जरा जन्म हर्ता रु कर्ता सु भालं ॥१०॥
यज्ञं जपं तप फलं हूँ न कामी ।
यक सद्गुरुं पद नमामी नमामी ॥११॥

॥ चौपाई ॥

सत्य ज्ञान दायक गुरु पूरा । मैं उन चरणन को हौं धूरा ॥
तन अघ मन अघ ओघ नसावन । संशय शोक सकल दुख दावन ॥
गुरु गुण अमित अमित को जाना । संछेपहिं सब करत बखाना ॥
रुज भव नाशन सतगुरु स्वामी । बार बार पद जुगल नमामी ॥
मन्द मन्दता सकल निवारण । काम क्रोध मद लोभ सँघारन ॥
हानि लाभ सुख दुख सम कारी । हर्ष विषाद गुरू दें टारी ॥
राजत सकल सिरन गुरु स्वामी । अगम बोध दाता सुख धामी ॥
जनम मरन गुरु देहिं छोड़ाई । जयति जयति जय जय सुखदाई ॥
कीरति अमल विमल बुधि जाकी । धनि धनि सतगुरु सीम दया की ॥
जग तारन कारण सद्गति की । पथ दाता सत सरल भगति की ॥
यम नीयम सब में अति पूरन । सत्गुरु महाराज की जय भन ॥

॥ चौपाई ॥

सम दम और नियम यम दस दस ।
सतगुरु कृपा सधें सब रस रस ॥
तन मन पीर गुरू संघारत ।
तम अज्ञान गुरु सब टारत ॥
गुण त्रयफन्द कटत हैं गुरु सँगु ।
गुण निर्मल लह रटत गुरू मगु ॥
रुचत कर्म सत धर्म कथा अरु ।
रुकत मोह मद संग करत गुरु ॥
मरत आस जग हो सुख दुख सम ।
मदद गुरू की हो अवगुण कम ॥

हाजत पूरै रहै न चाहा ।
हानि न गुरु सों होवत लाहा ।।
राहत बखसनहार अपारा ।
राग द्वेष तें करें नियारा ।।
जम दुख नासैं सारैं कारज ।
जय जय जय प्रभु सत्य अचारज ।।
कीनर नर सुर असुर गुरू की ।
कीरति भनत कहत जय गुरु की ।।
जनम नसै अरु होय अमर अज ।
जय जय सद्गुरु जय सद्गुरु भज ।।
यत्न सहित करु गुरु कहते सोय ।
यम शम दम अरु नियम पूर्ण होय ।।

मंगलाचरण

दोहा-- मंगल मूरति सतगुरू, मिलवैं सर्वाधार ।
मंगलमय मंगल करण, विनवौं बारम्बार ।।
ज्ञान उदधि अरु ज्ञान घन, सतगुरु शंकर रूप ।
नमो नमो बहु बारहीं, सकल सुपूज्यन भूप ।।
सकल भूल नाशक प्रभू, सतगुरु परम कृपाल ।
नमो कंज पद युग पकड़ि, सुनु प्रभु नजर निहाल ।।
दया दृष्टि करि नाशिये, मेरो भूल अरु चूक ।
खरो तीक्ष्ण बुधि मोरि ना, पाणि जोड़ि कहुँ कूक ।।
नमो गुरू सतगुरु नमो, नमो नमो गुरु देव ।
नमो विघ्न हरता गुरू, निर्मल जाको भेव ।।
ब्रह्म रूप सतगुरु नमो, प्रभु सर्वेश्वर रूप ।
राम दिवाकर रूप गुरू, नाशक भ्रम तम कूप ।।
नमो सु साहब सतगुरू, विघ्न विनाशक द्याल ।
सुबुधि विगासक ज्ञानप्रद, नाशक भ्रम तम जाल ।।
नमो नमो सतगुरु नमो, जा सम कोउ न आन ।
परम पुरुषहू तें अधिक, गावें सन्त सुजान ।।

।। छप्पय ।।

जय जय परम प्रचण्ड, तेज तम मोह विनाशन ।
जय जय तारण तरण, करन जन शुद्ध बुद्ध सन ।।
जय जय बोध महान, आन कोउ सरवर नाहीं ।
सुर नर लोकन माहिं, परम कीरति सब ठाहीं ।।
सतगुरु परम उदार हैं, सकल जयति जय जय करें ।
तम अज्ञान महान् अरु, भूल चूक भ्रम मम हरें ।।१।।
जय जय ज्ञान अखण्ड, सूर्य भव तिमिर विनाशन ।
जय जय जय सुख रूप, सकल भव त्रास हरासन ।।
जय जय संसृति रोग सोग, को वैद्य श्रेष्ठतर ।
जय जय परम कृपाल, सकल अज्ञान चूक हर ।।
जय जय सतगुरु परम गुरु, अमित अमित परणाम मैं ।
नित्य करूँ, सुमिरत रहूँ, प्रेम सहित गुरू नाम मैं ।।२।।
जयति भक्ति भण्डार, ध्यान अरु ज्ञान निकेतन ।
योग बतावनिहार, सरल जय जय अति चेतन ।।
करनहार बुधि तीव्र, जयति जय जय गुरु पूरे ।
जय जय गुरु महाराज, उक्ति दाता अति रूरे ।।
जयति जयति श्री सतगुरू, जोड़ि पाणि युग पद धरौं ।
चुक से रक्षा कीजिये, बार बार विनती करौं ।।३।।
भक्ति योग अरु ध्यान को, भेद बतावनिहारे ।
श्रवण मनन निदिध्यास, सकल दरसावनिहारे ।।
सतसंगति अरु सूक्ष्म वारता, देहिं बताई ।
अकपट परमोदार न कछु, गुरु धरें छिपाई ।।
जय जय जय सतगुरु सुखद, ज्ञान सम्पूरण अंग सम ।
कृपा दृष्टि करि हेरिये, हरिय युक्ति बेढंग मम ।।४।।

।। चौपाई ।।

सतगुरु सत परमारथ रूपा । अतिहि दयामय दया सरूपा ।।१।।
अधम उधारन अमृत खानी। पर हित रत जाकी सतबानी ।।२।।
सतगुरु ज्ञान सिंधु अति निर्मल । सेवत मन इन्द्रिन हों निर्बल ।।३।।

धरम धुरन्धर सतगुरु स्वामी। सत्य धरम मत संत को हामी ॥४॥
सुरत शब्द मारग सुखदाई । सतगुरु यहि पथ देहिं बताई ॥५॥
बन्ध मोक्ष सब देहिं बताई । आत्म अनात्महु देहिं जनाई ॥६॥
विषय भोग तें लेहिं छोड़ाई । भव निधि बूड़त लेहिं बचाई ॥७॥
काउ न कृपावन्त सतगुरु सम । पद सेवा महँ मन पल पल रम ॥८॥

दोहा– धन्य धन्य सतगुरु सुखद । महिमा कही न जाय ।
जो कछु कहुँ तुम्हरी कृपा । मोतें कछु न बसाय ॥

॥ छन्द ॥

जय जयति सद्गुरु जयति जय जय, जयति श्री कोमल तनुं ।
मुनि वेष धारण करण मुनिवर, जयति कलिमल दल हनं ॥
जय जयति जीवन्मुक्त मुनिवर, शीलवन्त कृपालु जो ।
सो कृपा करिकै करिय आपन, दास प्रभु जी मोहि को ॥
जय जयति सद्गुरु जयति जय जय, सत्य सत् वक्ता प्रभू ।
हरि कुमति भर्महिं सुमति सत्य को, पाहि[1] मोहि दीजै अभू[2] ॥
यह रोग संसृति व्यथा शूलन्ह, मोह के जाये सभै ।
अति विषम शर बहु होय बेध्यो, मोहि अब कीजै अभै ॥
प्रभु ! कोटि कोटिन्ह बार इन्ह दुख, मोहि आनि सतायेऊ ।
यहु बार जहु एक वचन आशा, आय तहु में समायेऊ ॥
बिनु तुव कृपा को बचि सकै, तिहु काल तीनहु लोक में ।
प्रभु शरण तुव आरत जना तू, सहाय जन के शोक में ॥

॥ आत्मा ॥

नहीं थल नहीं जल नहीं वायु अग्नी ।
नहीं व्योम ना पाँच तन्मात्र ठगनी ॥
ये त्रय गुण नहीं नाहिं इन्द्रिन चतुर्दश ।
नहीं मूल प्रकृति जो अव्यक्त अगम अस ॥
सभी के परे जो परम तत्त्व रूपी ।
सोई आत्मा है सोई आत्मा है ॥१॥
न उद्भिद् स्वरूपी न उष्मज स्वरूपी ।

(१) मेरी रक्षा करो। (२) अभी।

न अण्डज स्वरूपी न पिण्डज स्वरूपी ॥
नहीं विश्व रूपी न विष्णु स्वरूपी ।
न शंकर स्वरूपी न ब्रह्मा स्वरूपी ।।सभी के०॥२॥
कठिन रूप ना जो तरल रूप ना जो ।
नहीं वाष्प को रूप तम रूप ना जो ॥
नहीं ज्योति को रूप शब्दहु नहीं जो ।
सटै कुछ भी जा पर सोऊ रूप ना जो ।।सभी के०॥३॥
न लचकन न सिकुड़न न कम्पन है जा में ।
न संचालना नाहिं विस्तृत्व जा में ॥
है अणु नाहिं परमाणु भी नाहिं जा में ।
न रेखा न लेखा नहीं विन्दु जा में ।।सभी के०॥४॥
नहीं स्थूल रूपी नहीं सूक्ष्म रूपी ।
न कारण स्वरूपी नहीं व्यक्त रूपी ॥
नहीं जड़ स्वरूपी न चेतन स्वरूपी ।
नहीं पिण्ड रूपी न ब्रह्माण्ड रूपी ।।सभी के०॥५॥
है जल थल में जोई पै जल थल है नाहीं ।
अगिन वायु में जो अगिन वायु नाहीं ॥
जो त्रय गुण गगन में न त्रय गुण अकाशा ।
जो इन्द्रिन में रहता न होता तिन्हन सा ।।सभी के०॥६॥
मूल माया की सब ओर अरु ओत प्रोतहु ।
भरो जो अचल रूप कस सो सुजन कहु ॥
भरो मूल माया में नाहीं सो माया ।
अव्यक्त हू को जो अव्यक्त कहाया ।।सभी के०॥७॥
ब्रह्मा महाविष्णु विश्व रूप हरि हर ।
सकल देव दानव रु नर नाग किन्नर ॥
स्थावर रु जंगम जहाँ लौं कछू है ।
है सब में जोई पर न तिनसा सोई है ।।सभी के०॥८॥
जो मारे मरै ना जो काटे कटै ना ।
जो साड़े सड़ै ना जो जारे जरै ना ॥
जो सोखा न जाता सोखे से कछू भी ।

नहीं टारा जाता टारे से कछू भी ।।सभी के०।।९।।
नहीं जन्म जाको नहीं मृत्यु जाको ।
नहीं बाल यौवन जरापन है जाको ।।
जिसे नाहीं होती अवस्था हु चारो ।
नहीं कुछ कहाता जो वर्णहु में चारो ।।सभी के०।।१०।।
कभी नाहिं आता न जाता है जोई ।
कभी नाहिं वक्ता न श्रोता है जोई ।।
कभी जो अकर्त्ता न कर्त्ता कहाता ।
बिना जिसके कुछ भी न होता बुझाता ।।सभी के०।।११।।
कभी ना अगुण वा सगुण ही है जोई ।
नहीं सत् असत् मर्त्य अमरहु न जोई ।।
अछादन करनहार अरु ना आछादित ।
न भोगी न योगी नहीं हित न अनहित ।।सभी के०।।१२।।
त्रिपुटी किसी में न आवै कभी भी ।
औ सापेक्ष भाषा न पावै कभी भी ।।
ओंकार शब्दब्रह्म हु को जो पर है ।
हत अरु अनाहत सकल शब्द पर है ।।सभी के०।।१३।।
जो टेढ़ो में रहकर भी टेढ़ा न होता ।
जो सीधों में रहकर भी सीधा न होता ।।
जो जिन्दों में रहकर न जिन्दा कहाता ।
जो मुर्दों में रहकर न मुर्दा कहाता ।।सभी के०।।१४।।
भरो व्योम से घट फिरै व्योम में जस ।
भरो सर्व तासों फिरै ताहि में तस ।।
नहीं आदि अवसान नहीं मध्य जाको ।
नहीं ठौर कोऊ रखै पूर्ण वाको ।।सभी के०।।१५।।
है घट मठ पटाकाश कहते बहुत-सा ।
न टूटै रहै एक ही तो अकाशा ।।
है तस ही अमित चर अचर हू को आतम ।
कहैं बहु न टूटै न होवै सो बहु कम ।।सभी के०।।१६।।
न था काल जब था वरतमान जोई ।

नहीं काल ऐसो रहेगा न ओई ।।
मिटैगा अवस काल वह ना मिटेगा ।
है सतगुरु जो पाया वही यह बुझेगा ।।सभी के०।।१७।।
सरब श्रेष्ठ तन धर की भी बुधि न गहती ।
जो ऐसो अगम संत-वाणी ये कहती ।।
करै पूरा वर्णन तिसे 'मेँहीँ' कैसे ।
है कंकड़ वणिक कहै मणिगुण को जैसे ।।सभी के०।।१८।।

।। पीव प्यारा ।।

है जिसका नहीं रंग, नहिं रूप रेखा ।
जिसे दिव्य दृष्टिहु से नहिं कोई देखा ।।
ये इन्द्रिन चतुर्दश में जो ना फँसा है ।
तथा कोई बन्धन से जो ना कसा है ।।
वही है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।१।।
त्रितन पाँच कोषन में जो ना बझा है ।
जो लम्बा न चौड़ा न टेढ़ा सोझा है ।।
नहीं जो स्थावर न जंगम कहावे ।
नहीं जड़ न चेतन की पदवी को पावे ।।
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।२।।
नहीं आदि नहिं मध्य नहिं अन्त जाको ।
नहिं माया के ढक्कन से है पूर्ण ढाको ।।
पुरण ब्रह्म पदवीहु से जो तुलै ना ।
अगुण वा सगुण पदहु जामें लगै ना ।।
जो है परम पुर्ष सबको अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।३।।
सभी में भरा अंश रहता जिसी का ।
परन्तु जो होता न आकृत किसी का ।।
है निर्गुण सगुण ब्रह्म दोउ अंश जाको ।
समता न पाता कोई भी है जाको ।।

जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ॥४॥
ब्रह्म सच्चिदानन्द अरु वासनात्मक ।
मनोमय तथा ज्ञानमय प्राण आत्मक ॥
ओ ओंकार शब्दब्रह्म औ विश्वरूपी ।
ये सप्त ब्रह्म श्रेणी जिसे न पहूँची ॥
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ॥५॥
नहीं जन्म जाको नहीं मृत्यु जाको ।
नहीं दश न चौबीस अवतार जाको ॥
अखिल विश्व में हू जो सब ना समाता ।
अपरा परा पूरि नहिं अन्त पाता ॥
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ॥६॥
नहीं सूर्य सकता जिसे कर प्रकाशित ।
न माया ही सकती जिसे कर मर्यादित ॥
जो मन बुद्धि वाणी सबन को अगोचर ।
बताया हो चुप जिसको वाह्व मुनिवर ॥
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ॥७॥
ज्यों का त्यों ही सदा जो सब के प्रथम से ।
जिसे उपमा देता बने कुछ न हमसे ॥
है जिसके सिवा आदि सब का ही भाई ।
अन आदि एक ही जो ही कहाई ॥
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ॥८॥

॥ मंगल ॥

सृष्टि के पाँच हैं केन्द्रन सज्जन जानिये ।
सब से होते नाद हैं नौबत मानिये ॥१॥

यहि विधि नौबत पाँच बजैं सब राग में ।
परखहिं हरषहिं धसहिं जो अन्तर भाग में ॥२॥
अपरा परा द्वै प्रकृति दुहुन केन्द्र दो अहैं ।
कारण सूक्ष्म स्थूल के केन्द्रन तीन हैं ॥३॥
निर्मल चेतन परा कहिये केवल सोई ।
महाकारण अव्यक्त जड़ात्मक प्रकृति जोई ॥४॥
विकृति प्रथम जो रूप ताहि कारण कहैं ।
'मेँहीँ' परखि तू लेय अपन घट ही महैं ॥५॥

-- :: ० :: --

पाँच नौबत बिरतन्त कहौं सुनि लीजिये ।
भेदी भक्त विचारि सुरत रत कीजिये ॥१॥
स्थूल सूक्ष्म सन्धि विन्दु पर परथम बाजई ।
दूसर कारण सूक्ष्म सन्धि पर नौबत गाजई ॥२॥
जड़ प्रकृति अरु विकृति सन्धि जोइ जानिये ।
महाकारण अरु कारण सन्धि सोइ मानिये ॥३॥
तिसरि नौबत यहि सन्धि पर सब छन बाजती ।
महाकारण कैवल्य की सन्धि विराजती ॥४॥
शुद्ध चेतन जड़ प्रकृति सन्धि यहि है सही ।
यहँ की धुनि को चौथि नौबत हम गुनि कही ॥५॥
निर्मल चेतन केन्द्र और ऊपर अहै ।
परा प्रकृति कर केन्द्र सोइ अस बुधि कहै ॥६॥
अत्यन्त अचरज अनुपम यहँ से बाजती ।
पंचम नौबत 'मेँहीँ' संसृति विसरावती ॥७॥

-- :: ० :: --

खोजो पंथी पंथ तेरे घट भीतरे ।
तू अरु तेरो पीव भी घट ही अन्तरे ॥१॥
पिउ व्यापक सर्वत्र परख आवै नहीं ।
गुरुमुख घट ही माहिं परख पावै सही ॥२॥
तू यात्री पीव घर को चलन जो चाहहू ।
तो घट ही में पंथ निहारु विलम्ब न लावहू ॥३॥

तम प्रकाश अरु शब्द निःशब्द की कोठरी।
चारो कोठरिया अहइ अन्दर घट कोट री ॥४॥
तू उतरि परयो तम माहिं पीव निःशब्द में।
यहि तें परि गयो दूर चलो निःशब्द में ॥५॥
नयन कँवल तम माँझ से पंथहि धारिये।
सुनि धुनि जोति निहारि के पंथ सिधारिये ॥६॥
पाँचो नौबत बजत खिंचत चढ़ि जाइये।
यहि तें भिन्न उपाय न दिल बिच लाइये ॥७॥
सन्तन कर भक्ति भेद अन्तर पथ चालिये।
'मेँहीँ' मेँहीँ धुनि धारि सो पन्थ पधारिये ॥८॥

॥ कजली ॥

(१)

सतगुरु सुख के सागर शुभ गुण आगर ज्ञान उजागर हैं ।टेक॥
अन्तर पथ गामी अति निःकामी अन्तर्यामी हैं।
त्रय गुण पर योगी हरि रस भोगी अति निःसोगी हैं ॥१॥
थिर बुद्धि सुजाना यती सयाना धरि ध्वनि ध्याना हैं।
सो ध्वनि सारा 'मेँहीँ' न्यारा सतगुरु धारे हैं ॥२॥

(२)

प्रभु अकथ अनाम अनामय स्वामी गो गुण प्रकृति परे ।टेक॥
क्षर अक्षर प्रभु पार परमाक्षर जा पद सन्त धरे।
अगुण सगुण पर पुरुष प्रकृति पर सत्त असतहु परे ॥१॥
अनन्त अपारा सार के सारा जा भजि जीव तरे।
'मेँहीँ' कर जोड़े प्रभुहिं निहोरे करु उधार हमरे ॥२॥

(३)

नित प्रति सत्संग कर ले प्यारा, तेरा कार सरै सारा।
सार कार्य को निर्णय करके, धर चेतन धारा ॥१॥
धर चेतन धारा, पिण्ड के पारा, दसम दुआरे का।
जोति जगि जावै अति सुख पावै, शब्द सहारे का ॥२॥
लख बिन्दु नाद तहँ त्रय बन्द दै के सुनो सुनो 'मेँहीँ'।
ब्रह्म नाद का धरो सहारा आपन तन में हीं ॥३॥

(४)

यहि मानुष देह समैया में करु परमेश्वर में प्यार।
कर्म धर्म को जला खाक कर देंगे तुमको तार ।टेक॥
तहँ जाओ जहँ प्रकट मिलें वे तब जानो है स्नेह।
स्नेह बिना नहिं भक्ति होति है कर लो साँचा नेह ॥१॥
स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण कैवल्यहु के पार।
सुष्मन तिल हो पिल तन भीतर होंगे सबसे न्यार ॥२॥
ब्रह्म-ज्योति ब्रह्म-ध्वनि को धरि धरि ले चेतन आधार।
तन में पिल पाँचो तन पारा जा पाओ प्रभु सार ॥३॥
'मेँहीँ' मेँहीँ होइ सकोगे जाओगे वहि पार।
पार गमन ही सार भक्ति है लो यहि हिय में धार ॥४॥

(५)

अद्भुत अन्तर की डगरिया जा पर चल कर प्रभु मिलते ।टेक॥
दाता सतगुरु धन्य धन्य जो राह लखा देते।
चलत पन्थ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते ॥१॥
अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़ भागी सुनते।
सुनत लखत सुख लहत अद्भुती, 'मेँहीँ' प्रभु मिलते ॥२॥

(६)

प्रभु मिलने जो पथ धरि जाते, घट में बतलाये;
सन्तन घट में बतलाये ।टेक॥
प्रेमी भक्तन धर सो मारग, चलो चलो धाये;
सन्तन घट-पथ हो धाये ॥१॥
अन्धकार अरु जोति शब्द, तीनों पट घट के से;
राह यह जावै है ऐसे ॥२॥
जोति नाद का मार्ग बना यह, धरा जाय तिल से;
लो धर यत्न करो दिल से ॥३॥
बाल नोक से मेँहीँ दर 'मेँहीँ' हो पथ पावें;
सन्त जन तामें धँसि धावें ॥४॥

(७)

सुष्मनियाँ में नजरिया थिर होइ, बिन्दु लखी तिल की ।टेक॥

झक-झक जोती जगमग होती, चकमक-चकमक-सी।
मोती हीरा ध्रुव-सा तारा, विद्युत हू चमकी ॥१॥
बरे जोति ध्वनि होति अनाहत, यन्त्र ताल बिन ही।
लखत सुनत स्रुत चलत नेह भरि, नाह-राह थिरकी ॥२॥
मर्मी सज्जन सत्य भक्त सों, अन्तर मग एही।
चलत-चलत ध्वनि सार गहे ले, मेटि जरनि जी की ॥३॥
सार शब्द ही नाह मिलावै, और नहीं कोई।
'मेँहीँ' कही जो सन्तन भाषी, बात नहीं निज की ॥४॥

(८)

जीवो! परम पिता निज चीन्हो, कहते सन्तन हितकारी॥ टेक ॥
द्वैत प्रपंच के सागर बूड़ो, सहो दुक्ख भारी।
तन मन इन्द्रिन संग अजाना, हो होती ख्वारी ॥१॥
गुरु गम से सुष्मन में पैठि के, अन्तर पथ धारी।
ब्रह्म जोति ब्रह्मनाद धार धरि, हो सबसे न्यारी ॥२॥
द्वैत पार तन मन बुधि पारा, ज्ञान होय सारी।
'मेँहीँ' सो पितु चीन्ह में आवैं, दुक्ख टरै भारी ॥३॥

(९)

सूरति दरस करन को जाती, तकती तीसरि तिल खिरकी ॥टेक॥
जोति बिन्दु ध्रुवतार इन्दु लखि, लाल भानु झलकी।
बजत विविध विधि अनहद शोरा, पाँच मण्डलों की ॥१॥
सन्तमते का सार भेद यह, बात कही उनकी।
समझा 'मेँहीँ' लखा नमूना, बात है सत हित की ॥२॥

(१०)

भाई योग हृदय वृत केन्द्र बिन्दु, जो चमचम चमकै ना ॥टेक॥
नजर जोड़ि तकि धँसै ताहि में, धुनि सुनि पावै ना।
सुरत शब्द की करै कमाई, निज घर जावै ना ॥१॥
निज घर में निज प्रभु को पावै, अति हुलसावै ना।
'मेँहीँ' अस गुरु सन्त उक्ति, यम-त्रास मिटावै ना ॥२॥

(११)

मन तुम बसो तीसरो नैना महँ तहँ से चल दीजो रे ॥टेक॥

स्थूल नैन निज धार दृष्टि दोउ सन्मुख जोड़ो रे।
जोड़ि जकड़ि सुष्मन में पैठो गगन उड़ीजो रे ॥१॥
तन संग त्यागि त्यागि उड़ि लीजो धार धरीजो रे।
'मेँहीँ' चेतन जोति शब्द की सो पकड़ीजो रे ॥२॥

(१२)

जहाँ सूक्ष्म नाद ध्वनि आज्ञा आज्ञाचक्र करो डेरा।
द्वार सूक्ष्म सुष्मन तिल खिड़की पील करो पारा ॥१॥
नयन कान दोउ जोड़ि छोड़ि करि मन मानस सकलो।
टुक टिको सामने प्रेम नेम करि अधर डगर धर लो ॥२॥
जगमग जोति होति ध्वनि अनहद गैब का बज बाजा।
ध्वनि सुनि सुनि चढ़ना सत ध्वनि धरना 'मेँहीँ' सर काजा ॥३॥

उपदेश

॥चौपाई ॥

सुनिये सकल जगत के वासी । यह जग नश्वर सकल विनासी ॥१॥
यह जग धूम धाम रे भाई । यह जग जानो छली महाई ॥२॥
सबहिं कहा यहि अगमापाई*। तुम पकड़ा यहि जानि सहाई ॥३॥
मृग तृष्णा जल सम सुख याकी । तुम मृग ललचहु देखि एकाकी ॥४॥
याते भव दुख सहहु महाई । बिनु सतगुरु कहो कौन सहाई ॥५॥
यहि सराइ महँ निज नहीं कोई । सुत पितु मातु नारि किन होई ॥६॥
भाई बन्धु कुटुम परिवारा । राजा रैयत सकल पसारा ॥७॥
सातो स्वर्गहु केर निवासी । दिव्य देव सब अमित विलासी ॥८॥
कोइ न स्थिर सबहिं बटोही । सत्य शान्ति एक स्थिर वोही ॥९॥
शान्ति रूप सर्वेश्वर जानो । शब्दातीत कहि सन्त बखानो ॥१०॥
क्षर अक्षर के पार हैं येहि । सगुण अगुण पर सकल सनेही ॥११॥
अलख अगम अरु नाम अनामा । अनिर्वाच्य सब पर सुख धामा ॥१२॥
ये सब मन पर गुण इनके ही । पड़े महा दुख संशय जेही ॥१३॥
यहि तुम्हरा निज प्रभु रे भाई । जहाँ तहाँ तब सदा सहाई ॥१४॥
इन्ह की भक्ति करो मन लाई । भक्ति भेद सतगुरु से पाई ॥१५॥

* क्षणभंगुर, नाशवान।

सतगुरु इन्ह में अन्तर नहीं । अस प्रतीत धरि रहु गुरु पाहीं ॥१६॥
गुरु सेवा गुरु पूजा करना । अनट बनट कछु मन नहीं धरना ॥१७॥
अनासक्त जग में रहो भाई । दमन करो इन्द्रिन दुःखदाई ॥१८॥
काम क्रोध मद मोह को त्यागो । तृष्णा तजि गुरु भक्ति में लागो ॥१९॥
मन कर सकल कपट अभिमाना । राग द्वेष अवगुण विधि नाना ॥२०॥
रस रस तजो तबहिं कल्याणा । धरि गुरुमत तजि मन मत खाना ॥२१॥
पर त्रिय झूठ नशा अरु हिंसा । चोरी लेकर पाँच गरिंसा ॥२२॥
तजो सकल यह तुम्हरो घाती । भव बंधन कर जबर संघाती ॥२३॥
दारू गाँजा भाँग अफीमा । ताड़ी चण्डू मदक कोकीना ॥२४॥
सहित तम्बाकू नशा हैं जितने । तजन योग्य तजि डारो तितने ॥२५॥
मांस मछलिया भोजन त्यागो । सतगुण खान पान में पागो ॥२६॥
खान पान को प्रथम सम्हारो । तब रस रस सब अवगुण मारो ॥२७॥
नित सतसंगति करो बनाई । अन्दर बाहर द्वै विधि भाई ॥२८॥
धर्म कथा बाहर सत्संगा । अंतर सत्संग ध्यान अभंगा ॥२९॥
नैनन मूँदि ध्यान को साधन । करो होइ दृढ़ बैठि सुखासन ॥३०॥
मानस नाम जाप गुरु केरा । मानस रूप ध्यान उन्हि केरा ॥३१॥
यहि अवलम्ब ध्यान कछु होई । पुनः दृष्टि बल कीजै सोई ॥३२॥
सुखमन विन्दु को धरो दृष्टि से । सुरत छुड़ाओ पिण्ड सृष्टि से ॥३३॥
धर कर विन्दु सुनो अनहद ध्वनि । विविध भाँति की होती पुनि पुनि ॥३४॥
ध्वनि सुनि चढ़ती सुरति जाई । अन्तर पट टूटै दुखदाई ॥३५॥
छाड़ि पिण्ड तम देश महाई । जोति देश ब्रह्माण्ड में जाई ॥३६॥
ध्वनि धरि याहू पार चढ़ाई । सुरत करै अब सुनै अघाई ॥३७॥
राम नाम धुन सतधुन सारा । सार शब्द तेहि सन्त पुकारा ॥३८॥
सो ध्वनि निर्गुण निर्मल चेतन । सुरत गहो तजि चलो अचेतन ॥३९॥
यहु ध्वनि लीन अध्वनि में होई । निर्गुण पद के आगे सोई ॥४०॥
मण्डल शब्द केर छुटि जाई । अधुन अशब्द में जाइ समाई ॥४१॥
अधुन अशब्द सर्वेश्वर कहिये । शान्ति स्वरूप याहि को लहिये ॥४२॥
अस गति होइ सो सन्त कहावै । जीवन मुक्त सो जगहि चेतावै ॥४३॥
सन्त मता कर भेद रे भाई । गाइ गाइ दीन्हा समुझाई ॥४४॥
जो जानै सो करै अभ्यासा । सत चित करि करै जग में वासा ॥४५॥

विरति पन्थ महँ बढ़े सदाई । सत्संग सों करै प्रीति महाई ॥४६॥
तोहि बोधे दृढ़ ज्ञान बताई । तब संशय तव देइ छोड़ाई ॥४७॥
ताको मानो गुरु सप्रीति । सेवो ताहि सन्त की नीती ॥४८॥
गुरु से कपट कछू नहिं राखो । उनके प्रेम अमिय को चाखो ॥४९॥
मीठी बोल बोलियो उनसे । अहंकार से सब कछु विनसे ॥५०॥
सो उनसे कभुँ करियो नाहिं । नहिं तो रहिहौ भव ही माहीं ॥५१॥

दोहा–समय गया फिरता नहीं, झटहिं करो निज काम ।
जो बीता सो बीतिया, अबहु गहो गुरु नाम ॥१॥
सन्तमता बिनु गति नहीं, सुनो सकल दे कान ।
जौं चाहो उद्धार को, बनो सन्त सन्तान ॥२॥
'मेँहीँ' मेँहीँ भेद यह, सन्तमता कर गाइ ।
सबको दियो सुनाई के, अब तू रहे चुपाइ ॥३॥

सन्तमत की बातें

॥ अरिल ॥

सन्तमते की बात कहुँ साधक हित लागी ।
कहुँ अरिल पद जोड़ि, जानी करिहैं बड़ भागी ॥
बातें हैं अनमोल, मोल नहिं एक-एक की ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' कहुँ जो चाहुँ कहन,
सन्त पद सिर निज टेकी ॥१॥

सत्जन सेवन करत, नित्य सत्संगति करना ।
वचन अमिय दे ध्यान, श्रवण करि चित्त में धरना ॥
मनन करत नहिं बोध होइ, तो पुनि समझीजै ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' समझि बोध जो होइ,
रहनि ता सम करि लीजै ॥२॥

करि सत्संग गुरु खोज करिये, चुनिये गुरु सच्चा ।
बिन सद्गुरु का ज्ञान पंथ, सब कच्चहिं कच्चा ॥
कुण्डलिया में कहूँ, सो सद्गुरु कर पहिचाना ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' जौ प्रभु दया सों मिलै,
सेविये तजि अभिमाना ॥३॥

॥ कुण्डलिया ॥

मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त ।
साधन करते नित्त, सत्त चित्त जग में रहते ।
दिन दिन अधिक विराग, प्रेम सत्संग सों करते ॥
दृढ़ ज्ञान समुझाय, बोध दे कुबुधि को हरते ।
संशय दूर बहाय, सन्त मत स्थिर करते ॥
'मेँहीँ' ये गुण धर जोई, गुरु सोई सतचित्त ।
मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त ॥

॥ अरिल ॥

सत्य सोहाता वचन कहिये, चोरी तजि दीजै ।
तजिये नशा व्यभिचार तथा हिंसा नहिं कीजै ॥
निर्मल मन सों ध्यान करिये, गुरु मत अनुसारा ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' कहूँ सो गुरुमत ध्यान,
सुनो दे चित्त सम्हारा ॥४॥
धर गर मस्तक सीध साधि, आसन आसीना ।
बैठि के चखु मुख मूनि, इष्ट मानस जप ध्याना ॥
प्रेम नेम सों करत-करत, मन शुद्ध हो ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' अब आगे को कहूँ,
सुनो दे चित्त सों ॥५॥
जहँ जहँ मन भगि जाइ, ताहि तहँ-तहँ से तत्छन ।
फेरि-फेरि ले आइ, लगाइय ध्येय में आपन ॥
ऐसेहि करि प्रतिहार, धारणा धारण करिके ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' औरो आगे बढ़िय,
चढ़िय धर धारा धरिके ॥६॥
धर धर धर की धार, सार अति चेतना ।
धर धर धर का खेल, जतन करि देखना ॥
धर में सुष्मन घाट, दृष्टि ठहराइ के ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' यहि घाटे चढ़ि जाव,
धराधर धाइ के ॥७॥
तजो पिण्ड चढ़ि जाव, ब्रह्माण्डहिं वीर हो ।

पेलो सुष्मन-दृष्टि, सिस्त ज्यों तीर हो ॥
विन्दु नाद अगुवाइ, तुमहिं ले जायँगे ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' ज्योति मण्डल सह नाद,
की शैर दिखायँगे ॥८॥
ज्योति मण्डल की शैर, झकाझक झाँकिये ।
तिल ढिग जुगनू जोति, टकाटक ताकिये ॥
होत बिज्जु उजियार, नजर थिर ना रहै ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' सुरत काँपती रहै,
ज्योति दृढ़ क्यों गहै ॥९॥
दृष्टि योग अभ्यास अतिहि, करतहि करत ।
कँपनी सहजहि छुटै, प्रौढ़ होवै सुरत ॥
तिल दरवाजा टुटै, नजर के जोर से ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' लगे टकटकी खूब,
जोर बरजोर से ॥१०॥
तीनों बन्द लगाइ देखि, सुनि धरि ध्वनि धारा ।
चलिय शब्द में खिंचत, बजत जो विविध प्रकारा ॥
झिंगुर का झनकार, भँवर गुंजार हो ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' घण्ट शंख शहनाइ,
आदि ध्वनि धार हो ॥११॥
तारा सह ध्वनि धार, टेम दीपक बरै ।
खुले अजब आकाश, अजब चाँदनी भरै ॥
पूर अचरजी चन्द, सहित ध्वनि कस लगे ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' जानै सोई धीर,
वीर साधन पगे ॥१२॥
साधन में पगि जाइ, अतिहि गम्भीर हो ।
या तन सुधि नहीं रहे, धीर वर वीर सो ॥
साँझ भोर दिन रैन कछू जानै नहीं ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' बाहर जड़वत् रहै,
माहिं चेतन सही ॥१३॥
जा सम्मुख या सूर्य, अमित अन्धार है ।

ऐसो सूर्य महान चन्द हद पार है ।।
होत नाद अति घोर शोर को को कहै ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' महा नगाड़ा बजै,
घनहु गरजत रहै ॥१४॥
आगे शून्य समाधि, नाद ही नाद की ।
लहै सन्त का दास, जाहि सुधि आदि की ॥
मीठी मुरली सुनै सुरत के कान से ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' बड़ा कौतुहल होइ,
ध्वनिन के ध्यान से ॥१५॥
सद्गुरु भेदी मिलै सैन, ध्वनि ध्यान बतावै ।
अनुपम बदले नाहिं, शब्द सो सार कहावै ॥
सोहू ध्वनि हो लीन, अध्वनि में जाइके ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' अध्वनि अशब्द अनाम,
सन्त कहैं गाइके ॥१६॥
सार शब्द ध्वनि संग, सुरत हो अकह में लीनी ।
अध्वनि अशब्द अनाम, परम पद गति की भीनी ॥
द्वैत द्वन्द्व सों रहित, सो प्रभु पद पाइके ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' सुरत न लौटइ,
बहुरि न जन्मइ आइके ॥१७॥

॥ भैरवी ॥

योग हृदय वृत केन्द्र-विन्दु सुख-सिन्धु की खिड़की अति न्यारी ।
स्थूल धार खिन्नहु से खिन्नहु जेहि होइ कबहुँ न हो पारी ॥१॥
मन सह चेतन धार सुरत ही केवल पैठ सकै जामें ।
जेहि हो गमनत छुटत पिण्ड ब्रह्माण्ड खण्ड सुधि हो जामें ॥२॥
अपरा परा पर क्षर-अक्षर पर सगुण-अगुण पर जामें हो ।
चलि पहिचानति सुरति परम प्रभु भव दुख टर चलि जामें हो ॥३॥
जामें पैठत सुनिये अनाहत शब्द की खिड़की याते जो ।
ब्रह्मज्योति भी जामें झलकत ज्योति-द्वारहु याते जो ॥४॥
दृष्टि जोड़ि एक नोक बना जो ताकै देखै याको सो ।
'मेँहीँ' अति मेँहीँ ले द्वारा सतगुरु कृपा पात्र हो सो ॥५॥

-- :: ० :: --

योग हृदय में वास ना तन-वास है तो क्या ।
सत् सरल युक्ति पास ना और पास है तो क्या ॥१॥
सद्गुरु कृपा की आस ना और आस है तो क्या ।
करता जो नित अभ्यास ना विश्वास है तो क्या ॥२॥
अन्तर में हो प्रकाश ना बाहर प्रकाश क्या ।
अन्तर्नाद का उपास्य ना दीगर उपास्य क्या ॥३॥
पालन हो सदाचार ना आचार 'मेँहीँ' क्या ।
गुरु हरि चरण में प्रीति ना रूखा विचार क्या ॥४॥

--:: ० :: --

एकविन्दुता दुर्बीन हो दुर्बीन क्या करे ।
पिण्ड में ब्रह्माण्ड दरश हो बाहर में क्या फिरे ॥१॥
सुनना जो अन्तर्नाद हो बाहर में क्या सुने ।
ब्रह्मनाद की अनुभूति हो फिर और क्या गुने ॥२॥
सुरत-शब्द-योग हो और योग क्या करे ।
सहज ही निज काज हो, कटु साज क्या सजे ॥३॥
सद्गुरु कृपा ही प्राप्त हो अप्राप्त क्या रहे ।
'मेँहीँ' गुरु की आस हो, भव-त्रास क्या रहे ॥४॥

॥ सन्तों की आज्ञा ॥

योग हृदय-केन्द्र-विन्दु में युग दृष्टियों को जोड़िकर ।
मन मानसों को मोड़ि सब आशा निराशा छोड़िकर ॥१॥
ब्रह्म-ज्योति ब्रह्म-ध्वनि धार धरि आवरण सारे तोड़िकर ।
सुरत चला प्रभु मिलन को विषयों से मुख को मोड़िकर ॥२॥
झूठ चोरी नशा हिंसा और जारी छोड़िकर ।
गुरु ध्यान अरु सत्संग-सेवन में स्वमति को जोड़िकर ॥३॥
जीवन बिताओ स्वावलम्बी भरम-भाँड़े फोड़िकर ।
सन्तों की आज्ञा हैं ये 'मेँहीँ' माथ धर छल छोड़िकर ॥४॥

-- :: ० :: --

गुरु-हरि-चरण में प्रीति हो युग-काल क्या करे ।
कछुवी की दृष्टि दृष्टि हो जंजाल क्या करे ॥१॥
जग-नाश का विश्वास हो फिर आस क्या करे ।
दृढ़ भजन-धन ही खास हो फिर त्रास क्या करे ॥२॥

वैराग-युत अभ्यास हो निराश क्या करे ।
सत्संग-गढ़ में वास हो भव-पाश क्या करे ॥३॥
त्याग पंच पाप हो फिर पाप क्या करे ।
सत् वरत में दृढ़ आप हो कोइ शाप क्या करे ॥४॥
पूरे गुरू का संग हो अनंग क्या करे ।
'मेँहीँ' जो अनुभव ज्ञान हो अनुमान क्या करे ॥५॥

॥ आरती ॥

(१)

अज अद्वैत पूरण ब्रह्म पर की । आरति कीजै आरतहर की ॥
अखिल विश्व भरपूर अरु न्यारो । कुछ नहिं रंग न रेख अकारो ॥
घट-घट विन्दु विन्दु प्रति पूरन । अति असीम नजदीक न दूर न ॥
वाष्पिय तरल कठिनहु नाहीं । चिन्मय पर अचरज सब ठाहीं ॥
अति अलोल अलौकिक एक सम । नहिं विशेष नहिं होवत कछु कम ॥
नहिं शब्द तेज नहीं अँधियारा । स्वसंवेद्य अक्षर क्षर न्यारा ॥
व्यक्त अव्यक्त कछु कहि नहिं जाई । बुधि अरु तर्क न पहुँचि सकाई ॥
अगम अगाध महिमा अवगाहा । कहन में नाहीं कहिये काहा ॥
करै न कछु कछु होय न ता बिन । सब की सत्ता कहै अनुभव जिन ॥
घट-घट सो प्रभु प्रेम सरूपा । सब को प्रीतम सब को दीपा ॥
सोइ अमृत ततु अछय अकारा । घट-कपाट खोलि पाइये प्यारा ॥
दृष्टि की कुंजी सुष्मन द्वारा । तम-कपाट तीसर तिल तारा ॥
खोलिये चमकि उठे ध्रुव तारा । गगन थाल भरपूर उजेरा ॥
दामिनि मोती झालरि लागी । सजै थाल विरही वैरागी ॥
स्याही सुरख सफेदी रंगा । जरद जंगाली को करि संगा ॥
ये रंग शोभा थाल बढ़ावैं । सतगुरु सेइ-सेइ भक्तन पावैं ॥
अचरज दीप-शिखा की जोती । जगमग-जगमग थाल में होती ॥
असंख्य अलौकिक नखतहु तामें । चन्द औ सूर्य अलौकिक वामें ॥
अस ले थाल बजाइये अनहद । अचरज सार शब्द हो हद-हद ॥
शम-दम धूप करै अति सौरभ । पुष्प-माल हो यम नीयम सभ ॥
अविरल भक्ति की प्रीति प्रसादा । भोग लगाइय अति मर्यादा ॥
प्रभु की आरति या विधि कीजै । स्वसंवेद्य आतम पद लीजै ॥

अकह लोक आतम पद सोई । पहुँचि बहुरि आगमन न होई ॥
सन्तन्ह कीन्हीं आरति एही । करै न पड़ै बहुरि भव 'मेँहीँ' ॥

(२)

आरति परम पुरुष की कीजै । निर्मल थिर चित्त आसन दीजै ॥
तन-मन्दिर महँ हृदय सिंहासन । श्वेत बिन्दु मोति जड़ दीजै ॥
अविरल अटल प्रीति को भोगा । विरह-पात्र भरि आगे कीजै ॥
जत-सत संयम फूलन हारा । अरपि-अरपि प्रभु को अपनीजै ॥
धूप अकाम अरु ब्रह्म हुताशन । तोष धूपची धरी फेरीजै ॥
तारे चन्द्र सूर दीपावलि । अधर-थार भरि आरति कीजै ॥
आतम अनुभव ज्योति कपूरा । मध्य आरती थार सजीजै ॥
अनहद परम गहागह बाजा । सार शब्द ध्वनि सुरत मिलीजै ॥
द्वन्द्व द्वैत भ्रम भेद विडारन । सतगुरु सेइ अस आरति कीजै ॥
'मेँहीँ' मेँहीँ आरति येही । करि-करि तन मन धन अरपीजै ॥

(३)

आरति अगम अपार पुरुष की । मल निर्मल पर पर दुख-सुख की ॥
शीत उष्णादि द्वन्द्व पर प्रभु की । अविनाशी अविगत अज विभु की ॥
मन बुधि चित्त पर पर हंकार की । सर्व व्यापी अरु सब तें न्यार की ॥
रूप गन्ध रस परस तें न्यार की । सगुण अगुण पर पार असार की ॥
त्रय गुण दश इन्द्रिन तें पार की । अमृत ततु प्रभु परम उदार की ॥
पुरुष प्रकृति पर परम दयाल की । ब्रह्म पर पार महा हु काल की ॥
अति अचरज अनुपम ततु सार की । अति अगाध वरणन तें न्यार की ॥
अकह अनाम अकाम सुपति की । जन-त्राता दाता सद्गति की ॥
अखिल विश्व मण्डप करि उर की । पूर्ण भरे ता महँ प्रभु धुर की ॥
दिव्य ज्योति आतम अनुभव की । दिव्य थाल अभ्यास-भजन की ॥
असि आरति 'मेँहीँ' सन्तन की । करि तरि हरिय दुसह दुख तन की ॥

॥ सत्संग-योग, चौथा भाग समाप्त ॥

सहायक पुस्तकें –

१. महर्षि मेँहीँ-जन्मशती अभिनंदन ग्रंथ

२. महर्षि संतसेवी अभिनंदन ग्रंथ

३. शान्ति सन्देश पत्रिका

४. संत-पीयूष-१००वाँ वार्षिक अधिवेशन

५. स्मारिका-१०१वाँ वार्षिक अधिवेशन

६. अपने गुरु की याद में

७. कमलानन्द आत्मकथा

८. पत्राचार

अतिरिक्त–

९. मौखिक वार्तालाप

१०. आपबीती प्रसंग

पुस्तक-प्रणेता एवं संस्मरण भेजनेवाले के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

–कमलानन्द